भारत के महान साधक

तृतीय खण्ड

द्वितीय प्रकाशन, आश्विन, १९८२ ई०

प्रमथनाथ भट्टाचार्य

नव भारत प्रकाशन, दरभंगा

भारत के महान साधक

भारत के महान साधक

तृतीय खंड

प्रमथनाथ भट्टाचार्य

नव भारत प्रकाशन

द्वितीय प्रकाशन
आश्विन–१९८२

अनुवादक : स्व० श्री जगन्नाथ मिश्र
श्री रामनन्दन मिश्र
श्री सुरेन्द्र झा 'सुमन'
प्रो० डा० रमाकान्त पाठक
प्रो० देवीदत्त पोद्दार

प्रकाशक : निर्भय राघव मिश्र
नव भारत प्रकाशन
लहेरियासराय,
दरभंगा (बिहार)

मुद्रक : श्री भगवती प्रेस, मुजफ्फरपुर

प्रच्छद पट : श्री सुप्रकाश सेन

मूल्य—पचीस रुपये

जिनकी महती कृपा से
'भारत के महान साधक'
का प्रकाशन संभव
हो सका
उन्ही महापुरुष
श्री कालीपद गुहाराय के कर-कमलों में
प्रकाशक द्वारा समर्पित

विषय-सूची

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति विभिन्न दिशाओं में समृद्धि होने पर भी मूलतः आध्यात्मिक भित्ति के ऊपर प्रतिष्ठित है, इसमें कोई संदेह नहीं। आधिभौतिक तथा आधिदैविक सभी प्रकार के विज्ञानों की पृष्ठभूमि में स्पष्ट रूप से अध्यात्म-दृष्टि का प्रभाव परिलक्षित होता है। प्राचीन काल से ही इस देश में और सब विभिन्न प्रकार के ज्ञानों की अपेक्षा आत्मज्ञान की ही महिमा विशेष रूप से कीर्तित हुई है और विभिन्न प्रकार के कर्मों में आत्मकर्म का स्थान सर्वोच्च माना गया है। इस देश में अध्यात्म-साधना की जो धारा प्रचलित है और नाना शाखा-प्रशाखाओं में बहती हुई जो समग्र देश को संजीवित रख सकी है, उसका क्रमबद्ध इतिहास अभीतक लिखा नहीं गया है। इस अलिखित इतिहास के पुष्टि-साधन में प्रत्येक साधक के जीवन तथा साधना की इतिवृत्ति का एक महत्व-पूर्ण स्थान है।

अध्यात्म-साधना का श्रेणी विभाग साम्प्रदायिक दृष्टि से और व्यक्तिगत रुचि तथा रागमूलक वैशिष्ट्य के आधार पर भी हो सकता है। दृष्टान्त रूप में यदि वैष्णव साधना को लें तो श्री-सम्प्रदाय, हंस सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय तथा रुद्र सम्प्रदाय के नाम इस प्रसंग में लिये जा सकते हैं। प्रति संम्प्रदाय में भी अवांतर विभाग हैं। प्रति अवांतर विभाग में भी व्यक्तिगत भेद हैं। वैष्णव सम्प्रदाय के सदृश ही शैव और शाक्त सम्प्रदायों की बात भी समझनी चाहिए। वैष्णवादि सम्प्रदाय उपास्य देवतामूलक सम्प्रदायों

के दृष्टांत हैं। इसी प्रकार उपासना के प्रकारगत भेद से भी सम्प्रदायों का भेद हो सकता है, जैसे भक्त सम्प्रदाय, ज्ञानी-सम्प्रदाय योगी-सम्प्रदाय इत्यादि। सम्प्रदायों के अतिरिक्त व्यक्तिगत वैचित्र्य के आधार पर भी साधकों के विभाग हो सकते हैं।

ये हुए बहिरंग विभाग। इसी प्रकार अतरंग विभाग भी हैं। विभागों की संख्या जितनी भी क्यों न हों, उनके मूल में सर्वत्र रुचि वैचित्र्य अथवा योग्यतागत भेद विद्यमान रहते हैं। इसलिए बाहर की दृष्टि से पथ या मार्ग भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि सभी का लक्ष्य एक है—

'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।'

महिम्न स्तोत्रकार ने स्पष्ट ही कहा है कि पथ नाना होने पर भी गम्य एक तथा अभिन्न है।

आपात दृष्टि से प्रतीत हो सकता है कि गम्य भी अलग-अलग है। परन्तु अखंड चिदानंदरूप सत्ता एक से अतिरिक्त हो ही नहीं सकती। उसकी शक्ति भी एक और अभिन्न है। परन्तु एक होने पर भी उसमें अनन्त प्रकार के वैचित्र्य है। एक परा-संवित रूपा महाशक्ति ही अनंत शक्तियों के रूप में आत्म प्रकाश कर रही है। परिछिन्न आत्मा या माया प्रमाता की व्यक्तिगत प्रकृति या स्वभाव के अनुरूप एक ही महालक्ष्य तत् तत् प्रकृतियों के अनुकूल खंड-खंड लक्ष्य के रूप में स्थूलदर्शी व्यक्ति के निकट प्रकाशित होता है जिसके प्रभाव से मालूम पड़ता है कि विभिन्न प्रकृतियों के लोग विभिन्न लक्ष्य की ओर आकृष्ट होते हैं। किंतु वास्तव दृष्टि से यदि देखा जाय तो अवश्य कहना पड़ेगा कि सभी का लक्ष्य एक ही है। कोई शीघ्र तो कोई बिलम्ब से, एक ही परम स्थान में जाकर विश्राम लाभ करेगा। जब तक उस स्थान की प्राप्ति न हो तब-तक किसी में शान्ति नहीं आयगी।

अतएव अनन्त के पथिक, कोई भी क्यों न हों, सभी हमारे

समस्य हैं–जैसा योगी वैसा ही भक्त और वैसे ही ज्ञानी तथा कर्मी भी।

परन्तु इनमें भी प्रकार-वैचित्र्य है जैसे, योग वस्तुतः एक होने पर भी नाना प्रकार का दिखलाई देता है। प्राचीन वैदिक तथा उपनिषद्-युग में विभिन्न प्रकार की योग प्रणालियाँ प्रचलित थीं। बौद्ध तथा जैन भी आत्म-साधना के लिए एक ही प्रणाली का अनुसरण करते थे, ऐसी बात नहीं है। बौद्ध सम्प्रदाय में भी प्राचीन समय में जिस प्रकार की योग शिक्षा का प्रचार था, परवर्ती समय में योगाचारादि सम्प्रदाय में ठीक उसी का अनुसरण होता था ऐसी बात नहीं है। बुद्धघोष का विशुद्ध मार्ग तथा अनिरुद्ध स्थविर का अभिधर्मार्थ संग्रह अच्छे ग्रन्थ हैं, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबन्धु असङ्ग, शान्तिदेव, परिभद्र, तिलोपा, नरोपा प्रभृतियों के उपदेश भी उनसे कम महत्त्व-संपन्न थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैन-सम्प्रदाय में भी तीर्थङ्करों के समय से योग की विभिन्न धाराओं का पता चलता है। इसी प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरक्षनाथ की भी योगधाराएँ एक प्रकार की नहीं है। चौरासी सिद्धों में जिनका परिचय मिल सका है उनमें भी विभिन्न प्रकार-वैचित्र्य रहे, ऐसा मालूम होता है। पतञ्जलि और व्यास की योगधारा से पशुपत योगियों की योगधारा भिन्न है। केवल सिद्धांत में ही नहीं मार्ग में भी भेद है। उसी प्रकार सिद्धान्त शैवों, वीर शैवों तथा अद्वैत शैवों में आगम मूलक ऐक्य होने पर भी साधन धारागत भेद अवश्य हैं। सन्तों में भी ऐसा ही है। उसी प्रकार शाक्त-सम्प्रदाय के इतिहास में भी भेद लक्षित होते हैं। कौलों में उत्तर कौल तथा पूर्व कौल की दृष्टि से भेद हैं। इसके सिवा कुलाचार तथा समया-

चार के भेद से भी शाक्तों में भेद है। उनमें भी कोई क्रमवादी है तो महार्थवादी और कोई स्पन्द मार्गी। अच्छी तरह से सोचने पर पता चलता है कि कोई साधक आणव उपाय का अवलंबन कर साधना करता है, कोई उच्चत्तर अधिकारी साधक शाक्त उपाय का अवलम्बन करके चलते हैं और अत्यन्त सौभाग्यवान् श्रेष्ठ अधिकारी शाम्भव उपाय को अपना लेते हैं। यहाँ भी रूचि तथा योग्यता के तारतम्य मार्ग से गत भेद होता है, परन्तु चरम लक्ष्य सर्वत्र एक ही है इसमें सन्देह नहीं।

भक्तिमार्ग में इसी प्रकार दीख पड़ता है। वस्तुतः पाञ्च-रात्र तथा भागवत-सम्प्रदाय पृथक होने पर भी अपृथक हैं। इसके बाद चतुः सम्प्रदाय में भी असंख्य प्रकार के भेद दृष्ट होते हैं। द्वैत, अद्वैत तथा द्वैताद्वैत की दृष्टि के अनुसार भक्ति का भी प्रकारगत भेद है। महायोगी ज्ञानेश्वर में अद्वैत-भक्ति का परिचय मिलता है। प्राचीन काल में उत्पलाचार्य की शिवस्तोत्रावली में भी अद्वैत भक्ति का निरुपण देखने में आता है। परा-भक्ति, परमा-भक्ति तथा प्रेमलक्षण-भक्ति के भेद से भी भक्ति में वैचित्र्य है। पुष्टि, प्रवाह तथा मर्यादा के आधार पर तथा वैधी और रागमार्गी भेदों के फलस्वरुप भी भक्ति में वैचित्र्य दृष्ट होता है। रागानुगा-भक्ति में विलास तथा उच्छ्वासगत भेद हैं। बाउल, दरवेश तथा सहजिया सम्प्रदायों में भी मार्ग-भेद लक्षित होता है। यही बात भारतीय सूफी-सम्प्रदाय के विषय में लागू है।

इसके अनन्तर भक्ति तथा प्रपत्ति में भी तारतम्य मूलक अवान्तर भेद हैं। किसी की उपेक्षा नहीं हो सकती। जो बात योग तथा भक्ति के विषय में कही गयी है वही बात ज्ञान तथा कर्म-मार्ग में भी समानरुप से प्रयुज्य है। परन्तु इतने भेद तथा वैचित्र्य रहने पर भी भारतीय साधकों का चरम लक्ष्य सर्वत्र एक ही है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं।

'भारत के महान् साधक' नामक ग्रन्थ में इसलिए विभिन्न मार्ग के साधकों के प्रति समरूप से श्रद्धांजलि अर्पित की गई है। और यह देखकर चित्त में बहुत प्रसन्नता होती है, क्योंकि साधकों के प्रति श्रद्धार्पण के विषय में पथ या मार्ग को प्रधान न मानकर लक्ष्य को ही प्रधान मानना चाहिए। कारण, बहिरङ्ग-जीवन मुख्य नहीं है, आन्तर-उपलब्धि ही साधक-जीवन का परम सम्पद् है।

बंग भाषा में लिखित इस अपूर्व ग्रन्थ के ६ खंड कुछ दिनों से बंगीय पाठक-समाज को आलोड़ित कर रहे हैं। देश की वर्त्तमान परिस्थिति में, इस युग-संधि काल में, इस प्रकार के ग्रन्थ के प्रति जनसाधारण की आन्तरिक श्रद्धा देखकर चित्त में प्रसन्नता होती है। भरोसा होता है कि धर्मों के प्रति, जीवन के चरम आदर्श के प्रति, हमारा समाज इस दुर्दिन में भी सम्पूर्ण रूप से श्रद्धा खो नहीं बैठा है।

हमारा देश हमेशा सत्य का आदर करता आया है। सत्य के अनुसन्धान को ही उसने जीवन का महाव्रत मान लिया है और सत्य ही को भगवान का परम स्वरुप माना है। सत्य का आत्म-प्रकाश विभिन्न उपायों से और विभिन्न प्रणालियों से ही हो सकता है, यह हमारा देश जानता है। इसलिए अन्धकारमय जंजाल में भी सत्य की कणिका मात्र देखने पर उस पुंजीकृत जंजाल को हटाकर उस कण मात्र सत्य का वरण कर लेते हैं। इस अनुसंधान-व्यापार में जाति-गत, देशगत, आचारगत तथा कालगत वैषम्य उसके प्रति वन्धक नहीं बन सकते। इससे प्रतीत होता है कि सत्यानुसन्धान यदि क्षुद्र भावनाओं से कलङ्कित न हो तो उसके प्रति सभी की सक्रिय सहानुभूति जागे बिना नहीं रह सकती।

बुद्ध-वंश, गुरु-परम्परा-चरित तथा भक्तमाल प्रभृत्ति बहु ग्रन्थों में साधकों के आख्यान वर्णित दीख पड़ते हैं। दक्षिण भारत

में शैव तथा वैष्णव सन्तों के अलौकिक चरित्र तत् तत् प्रादेशिक भाषाओं में रचित होकर प्रचारित हुए थे, यह इतिहास में प्रसिद्ध है। विभिन्न सम्प्रदायों में प्रायः सर्वत्र न्यूनाधिक चरित्र कथाएँ विद्यमान हैं। असाम्प्रदायिक रूप में भी कहीं-कहीं सन्तों के चरित्र की वर्णना दिखलाई पड़ती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता ने बहुत दिनों के परिश्रम से इन सब चरित्रों का सङ्कलन किया है। इनके मूल उपजीव्य हैं। विभिन्न भाषाओं में विचरित आकर-ग्रन्थ तथा विभिन्न स्थानों में विक्षिप्त तद्विषयक ऐतिह्य। संकलनकर्त्ता ने अपने प्रयोजन के अनुसार तथ्य संग्रह किया है और साधारण पाठक के लिए बोधगम्य प्राञ्जल भाषा में उसका प्रकाशन किया है।

यह साधक चरितमाला विभिन्न खण्डों में प्रकाशित होगी। प्रति खण्ड में मूल ग्रन्थ के चुनाव तथा क्रम का अनुसरण नहीं किया गया है। प्रथम खण्ड में वर्त्तमान युग की साधक-मण्डली से सात व्यक्तियों के वृतान्त प्रकाशित हुए हैं; जिनमें दो हैं काशी के— तैलङ्ग स्वामी और श्यामाचरण लाहिड़ी; एक हैं गोरखपुर के बाबा गंभीरनाथ; और एक हैं बंगदेश के वामाक्षेपा। सभी ख्याति-सम्पन्न थे और थे साधन मार्ग के अत्युच्च शिखर पर आरुढ़। प्रायः सब की सिद्धपुरुष के नाम से प्रसिद्धि भी हुई थी। इनमें तैलंग स्वामी, श्यामाचरण लाहिड़ी तथा गंभीरनाथ योगी थे। वामाक्षेपा तांत्रिक और भक्त थे, शंकराचार्य्य जी ज्ञानी थे। ये विभाग लौकिक दृष्टि के ही अनुसार समझने चाहिए। मैं आशा करता हूँ कि हिन्दी-भाषी भक्त-पाठक-समाज इस महान् ग्रन्थ से समुचित लाभ उठायेगा।

वाराणसी
१-२-६४

महामहोपाध्याय
डा० गोपीनाथ कविराज

प्रकाशकीय

'भारत के महान साधक' के मूल लेखक स्व० श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य लेखक, साधक तथा अन्वेषक तीनों एक साथ थे। इन्होंने लगातार १५ वर्षों का बहुमूल्य समय महापुरुषों की जीवनियों के संग्रह में लगाया।

बंगला भाषा में इस ग्रन्थ का अपूर्व स्वागत हुआ है। यह पुस्तक इस काल की एक महान् कृति मानी जाने लगी है। बंगला भाषा में इस ग्रन्थ के लेखक स्व० श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य अपने उपनाम शंकरनाथ राय के नाम से विख्यात हैं।

सारे देश के सब क्षेत्रों के महानुभावों से हमें हर तरह की सहायता मिली है। उनकी सहायता के बिना इसका प्रकाशन कभी संभव नहीं होता। उनका नाम गिनाकर—दो-चार पंक्तियों में उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। इस अवसर पर उन महानुभावों के प्रति हम अपनी आंतरिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

हिन्दी के विज्ञ, सत्यान्वेषी एवं धर्मानुरागी पाठकों के समक्ष यह ग्रंथ उपस्थित है। इसकी महत्ता और उपयोगिता का निर्णय उन्हें ही करना है।

लहेरियासराय
१९८२

निर्भय राघव मिश्र
प्रकाशक

गौतम बुद्ध

गौतम बुद्ध

कोई छब्बीस सौ वर्ष पहले की कथा है। भारतवर्ष के धर्म और सामाजिक जीवन के घोर दुर्दिन का यह समय था। वेद-उपनिषदों के परम तत्व को लोग भूल गये थे और धीरे-धीरे ज्ञान-साधना की धारा क्षीणतर हो चली थी। ब्राह्मण-धर्म की पहले की-सी समृद्धि, पहले की-सी महिमा अब नहीं रह गई; वाह्याडंबर धर्माचरण का सर्वस्व बन गया और उसमें निष्प्राणता आ गई।

समाज के दो भागों में दो विपरीत दृश्य दिखाई पड़ते हैं। उच्च वर्ग के लोग भोग-लालसा में मत्त हैं। याग-यज्ञ और वैदिक कर्मकाण्ड में वे इहलोक और परलोक की सुख-समृद्धि को ढूँढ़ते फिरते हैं। दूसरी ओर शिक्षा-दीक्षाहीन निम्न वर्ग के लोग भय और कुसंस्कार के दामन में मुँह छिपाये बैठे हैं। देश में सर्वत्र व्यभिचार, लोभ और हिंसा-द्वेष के कलुष पुंजीभूत हैं।

इसी संकट की घड़ी में एक धर्मविप्लव प्रकट होता है और धर्मविप्लव के तरंग-शिखर पर आविर्भूत होते हैं महामानव गौतम बुद्ध।

जनचेतना के सम्मुख मानवों के उद्धारक के रूप में मैत्री और सम्बोधि का पूर्ण कलश हाथ में लेकर आ खड़े होते हैं। तापत्रय से क्लिष्ट जिस मानव का दुःख एक दिन उन्हें गृहत्यागी बना देता है, उसीके द्वार पर वे हाथ में भिक्षापात्र लिये अब फिरने लगे हैं। उन दिनों के धर्म-विप्लव के पुरोभाग में अपने को, अपनी श्रेष्ठ व्यक्ति-सत्ता को वे रख देते हैं और

उनका त्यागपावन जीवन शुचिशुभ्र चरित्र, दिव्योज्ज्वल रूप और अमोघ व्यक्तित्व उस युग में एक देशव्यापी इन्द्रजाल की सृष्टि कर देता है।

उसके इस करुणाघन महाप्रकाश को लक्ष-लक्ष नर-नारी चकित दृष्टि से देखते हैं। प्रभु बुद्ध को वे अपने परित्राता के रूप में ग्रहण करते हैं।

जनजीवन के स्तर-स्तर में भिक्षुओं के दल भगवान बुद्ध ने छोड़ दिये हैं और गेरुआ वस्त्र पहने, भिक्षा-जीवियों की परिकर-गोष्ठियाँ सामाजिक जीवन में त्याग-दीप्त जीवन की महिमा जगा रही हैं।

केवल भारत के ही दिग्-दिगंतर में नहीं, विश्व के दूर-दूरांतर में भी बुद्ध की वाणी फैल जाती है। उनकी धर्म-पताका तिब्बत-चीन-जापान से लेकर सिंहल, वर्मा और जावा तक फहरा रही है। इस ऐतिहासिक धर्म-विजय के द्वारा प्राचीन भारत विश्व-विजय का गौरव प्राप्त करता है।

संपूर्ण मानव-जाति के निमित्त भगवान बुद्ध जो श्रेष्ठ अवदान रख जाते हैं, वह है उनका धर्म। वे अहिंसा, शुचिता और कामना-हीन साधना की धारा को नया रूप देकर प्रवाहित करते हैं। अष्टाङ्ग-साधना से होकर जो निर्वाण, जो पराशांति प्राप्त होती है, उसे वे जन-मानस के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार जाति और वर्ण से पृथक् सब किसी के लिए साधना और सिद्धि का द्वार खुल जाता है।

बुद्ध के द्वारा प्रचलित धर्म वेदों का अनुगमन एकबारगी स्वीकृति नहीं करता। सांख्यवादियों की तरह ईश्वर के सम्बन्ध में भी वह चुप है। फिर भी इस वेदधारी ईश्वरवादी देश का मनुष्य उन दिनों उस महापुरुष की नवीन धर्मदेशना के आगे हाथ जोड़े खड़ा रहता है।

बुद्ध, संघ और धर्म--बौद्धधर्म के सार्थकतम रूप की यह त्रयी प्रकट होती है। इस रूप की अलौकिक छटा बौद्ध-धर्म को विश्ववंद्य बना देती है। बुद्ध मानव के इतिहास में त्याग के अन्यतम नियन्ता के रूप में, युग पुरुष के रूप में कीर्तित होते हैं।

हिमालय के सानुदेश में, आधुनिक नेपाल से दक्षिण कपिलवस्तु नाम

की नगरी थी। गौतम गोत्र के शाक्यवंश के क्षत्रियगण वहाँ बसे थे। इनके ही गोष्ठीपति थे राजा शुद्धोदन।

शाक्यों का यह छोटा-सा खण्डराज्य वैशाली राज्य के अधीन होता हुआ भी * कार्यतः स्वाधीन था। राज्य का रकबा बहुत बड़ा नहीं था। जनसंख्या भी दस लाख से अधिक नहीं रही होगी। किन्तु सुख, शान्ति और प्राचुर्य की जैसे वहाँ सीमा नहीं थी। शाल--सागवान की वनानी से घिरी वहाँ की चौरस भूमि बड़ी उपजाऊ थी। उस समय कपिलवस्तु की शस्यश्यामला समृद्धि पड़ोसी राज्यों के लिए ईर्ष्या का विषय बनी हुई थी।

राजा शुद्धोदन धर्मात्मा और न्यायपरायण के रूप में विश्रुत थे। अपने लोगों में उनकी मान और मर्यादा असामान्य थी। इन शुद्धोदन के पुत्र के रूप में ही गौतम बुद्ध जन्म ग्रहण करते हैं।

ईस्वी सन् से ५६४ वर्ष पहले की वैशाखी पूर्णिमा। सहचरी-गण के साथ शुद्धोदन की रानी माया देवी उस दिन लुम्बिनी वन की ओर निकल

---

* आधुनिक गवेषणाओं से सिद्ध हुआ है कि शुद्धोदन का राज्य कौशल के सार्वभौम राजा के अधीन था। राजा बिम्बिसार के एक प्रश्न के उत्तर में स्वयं गौतम बुद्ध ने कहा था—"हे राजन्, हिमालय के समीप एक ऐश्वर्य-शालिनी, पराक्रमी कोशलवासी जाति रहती है। यह आदित्यगोत्रीय शाक्य जाति है। उसी कुल में जन्म ग्रहण कर मैंने भोगवासना का त्यागकर प्रव्रज्या ग्रहण की है।

दीर्घनिकाय सूत्त ४२२—२३

फिर वशिष्ठ नाम के एक ब्राह्मण को भी बुद्ध स्पष्टतः कहते हैं—"हे वशिष्ठ, शाक्यों के राजा कोशलराज प्रसेनजित् के अनुयुक्त हैं! शाक्यों के राजा प्रसेनजित् कोशल की अधीनता स्वीकारते, उनका अभिबादन करते, उन्हें देख खड़े हो जाते, हाथ जोड़कर नमस्कार करते तथा स्वस्ति-वन्दनादि करते हैं।

दीर्घ-निकाय, अग्गञ्ञ सूत्त (८)

आई। सहेलियों के नृत्य-गान और कलगुञ्जन से वातावरण गूँज उठा। रोहिणी नदी की धारा का कल-कल नाद सामने से नाचकर गुजर रहा है। उसके वक्ष पर वैशाखी पूर्णिमा की चाँदनी पुलकोच्छ्वास जगाती लौट रही है।

रानी थी गर्भवती। उस पूर्णिमा रात्रि को शुभ लग्न में उन्होंने एक पुत्र सन्तान का प्रसव किया।

दिव्यकान्ति से ओतप्रोत, अनिंद्य-सुन्दर था वह नवजात शिशु। इस शिशु का आविर्भाव केवल पुरनारियों में ही नहीं, सम्पूर्ण कपिलवस्तु में उल्लास की बाढ़ ले आया।

शाक्य शुद्धोदन प्रौढत्व प्राप्त कर चुके हैं। अर्से से उन्हें खेद था— दोनों रानियों, माया और प्रजावती में से किसी के संतान नहीं थी। इस पुत्र-संतान के आगमन से वे आनंद-विह्वल हो उठे। अब उनकी समस्त कामनाएँ सिद्ध हो गई थीं, अतः नवजात शिशु का नाम रक्खा गया सिद्धार्थ। गौतम गोत्र में उत्पन्न होने के कारण, कालांतर में यह राजकुमार गौतम नाम से भी पुकारे जाने लगे।

राजा की आज्ञा से ज्योतिषियों का दल लुम्बिनी उद्यान में समवेत हुआ। नवजात के भाग्य की उन्हें गणना करनी थी।

गणना के उपरांत सभी ने कहा—"शाक्य-कुलपति, आपका कुमार एक असाधारण पुरुष होगा। रह गई संसार-त्याग के योग की बात। सो, यदि ये कभी घर छोड़कर चल देंगे, तो किसी शक्तिशाली धर्म का प्रवर्त्तन ही होगा। और यदि सांसारिक जीवन में निरत रहा तो यह शिशु राज-चक्रवर्त्ती के रूप में कीर्त्तित होगा।"

किन्तु आनंद-मुखर कपिलवस्तु में शीघ्र ही एक अशुभ घटना हुई। शिशु-जन्म के सातवें दिन जननी माया देवी का देहान्त हो गया।

शोकाकुल राजा चिन्ता करने लगे। नवजात शिशु का पालन कौन करेगा, बच्चे का दायित्व कौन लेगा?

राजमहिषी गौतमी उस दिन आप ही आ गईं। शिशु को गोद में सानंद लेकर बोलीं, "महाराज, आप सोच मत करें। आज से सिद्धार्थ का पालन मैं करूँगी, मैं ही हूँगी आज से इसकी माँ।"

पिता के हृदय से एक भारी बोझा उतर गया। विमाता के आंतरिक स्नेह और यत्न से सिद्धार्थ बड़े हो चले।

शिशु को गोद में लिये शुद्धोदन उस दिन राजपुरी में बैठे थे। इसी समय जटाजूट-समन्वित एक संन्यासी उपस्थित हुए। ये हिमालय की किसी निर्जन कंदरा में तपस्या कर रहे हैं। असित मुनि के नाम से इन्हें लोग जानते हैं, जनसमाज में ये शक्तिधर योगी के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

राजा ने मुनि को पाँव धोने के लिए जल दिया और निकट में बिठाया। किन्तु मुनि जब से आये हैं तब से एकटक केवल सिद्धार्थ को देख रहे हैं। उनकी आँखों के सामने कैसा अनूठा बालक है यह? मनुष्य देह में ऐसे दिव्य लक्षण तो प्रायः देखे नहीं जाते! नीरव निश्चल संन्यासी के कपोल पर पुलकाश्रु बहते जा रहे हैं।

गद्‌गद् स्वर में बोल उठे, "महाराज, आप सचमुच बड़े भाग्यवान् हैं। आपके इस पुत्र की देह में ईश्वर-प्रेरित पुरुष के दुर्लभ लक्षण दिखाई दे रहे हैं। ये विराट् धर्मचक्र का प्रवर्त्तन कर कालांतर में चिरस्मरणीय होंगे।"

असित मुनि राज-प्रासाद से बाहर हुए। किन्तु राजा शुद्धोदन को महापुरुष ने यह कैसी भविष्यवाणी आज सुनाई? शुद्धोदन का सिद्धार्थ, उनकी आँखों का तारा, क्या सच ही, एक दिन घरबार छोड़कर चला जायगा? शिशु को छाती में वे चिपका लेते हैं, अज्ञात आशंका से उनका हृदय बार-बार काँप उठता है।

कुमार की शिक्षा का भार पड़ता है अभिज्ञ आचार्य विश्वामित्र पर। पढ़ाई का काम चल पड़ता है। जिस अद्‌भुत शीघ्रता से बहुतर विद्या को बालक आयत्त करता जा रहा है, उससे उसकी प्रतिभा और मेधा का अनुमान कर गुरु के विस्मय की सीमा नहीं है।
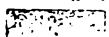
किशोर सिद्धार्थ जन-समूह में नहीं खपते, राजपुरी के आमोद-प्रमोद से दूर अपने औदासीन्य के एकान्त में वे प्रसन्न रहते हैं। राजन्य वर्ग के परिवेश में वे अपने जीवन का सुर नहीं मिला पाते।

अपने क्षात्र धर्मी परिवार में जैसे वे एक व्यतिक्रम हो रहे हों। भावुकता और कोमलता से उनका हृदय ओतप्रोत है। मनुष्य के किंवा किसी वन्य-पशु-पक्षी के दुःख से संवेदना और करुणा के मारे उनकी छाती फट-सी पड़ती है।

उस दिन उपवन में वे अकेले बैठे थे। अचानक एक शर-बिद्ध पक्षी उनके चरण प्रान्त में आ गिरा। थोड़ी देर तक असहाय भाव हो पंख फड़फड़ा कर पक्षी निश्चेष्ट हो गया। घाव की जगह से खून बहा जा रहा था।

कुमार का हृदय करुणा से विगलित हो गया। हाय! इस असहाय प्राणी को किसने इतना निर्मम होकर घायल कर दिया है? बड़े कौशल से उन्होंने पक्षी के शरीर से बाण को निकाल दिया, और उस प्राणी को कलेजे से लगा लिया। झरने के जल-जैसी बहती रक्तधारा थम गई। घाव पर स्निग्ध प्रलेप लगा दिया गया है।

अब चिड़िये ने आँखें खोलीं। सिद्धार्थ की आँखों में जैसी तृप्ति की मुसकान खिल आई। ठीक है, अब डर नहीं है। अब बेचारा पक्षी बच जायगा।

इसी समय अचानक सिद्धार्थ का क्रीड़ा सहचर देवदत्त वहाँ आकर उपस्थित हो गया। पक्षी जब उसके बाण से बिद्ध होकर गिरा है तो उस पर उसी का हक होना चाहिए। किन्तु सिद्धार्थ प्राण रहते, पक्षी को छोड़ नहीं सकते, छोड़ेंगे कैसे? इस जीव को उन्होंने बचाया जो है।

दृढ़ स्वर में उन्होंने बताया, "देवदत्त, यह पक्षी तुम्हें नहीं मिलेगा। जाने भी दो, तुम्हीं बोलो न इसके ऊपर प्रकृत अधिकार किसका होगा? बाण के प्रहार से वध करनेवाले का या छाती से लगाकर जीवित कर देनेवाले का?

देवदत्त जैसा दुर्दान्त था वैसा ही उद्धत। वह अपना दावा इस तरह क्योंकर छोड़ता। पक्षी पर न्यायतः किसका अधिकार होगा, इसका

निर्धारण करना होगा। इस प्रकार विचार कर, उस दिन, वे दोनों राज पुरोहित के निकट उपस्थित हुए। कहना न होगा कि प्राणदाता के दावे की जीत रही।

उन दिनों कपिलवस्तु में हल जोतने का उत्सव मनाया जाता था। शाक्य गण की जो संपन्नता थी उसके मूल में थी धान्य की प्रचुरता। गोष्ठीपति शुद्धोदन के नाम से ही यह स्पष्ट है। शुद्ध ओदन या पवित्र धान्य वे ग्रहण करते, इसीलिए शुद्धोदन नाम पड़ा। इस हलोत्सव के अवसर पर शाक्य-वंश की समग्र सन्तान खेत में आकर एकत्र हुआ करती।

राजा शुद्धोदन ने स्वयं हल चलाकर अनुष्ठान का प्रारंभ किया। रंग-विरंगी वेश-भूषा में सज्जित होकर सभी खान-पान राग-रंग में मस्त हैं। किन्तु इस समय कुमार सिद्धार्थ कहाँ हैं? उत्सव-क्षेत्र में तो वे दिखाई नहीं दे रहे!

बहुत खोजबीन के बाद कुमार को किसी तरह ढूँढ़ निकाला गया। पास ही में एक घना जंगल है, उसी के एक हिस्से में वे ध्यानतन्मय होकर बैठे हैं।

उत्सव की भीड़ से पिण्ड छुड़ाकर, जामुन के एक पेड़ के नीचे भावुक किशोर बैठे हुए हैं। इसके बाद, पता नहीं किस समय उनका मन चिन्मय लोक में पहुँच गया। लोगों के बार-बार पुकारने के फलस्वरूप अब कहीं उनका ध्यान टूटा और वाह्यज्ञान लौट आया।

लेकिन यह कैसी अद्भुत बात है! कुमार जिस वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यानाविष्ट हुए थे, उसकी छाया कुमार की ध्यानाविष्ट देह को छोड़कर हट नहीं रही है। आमात्य-गण चकित होकर कानाफूसी कर रहे हैं—

व्यावृत्ते तिमिरनुदस्य मण्डलेऽपि
व्योमाभं शुभवराग्रलक्षणधरम्।
ध्यायन्तं गिरिमिव निश्चलं नरेन्द्रपुत्रं
सिद्धार्थं न जहाति सैव वृक्षच्छाया।

(ललितविस्तर—११ अ)

अर्थात् तुमलोग क्या देख रहे हो? बोलो तो। नरेन्द्रपुत्र सिद्धार्थ अचल, अटल और ध्यानमग्न होकर यहाँ बैठे हुए हैं। सूर्य के डूबते समय आकाश की जैसी शोभा होती है, इनके मुखमण्डल पर वैसी ही शोभा, वैसी ही ज्योति उद्भासित हो रही है। इनके सर्वांग शरीर से परम शुभ लक्षण प्रकट हो रहे हैं। और देख रहे हो? वेला यहाँ तक ढल आई, किंतु वृक्ष की छाया इनके शरीर पर से हटकर दूर नहीं जा रही है, साथ लगी है।

सिद्धार्थ के किशोर-जीवन के वातायन से होकर प्रतिदिन कोई-न-कोई, सूक्ष्म, अतीद्रिय-लोक की आलोकच्छटा इसी प्रकार झांक जाया करती है। उनके मर्मस्थल में किसी की प्रेरणा अचानक जग उठती है और जन्मजन्मान्तर के अध्यात्म—संस्कार उग आते हैं।

कुमार ने अब यौवन में पदार्पण किया है। किन्तु उन्हें सब कुछ फीका और उच्छिष्ट लगता है। राजमहल के आनन्दोत्सवों से वे मागे-भागे फिरते हैं, अपने को अपनी गंभीरता में मग्न किये रहते हैं। संसार के प्रति वितृष्णा उनमें दिन-दिन बढ़ी चली जा रही है।

अन्तरात्मा के तल प्रदेश से, जब-तब किसी का अस्फुट संकेत अचानक स्पष्ट हो आता है। वैराग्य के झोंके उन्हें उन्मन, अधीर किये दे रहे हैं।

राजवैभव और विलास-व्यसन में उन्हें कहीं भी तृप्ति नहीं मिल पाती। चारों ओर दुःख और शोक की काली छाया एवं जटिल मोह-बन्धन-जाल उन्हें दिखाई देते हैं।

शुद्धोदन यह जानकर शंकित और चिन्ताकुल हो उठते हैं। पुत्र के प्रति उनका मनोभाव अद्भुत है। साथ-साथ उन्हें याद हो आती है, पुत्र के जन्म-समय ज्योतिषियों द्वारा की गई गणना और महात्मा असित मुनि की भविष्यद्वाणी।

समय रहते उदासीन तरुण पुत्र को यदि संसार में जकड़ कर नहीं रक्खा गया, तो विपत्ति नहीं टलेगी। सो शुद्धोदन ने यह सूचना पुत्र को दी, कि इस बार उन्हें विवाह करना होगा।

विषय-विरक्त कुमार के मन में चिन्ता की लहरें उठती हैं। ऐहिक जीवन के भोग में, कामनाओं की चरितार्थता में, वह परम शान्ति कहाँ मिलेगी, जिसके लिए उनका चित्त चिर-उन्मुख है? उस शान्ति की खोज में न जाकर, वे इस मिथ्या-माया के बन्धन को स्वीकार करेंगे तो क्यों?

फिर मन में विचार आया, कमल तो कीचड़ में ही खिलता है। अपने में कितना रस-रंग भरकर वह मुसका उठता है। जल की सतह पर उसके दल के दल लग आते हैं और मानव इसके सौरभ और सौन्दर्य से आप्यायित होता है। संसार की कीचड़ में रहकर, काश, मैं उसी प्रकार बोधिसत्त्व हो सकूँ! समाज के परिवेश में रहकर भी मनुष्य अमृत का पथ प्राप्त करता है। पहले के साधकों ने अपने जीवन के दृष्टान्त से ऐसा स्पष्ट किया है। पत्नी, पुत्र, कन्या के साथ वे संसार में निवास कर गये हैं, फिर भी उनमें आसक्ति कभी नहीं हुई, न वे पथभ्रष्ट हुए। उन्हीं लोगों का अनुसरण कर मैं विवाह करूँगा। ऐसा करने से पिता संतुष्ट होंगे, संसार का कुछ कल्याण भी कर पाऊँगा।'

(ललित विस्तर—१२ अ)

सिद्धार्थ विवाह के लिए राजी हो गये, अभिमत पात्री के चुनाव में भी देर न लगी। कोलिय वंश के विशिष्ट नागरिक दण्डपाणि की कन्या यशोधरा परम सुलक्षणा, परम रूपलावण्यवती थी। उस कन्यारत्न को अति आदर के साथ वरण कर, वधू के रूप में, घर लाया गया।

इस विवाह की आनन्द-स्मृति कपिलवस्तु के नरनारी दीर्घकाल तक भूल नहीं सके।

रूप-लावण्य की दृष्टि से यशोधरा शाक्य-ललनाओं में अतुलनीया थीं, सभी गुणों से संपन्ना। पति सिद्धार्थ के जीवन में उन्होंने प्रेम की धारा बहाई।

दाम्पत्य जीवन के आनन्द, राजपुत्रों के ऐश्वर्य और विलास-व्यसन के बीच होकर वर्ष के बाद वर्ष बीतने लगे।

जीवन के उत्तरकाल में अपने भिक्षु शिष्य को बुद्ध अपने इन दिनों की स्मृति-कथा कहा करते। बौद्ध शास्त्र-ग्रंथों में इसके अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। बुद्ध ने कहा है—"हे भिक्षुगण, बचपन में मैं बड़ा सुकुमार था। पिता के गृह में मेरे लिए अनेक सरोवर खोदे गये थे। उन सरोवरों का जल तरह-तरह के कमलों से सुशोभित था, और ये फूल विविध यत्नों से, मेरे ही निमित्त, खिलाये जाते थे।

'हे भिक्षुगण, काशी का चन्दन छोड़कर और कोई चन्दन मैं व्यवहार नहीं करता था। मेरे वेष्टन, कंचुक, निवासन, उत्तरासंग प्रभृति सभी विलास-वस्त्र काशी के ही बने रहते। गर्मी या जाड़ा, धूल या तृण या पाला मुझे कभी छू नहीं पाता था।

'हे भिक्षुगण, उन दिनों मेरे लिए तीन हर्म्य बनाये गये—एक हेमन्त के हेतु, एक ग्रीष्म की खातिर और एक बरसात के लिए। हे भिक्षुगण, बरसात के महल में चातुर्मास्य पर्य्यन्त तूर्य्यवादिनी तरुणियाँ मुझे घेरे रहतीं। उस समय मैं महल छोड़कर नीचे नहीं उतर सकता। और लोगों के घर में जब नौकर-चाकर विड़ंग-मिश्रित कनाजक (टूटे चावल का भात) पाते थे तब मेरे पिता के दासदासीगण शालिमांसोदन (शालि चावल का भात और मांस) सानंद भोजन करते।'

[अंगुत्तर निकाय, देवदूतवग्ग, ३-३८-१, मज्झिम १५]"

किन्तु सांसारिक जीवन की यह सम्पन्नता, भोग-विलास के ये सभी उपकरण सिद्धार्थ के लिए हो जाते हैं तुच्छ, निरर्थक। अन्तर सत्ता को बार-बार चिन्ता का तरंगाभिघात लगता है। यह यौवन, धन-मान का यह गौरव तो दो-दिनों का है। इनसे होकर कभी चिरन्तन शान्ति नहीं आ सकती।

प्रच्छन्न वैराग्य की धारा बीच-बीच में उफन आती है, जन्म-जन्मान्तर की सात्विक धृति जग उठती है।

दिनानुदिन सिद्धार्थ मनुष्य शरीर के परिणाम का लक्ष्य करते हैं। जरा, वार्धक्य, व्याधि और मृत्यु के आघात जीवन-पात्र को निर्मम भाव से जर्जर कर देते हैं। इनसे बचाव कहाँ? इस दुःख, इस अशांति के मोचन का उपाय कहाँ? जीवन का अमृत पथ कहाँ है?

तीव्र मानसिक द्वन्द्व के बीच होकर उन्हें आलोक-संकेत, परम पथ का संधान दिखाई देता। इस समय की मानसिक अवस्था के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा है, "जाति-धर्म (धर्म प्रभृति) के अधीन होकर जब जाति-धर्म की दुर्गति को समझता हूँ तब अजात, अनुत्तर योगक्षेम रूप निर्वाण को ढूँढना होगा। व्याधि-धर्म के अधीन होकर जब व्याधि-धर्म का क्लेश भोगता हूँ तब अव्याधि अनुत्तर योगक्षेमरूप निर्वाण का संधान करना ही पड़ेगा। जब मरण धर्म के अधीन होकर मरणधर्म के परिणाम देख पाता हूँ, तो अमृत, अनुत्तर योगक्षेमरूप निर्वाण का अन्वेषण करना ही होगा।"

(मज्झिम निकाय, अरिय परियेसना सुत्त)

ये भाव केवल जागरण में ही नहीं निद्रा में भी तरंगित होते। गहरी रात में नींद खुल जाती, शय्या पर जाग बैठते। कानों में दूरश्रुत अस्पष्ट आह्वान सुनाई पड़ता। पता नहीं, अतीन्द्रिय लोक के आवरण से कौन अपने प्रेरणामय स्पर्श से उन्हें चकित कर जाता है।

विवाहित जीवन का यह दसवाँ वर्ष था। इसी वर्ष एक दिन उनका पुत्र-संतान राहुल पैदा हुआ। राज-अन्तःपुर और सम्पूर्ण कपिलवस्तु पुत्र-जन्मोत्सव के कोलाहल में डूब गया।

किन्तु सिद्धार्थ के मन में स्वस्ति नहीं। जीवन के वृहत्तम प्रश्न के सामने वे आज आ गये हैं। अन्तर के अन्तस्तल में त्याग-वैराग्य की जो पुकार अबतक बारम्बार सुनाई देती थी वह इस बार स्पष्टतर हो उठती है। नवजात पुत्र उनके जीवन में नवीन बंधन बनकर उपस्थित है। इस बंधन को स्वीकृत कर लेने पर मुक्ति की खोज में वे किस तरह निकल पावेंगे?

निर्णय हुआ, वे संन्यास ग्रहण करेंगे। जरा-व्याधि-मृत्यु के उस पार जो परम अमृत का पथ है, उसे ही ढूँढने की खातिर आज वे दृढ़प्रतिज्ञ हैं। उनका यह अभियान यदि सार्थक होगा, अमृत निर्वाण अधिगत होगा, तो वे अपने उस अर्जित धन को विश्वमानव के कल्याण के निमित्त दिगदिगन्तर में विकीर्ण कर देंगे।

स्वाभाविक सरलता और सत्य की टेक लेकर सिद्धार्थ पैदा हुए थे, इसलिये गृहत्याग के संकल्प को छिपाना उनके लिए उस दिन संभव नहीं हुआ।[1] एकांत में बैठकर पत्नी को उन्होंने उस दिन अपने मन की बात बताई।

यह तो अनभ्र वज्रपात हुआ? प्राणप्रिय पति के बिना यशोधरा किस प्रकार जीवित रहेंगी? उनकी दोनों आँखों को डुबोकर रुदन का प्लावन उमड़ पड़ा।

वहिरंग जीवन के अन्तराल में सिद्धार्थ का वैरागी मन अनमना रहा करता, यह पतिप्राण स्त्री से छिपा न था। पर उसके मन में जो संदेह जगा था, क्या आज वह सत्य होकर रहेगा?

अपने संकल्प की कथा पिता से कहने में भी उस दिन सिद्धार्थ को हिचकिचाहट नहीं हुई। ललितविस्तर ग्रंथ में इस वृत्तान्त का एक मर्मस्पर्शी विवरण आया है। कुमार की मति गति की कथा शुद्धोदन को मालूम थी। इसीलिए संसार के बंधन में उन्हें फँसाकर रखने के लिए उन्होंने अपनी

---

१. बुद्ध ने किसी को कहे विना चुपचाप कपिलवस्तु की राजपुरी का त्याग किया था इस मान्यता का कोई आधार नहीं था। मज्झिम निकाय ग्रंथ में उल्लेख है, भिक्षुशिष्यगण के प्रति वे कहते हैं, "यद्यपि माता-पिता विरोधी थे, यद्यपि वे अश्रुसिक्त होकर क्रंदन कर रहे थे, तथापि मैंने बाल और मूछें काट डालीं, काषाय वस्त्र से देह आच्छादन कर, गृहत्याग कर अगृही रूप से प्रव्रज्या का अवलंबन किया।"

चेष्टा में अब तक कोई त्रुटि नहीं की थी। आज उन्हें जान पड़ा कि तकदीर ही फूटी है।

आँसू-भरी आँखों से पुत्र की ओर देखते हुए वृद्ध राजा ने कहा, "धन-जन से पूर्ण मेरे संसार में दुःख नाम की कोई वस्तु नहीं है। तुम्हारे आनंद के विधान में भी मैंने अपने जानते कोई त्रुटि नहीं रहने दी है। तब तुम, इस प्रकार मेरा हृदय विदीर्ण कर दूर क्यों हो रहे हो? बोलो, तुम और क्या चाहते हो? मैं तुम्हें वह दूँगा।"

प्रशान्त कण्ठ से, हाथ जोड़कर सिद्धार्थ ने कहा, "पिताजी, मनुष्य के दुःख और अशान्ति ने मेरे जीवन में निर्वेद उत्पन्न कर दिया है। उस दुःख का मोचन करना ही मेरे जीवन का व्रत है। आप क्या जरा-व्याधि-मृत्यु पार करने का पथ मुझे बता सकेंगे? यदि ऐसा कर सकें तो, आप की आज्ञा मानकर मैं आजीवन कपिलवस्तु में ही निवास करूँगा।"

समझते देर नहीं लगी कि पुत्र को रोक रखना अब वश की बात नहीं है। शुद्धोदन की दोनों आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी।

सिद्धार्थ ने निवेदन किया, "पिताजी, यदि जरा-व्याधि-मृत्यु पार करने का पथ मुझे नहीं बता सकते हैं, तो मेरे गृहत्याग में बाधा नहीं डालें। यह आपका बड़ा ही शुभ दिन है, जब आपका पुत्र मानव के दुःख का अन्त करने का व्रत लेनेवाला है।"

चेष्टा बहुत की गई, किन्तु कुमार को अपने संकल्प से डिगाया नहीं जा सका। कातर अनुनय से बाध्य होकर, उस दिन पिता को, पुत्र के अभीष्ट लाभ की आशीर्वाणी देनी ही पड़ी।

गृहत्याग करना निश्चित हो गया। स्वजन-परिजन को यह बात जना दी गई है। किन्तु निर्दिष्ट दिन की बात सिद्धार्थ ने गुप्त रक्खी है। विदा-वेला के शोकाश्रु और मर्मविदारी आर्तनाद के दृश्य से दूर रहना चाहते हैं।

गुमसुम दोपहरी रात। समग्र आकाश-लोक आषाढ़ी पूनो की चाँदनी में

चकचक कर उठा है। उत्सव-आनंद की समाप्ति के बाद राज महल मानो ऊँघ रहा है। संसार-त्याग का परम लग्न आज उपस्थित है, और अधिक विलम्ब तो अब किया न जा सकेगा। सिद्धार्थ अभी जगे ही थे। वे पत्नी के पर्यंक की ओर धीरे-धीरे आगे बढ़े।

प्रेयसी यशोधरा सो रही थीं। उनकी छाती से सटा सो रहा था नव-जात पुत्र राहुल। खिड़की से होकर चाँदनी छिटक रही थी। आकाश की ज्योत्सना के साथ पृथ्वी की सुन्दरता मिल गई थी। किन्तु सिद्धार्थ को अब समय तो है नहीं। मर्त्य-सुलभ मोह उन्हें सदा के लिए छोड़ देना है। जाने से पहले पुत्र का मुख देख लेना भर चाहते हैं।

यशोधरा की गोरी, सुडौल बाँह बच्चे के मुखमण्डल के एक हिस्से को ढँक रही है। सिद्धार्थ की इच्छा हुई, बाँह को एक ओर हटाकर राहुल को अच्छी तरह देख लूँ। किन्तु डर हुआ, यदि यशोधरा जग जाय तो? मन की इच्छा मन में ही दबा कर कमरे से बाहर निकले।

विश्वासी भृत्य छन्दक को पहले ही कह दिया गया था, पूर्व संकेत के अनुसार प्रिय अश्व कण्ठक को सजा कर वह ले आया। सिद्धार्थ ने सदा के लिए कपिलवस्तु का त्याग किया।

रात भर चलकर दोनों अनोमा नदी के किनारे पहुँचे। अकिंचन परिव्राजक के वेश में, चिर अज्ञात पथ पर सिद्धार्थ की यात्रा अब शुरू होगी।

अनुप्रिय नामक स्थान से उन्होंने छन्दक को विदा किया। प्रिय भृत्य के आँसू से रास्ते की जमीन भींग गई, शोकाकुल चित्त से वह कपिलवस्तु को लौटा। आज भी, बौद्धशास्त्र में, वह अश्रु धौत स्थान छन्दक-निवत्तन के नाम से चिह्नित होकर रह गया है।

सिद्धार्थ की मंजिल शुरू में वैशाली ठहरी। लिच्छवी क्षत्रियों के द्वारा शासित इस नगर की समृद्धि की प्रसिद्धि उस समय चारों ओर फैली थी। धर्म-प्रचार या ज्ञान-विज्ञान की आलोचना, सभी कुछ का प्रधान

केंद्र अभी यही नगरी थी। यहाँ सभी धर्माचार्यों और दार्शनिकों का आना-जाना लगा रहता था। सिद्धार्थ सबसे पहले यहीं उपस्थित हुए।

कोलाम गोत्रीय ब्राह्मण, आचार्य आलाड़ वैशाली के विशिष्ट धर्म नेता थे। सौ-सौ शिष्यों से घिरे रहनेवाले इस प्रवीण साधक की ख्याति-प्रतिपत्ति की, उन दिनों कोई सीमा नहीं थी।

कुछ दिनों तक इनके निकट रहकर सिद्धार्थ साधन-प्रणाली सीखते रहे। ध्यान की प्रक्रिया एक-एक कर इनके आयत्त हो गई। किन्तु मुमुक्षु-जीवन की तीव्र प्यास क्या मिट सकी? परम मुक्ति का वह पथ कहाँ है, जिसके लिए सर्वस्व का त्याग करते इन्हें रञ्चमात्र मोह नहीं हुआ? पता चल गया, यहाँ उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा। अतः आचार्य आलाड़ के पास से विदा लेकर मगध की राह में उन्होंने पाँव बढ़ाया।

राजगृह में उस समय बिम्बिसार की राजधानी थी। इस महानगरी के निकट, पाण्डव पहाड़ की कन्दरा में सिद्धार्थ ने अपनी साधना शुरू की। बीच-बीच में भिक्षा के निमित्त उन्हें नगर में आना पड़ता, दिव्य-कान्तिवाले तरुण श्रमण को देखकर सड़क पर भीड़ जमा हो जाती।

उस दिन सम्राट् बिम्बिसार टहलने के लिए बाहर निकले थे, सहसा सिद्धार्थ के देवदुर्लभ रूप पर उनकी दृष्टि पड़ी। देह की कनकोज्ज्वल कान्ति, दीर्घायत डील-डौल, प्रशस्त वक्षस्थल। घुँघराले बालों में तेल नहीं डाला गया था, फिर भी अनोखी छटा थी। फैली चढ़ी, भौंहों और आयत आँखों में अद्भुत आकर्षण था। सम्राट् अकचका उठे। तेज पुंज कलेवर वाला यह नवीन संन्यासी आखिर है कौन ?

समादर-पूर्वक उन्हें लिवा ले गये। बोले "भदन्त, इस सुकुमार शरीर को आप कठोर संन्यास-व्रत और कृच्छ्र-साधना में क्यों लगा रहे हैं? खैर, यहाँ रहकर भी तो आपका साधन-भजन चल सकता है, और हमलोगों को भी सेवा-परिचर्या का सुयोग मिलेगा।"

सिद्धार्थ ने मुसकान के साथ उत्तर दिया, "सम्राट्, जिस परम वस्तु

को प्राप्त करने के निमित्त राज्य और घर-संसार को छोड़कर आया हूँ उसे प्राप्त किये बिना, समय क्योंकर व्यतीत होगा ? हाँ, इतना कह देता हूँ कि आपका यह स्नेहपूर्ण आमन्त्रण नहीं भूलूँगा। मुझे लगता है कि निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् आपके साथ मेरा साक्षात्कार होगा।"

साधना के जीवन में सिद्धार्थ की निमग्नता असाधारण थी। वे गंभीर ध्यान में किस तरह तल्लीन हो जाया करते थे, इस प्रसंग को लेकर 'महापरिनिब्बान' सूत्त' में एक एक मनोज्ञ विवरण मिलता है।

बुद्ध उन दिनों आतुमा नामक नगर में टिके हुए थे। एक दिन ध्यानाविष्ट रहने के समय वहाँ बहुत कुछ घटित हो गया। किन्तु इसका उन्हें कोई पता नहीं। होश में आने पर देखा, उनके चारों ओर चकित जनता की भीड़ उमड़ आई है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं—

"एक सज्जन से पूछा, यहाँ इतनी बड़ी भीड़ कैसी है—?"

"उत्तर मिला, 'कुछ देर पहले घनघोर वर्षा हुई थी, वज्रपात भी हुआ था। वज्रपात के कारण दो किसान और उनके चार बैल विनष्ट हो गये। ये लोग इसी दुर्घटना के कारण यहाँ आए हैं।"

"उत्तर देनेवाले ने पलटकर जिज्ञासा की, हे भदन्त, आप इतनी देर तक क्या कर रहे थे ?"

"मैंने उत्तर दिया, 'आयुष्मन्, मैं यह सब देख ही नहीं सका'।'

"क्या, सो गये थे ?"

"नहीं, सोया तो नहीं था।"

"होश में थे न ?"

"हाँ, बेहोश भी नहीं था।"

"हे भदन्त, तो आप होश में भी थे और जगे भी थे ? फिर भी घोर वर्षा, वज्रपात, और मनुष्य एवं बैलों की मृत्यु, इनमें से कुछ भी आप देख-सुन नहीं सके ?"

"आयुष्मन्, तुम ठीक ही कह रहे हो।"

शक्तिमान् आचार्य रुद्रक की उन दिनों चारों ओर ख्याति थी। नाना तीर्थों और जनपदों का भ्रमण करके इस समय आप राजगृह आये हुए हैं। सिद्धार्थ उनके पास श्रद्धापूर्वक उपस्थित हुए।

कितना अपूर्व प्रियदर्शन है यह नवीन शिक्षार्थी ! आचार्य उनकी दिव्य कान्ति को निर्निमेष दृष्टि से देखते ही रह गये। समझने में देर नहीं लगी कि इस मोक्षकामी साधक के जीवन में सुदृढ़ संकल्प और त्याग-वैराग्य ओत-प्रोत है। चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के पहले रुकनेवाला यह व्यक्ति नहीं है। वे उन्हें अकृपण भाव से शास्त्र और साधन-तत्व का निर्देश-दान करने लगे।

किन्तु गौतम का उद्देश्य तो इस मार्ग से सिद्ध नहीं होने का ! निर्वाण के जिस परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने घर से बाहर की राह पकड़ी, दुष्कर तपस्या की, उसका पता उन्हें आज तक नहीं मिल पाया। निदान उन्हें आचार्य रुद्रक का आश्रम भी छोड़ना ही पड़ा।

इसबार पाण्डव पहाड़ की निभृत कन्दरा में कठोरतर तपस्या शुरू हुई। सिद्धि-प्राप्ति के परम आग्रह में उनकी सम्पूर्ण सत्ता एकबार फिर उफन आई। एकनिष्ठ साधना और आत्मविश्वास पर निर्भर होकर अपने गतिवेग में वे अग्रसर हो चले।

इस समय तक आचार्य रुद्रक के पाँच शिष्य सिद्धार्थ के प्रति आकृष्ट हो गये थे। चकित होकर उन्होंने देख लिया था कि नवीन शिक्षार्थी के आये बहुत कम दिन बीते थे, पर उतने ही समय में उसने आचार्य रुद्रक की शिक्षा और साधना को आयत्त कर लिया था। प्रतिभाधर साधक इतने से तृप्त नहीं होकर, अपूर्व आत्मविश्वास के साथ इसबार सत्यान्वेषण में स्वतः प्रवृत्त हुए हैं, यह समझते उन्हें देर नहीं लगी। एक अजान आकर्षण से अभिभूत होकर इन लोगों ने उनका आश्रय ग्रहण कर लिया।

इसके बाद तपस्या करने के लिए सिद्धार्थ गया अंचल में उपस्थित हुए। पूर्वोक्त पाँच अनुगामी साधक उनके साथ-साथ चले आये थे।

पवित्र नैरञ्जना नदी का तट, निभृत अरुविल्व वन, उस स्थान के वातावरण में अपूर्व प्रशान्ति विराज रही थी। साथियों के समेत मुमुक्षु साधक ने यहाँ आसन लगाया। सम्बोधि-लाभ के पथ में यह उनका चरम अभियान था।

कुछ दिनों से वे केवल यही सोचते रहे 'सूखी लकड़ी को परस्पर घिसे बिना आग नहीं जल सकती। फिर कृच्छ्रसाधन और देहनिग्रह के द्वारा शरीर को सुखाकर शुद्ध किये बिना दूसरा उपाय भी क्या है? देह-भाण्ड में ज्ञानाग्नि और कैसे प्रज्ज्वलित हो? सो इसबार, वैरागी साधक ने कृच्छ्र-साधना के पथ को अन्ततः चुन लिया है।

तीव्र साधना के बीच से होकर लगभग छः वर्ष व्यतीत हो गये। उनके अनावृत्त शरीर के ऊपर से शीत-ग्रीष्म की प्रचण्डता गुजरती रही है। अल्प भोजन और अनशन के कारण शरीर अस्थिचर्मविशिष्ट होकर विकृत बन गया है। गाय चराने वाले लड़के उन्हें मानवेतर वनचर जीव समझकर डरते हैं। उन्हें तिकाकर वे कभी-कभी दूर से ढेले-पत्थर फेंकने से भी नहीं चूकते।

इस काल के तपस्वी-जीवन की कहानी बाद में वे शिष्यों को कहते हैं; 'इस समय मैं बहुत ही थोड़ा खाता। दिनभर में एक बेर अथवा थोड़ासा तिल-चावल मुँह में डालता। धीरे-धीरे शरीर इस प्रकार सूख गया कि मेरे बैठने की जगह में ऊँट के पदचिह्न जैसी निशान बन जाती थी। आँखें इस तरह धँस गई थीं, जैसे कुएँ में चमकता हुआ पानी। पेट छूने पर हाथ में पीठ की रीढ़ ठेक जाती थी। देह पर हाथ फेरने से मुझे रोंगटे झड़कर गिर पड़ते थे।'

तपस्वी जीवन के अनल्प बाधा-विघ्न उन्हें डिगाने में समर्थ नहीं हो सके। ऐहिक प्रलोभनों, संस्कारों और कामाधिपति 'मार' के उपद्रवों—सभी कुछ को झेलकर अमितविक्रम वीर साधक अग्रसर होते रहे। शरीर-निग्रह के किसी भी पथ को इस साधना-काल में

सिद्धार्थ ने अपरीक्षित नहीं रहने दिया। लगातार निष्पेषण के परिणाम-स्वरूप अन्ततः उनका शरीर भग्नावस्था में पहुँच गया।

चरम दुर्बलता के परिणामस्वरूप एक दिन वे अचानक बेहोश हो गये, बीच जंगल में उनकी देह मृतक की तरह पड़ी रही। इसी बीच दैवयोग से एक बालक कहीं से आकर उस स्थान में उपस्थित हुआ। उसने सिद्धार्थ को थोड़ा-सा दूध पिलाया, सेवा-परिचर्या की, जिस-तिस तरह उनकी जान बची।

इसबार सिद्धार्थ गहराई में उतरकर सोचने के लिए बैठ गये। छह वर्षों तक परम कृच्छ्र-साधन करते रहे, किन्तु प्रार्थित परम वस्तु निर्वाण तो उन्हें अभी तक प्राप्त नहीं हुआ।

तपस्या की कठोरता छोड़कर इसबार मध्यपथ ग्रहण किया। देहधारण के लिए जितना न्यूनतम भोजन और पेय पदार्थ आवश्यक जान पड़ा, उतना ग्रहण करने लगे। साधना अव्याहतभाव से चलती रही।

साथियों के बीच, कठोर तपश्चर्या ने उनकी धाक बढ़ा दी थी। भोजन-पान प्रारंभ कर देने पर वह धाक एकबारगी उठ गई। उनलोगों को जान पड़ा कि पहले का-सा हठ-संकल्प, त्याग और वैराग्य अब गौतम में नहीं रह गया है। ये अब भोगलिप्त हो चले हैं। सभी साथी स्थान छोड़कर चले गये।

एक दिन नैरञ्जना नदी में स्नान से निबटकर सिद्धार्थ एक पेड़ के तले ध्यानस्थ हो गये। ग्रामवधू सुजाता इसी समय वहाँ आई। उनके हाथों में पूजा की सामग्री और परमान्न की थाल थी। अपनी मनस्कामना की सिद्धि के लिए वह वनदेवता की पूजा करने आई है।

सिद्धार्थ नीरव निःस्पन्द होकर ध्यान कर रहे हैं, उन्हें किसी भी तरह का वाह्यज्ञान नहीं है।

इस दिव्यमूर्त्ति के दर्शन से सुजाता ठिठक कर खड़ी हो गयी। तपस्या से कृश शरीर वाले श्रमण राख से ढँकी वह्नि की तरह लग रहे थे। ऐसा

जान पड़ा कि वह जिस वनदेवता की पूजा करने आई है, उसी का मूर्त्त विग्रह सामने है।

पूजा के फूल, चन्दन और परमान्न की थाल उसने सिद्धार्थ के सम्मुख डाल दी, और श्रद्धा समेत उनका समर्पण निवेदित किया। साध्वी पल्ली-बाला के ऊपर उस दिन महासाधक के प्रसन्न आशीर्वाद की झड़ी लग गई।

सिद्धार्थ के बुद्धत्व-लाभ के पहले और बाद तक उनके आहार की व्यवस्था सुजाता के लिए नियमित दैनिक व्रत बन गई। कठोर-तपा श्रमण की टूटी सेहत को दुरुस्त करने में उसकी खीर ने इस समय बड़ी मदद पहुँचायी बौद्ध साहित्य में, इसीलिए इस भक्तिमती सुजाता की प्रशस्ति की कोई सीमा नहीं है।

वन के मध्य भाग में सुस्थ शरीर और प्रशान्त चित्त से बैठकर सिद्धार्थ इसबार ध्यान और समाधि के एक-एक स्तर का अतिक्रम करते चले। इसके पश्चात् पेड़ के तले आसनबद्ध होकर उन्होंने चिर-प्रार्थित तत्वज्ञान का लाभ किया। वे बोल उठे—'अनुत्तरं योगक्षेमं निर्वाणं अज्झगमं'—अर्थात् अनुत्तर कामादि योग से अतीत निर्वाण को मैंने प्राप्त कर लिया है। सम्बोधि के उदित होते समय उनसे समग्र सत्ता ज्योतिर्मय हो उठी। साधक अब तथागत हो गये। जिस मार्ग से चलकर निर्वाण की परम अवस्था प्राप्त होती है, उस पथ पर अब वे पहुँच चुके हैं। अब वे बुद्ध हैं—आप्तकाम महातापस बोधि अर्थात् परम ज्ञान को करायत्त कर चुकने वाले।

उस दिन वे जंगल में एकाकी विचरण कर रहे थे। इसी समय दो सौदागर दक्षिण देश से होकर दुर्गम अरण्य-पथ से स्वदेश को लौटे। नाम थे तपुसस् और भल्लिक। साथ में असबाब से लदी गाड़ियाँ थीं और अनुचर दल थे। अचानक सौदागर की गाड़ियों के चक्के कीचड़ में फँस गये। घोर जंगल में आफत आई। सभी हताश हो रहे थे। बुद्ध के निर्देश और सहायता से अचल गाड़ियाँ सचल हुईं।

सौदागरों का मन विस्मय से भर गया। इस घोर वन में सुन्दर-सुडौल शरीरवाला कल्याणकामी तापस ! आखिर ये हैं कौन ? श्रद्धा से विनत होकर उन्होंने चरण छुये।

उनके द्वारा दिया गया भोजन ग्रहण करने के बाद बुद्ध ने उन्हें धर्मोपदेश दान से कृतार्थ किया।

बौद्ध शास्त्रों में ये दोनों बड़भागी वणिक अपने सौभाग्य के लिए प्रशंसित हुए हैं। कारण, सम्बोधि प्राप्त महासाधक के प्रथम उपदेश उन्हें प्राप्त हुए।

बोधिवृक्ष के तले बैठकर सिद्धार्थ अब विचार करने लगे। सत्य का जो आलोक उनके जीवन को उद्भासित कर रहा है, जन—कल्याण के निमित्त क्या उसे वितीर्ण करना होगा ? मानव के दुःख की निवृत्ति के लिए क्या उस ज्ञान का उपयोग करना होगा ?

किन्तु इस काम में कठिनाई भी तो कम नहीं थी। उनके नवतर जीवन-दर्शन को अधःपतित समाज स्वीकार कैसे करे ? नव-उद्भावित साधन-प्रणाली क्या वे सरलता से ग्रहण करेंगे ?

मन में विपरीत दिशा से झोंका आया। जन-कल्याण के पीछे अब फिर पड़ने की जरूरत क्या है ? निर्वाण की शान्ति और आनन्द के रस में डूबकर निज की सार्थकता क्यों नहीं प्राप्त की जाय ?

यह किस ढंग की बात हुई ? जीवन का महज अपने लिए उपयोग तो वाञ्छनीय नहीं है ! जरा-व्याधि-मृत्यु-कवलित मनुष्य के दुःखमोचन के लिए ही तो वे घर छोड़ आये हैं। आज जिस नई मंजिल को उन्होंने ढूँढ़ लिया है, जिस शाश्वत शान्ति का आविष्कार किया है, त्रितापक्लिष्ट मानव-जाति को वे उससे वंचित करेंगे ? संकल्प धीरे-धीरे स्थिर हुआ; उपलब्ध सत्य का वे सर्वत्र प्रचार करेंगे।

वाराणसी उस समय धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों का प्राणकेन्द्र थी। बुद्ध ने निश्चय किया कि वहीं से प्रचार-कार्य का आरम्भ करेंगे। नगर से थोड़ी ही दूर पर ऋषि-पत्तन था, वहाँ अनेक साधु-संन्यासी निवास करते और साधन-भजन में निरत रहा करते, यहीं के अन्यतम वन मृगदाव में उन्होंने आसन लगाया। बाद को यह स्थान सारनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जिन साधकों ने अरुविल्व में बुद्ध का साथ छोड़ दिया था, उन्हें भोग लिप्त समझकर उनसे अलग हो गये थे, वे सब उस समय वहीं रहकर साधना कर रहे थे। अपने साधनैश्वर्य के साथ कृपालु बुद्ध सर्व प्रथम उन्हीं के सामने जाकर खड़े हुए।

उनके अंग-अंग से उस समय आत्मप्रत्यय की व्यञ्जना छिटक रही थी, आंखों में और मुख में संबोधिप्राप्त साधक की स्वर्गीय दीप्ति और प्रशान्ति थी। साथ छोड़नेवाले साधुओं की भ्रान्ति दर्शनमात्र से टूट गई। उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी कि साधक सिद्धार्थ अब ठीक ही आप्तकाम हो चुके हैं। सभी ने मिलकर उनका चरणाश्रय ग्रहण किया।

नूतन तत्त्व को बुद्ध के उपदेश रूप में सर्वप्रथम धारण और वाहन करनेवाले इन श्रमणों के नाम थे—कौण्डिन्य, भद्रजित्, वप्पा, महानाम और अश्वजित्।

बुद्ध ने उनलोगों को चिताकर कहा, "हे भिक्षुगण', परिव्राजकसम्मत साधना की दोनों सीमाओं का परित्याग किये चलो। ये दोनों अन्त हैं क्या? प्रथम, हीन, ग्राम्य, इतरजनभोग्य अनार्ष, अनर्थ-संयुक्त ईप्सित वस्तुओं का उपभोग। द्वितीय, दुःखमय, अनार्ष अनर्थ-संयुक्त देह-निर्यातन। इन दो अतिपथों का अतिक्रम करके तथागत ने मध्यमार्ग का आविष्कार किया है। इस मार्ग में दृष्टिलाभ होता है, ज्ञानलाभ होता है, प्राण प्रशान्त होते हैं—अभिज्ञा, सम्बोधि और निर्वाण प्राप्त किये जा सकते हैं।

"हे भिक्षुगण, तथागत ने जिस मध्यमपथ का आविष्कार किया है, वह कौन-सा पथ है ? वह पथ है आर्ष अष्टांगिक मार्ग—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।"

मृगदाव को केन्द्र बनाकर प्रचारकार्य शुरू हो गया।

वाराणसी के एक प्रतिपत्तिशाली सेठ का बेटा था 'यश'। विलास-व्यसन और ऐश्वर्य के बीच पलने से क्या होता है, त्याग-वैराग्य की सहजात धृति प्राप्त करने के निमित्त ही जैसे उनका जन्म हुआ था। समृद्ध गृह के समस्त वित्त-वैभव और आकर्षण को दोनों हाथों से टालकर एक दिन उन्होंने बुद्ध के चरणों में आत्मसमर्पण किया। शनैः शनैः उनके परिजन और बन्धु-बान्धव-गण भी इस महान् आचार्य की शरण में उपस्थित हुए।

इसके बाद बुद्ध अरुबिल्व और राजगृह को चले। तरुण आचार्य की आँखों में सम्बोधि की ज्योति थी, और कण्ठ में परम आश्वास की वाणी। औरों के साथ-साथ सम्राट् बिम्बिसार ने भी उस दिन उनके चरणों में अपना साष्टांग निवेदित किया।

सम्राट् के आनुगत्य और सहयोग ने बुद्ध के धर्म-प्रचार को बहुत बल दिया। उनका धर्मप्रचार दिनानुदिन व्यापक हो चला।

एक वर्ष तक वेणुवन में रहकर बुद्ध अनेक मुमुक्षुओं को उपदेश प्रदान करते रहे।

काश्यप मगध के एक सुप्रसिद्ध दार्शनिक पंडित थे। बुद्ध की धर्मदेशना और वाणी उनके हृदय में एक अलौकिक स्पर्श का पुलक उत्पन्न कर देती है, इस महापुरुष की छत्रछाया में वे आकर खड़े हो जाते हैं। आचार्य संजय के शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन भी इसी समय बुद्ध का आश्रय ग्रहण करते हैं। नवधर्म के प्रचार में इन दोनों का योगदान आगे चलकर अविस्मरणीय हो गया।

प्रचार और परिव्राजन के पथ में जन्म-स्थान कपिलवस्तु को भी अपवाद नहीं रहने दिया गया। मुण्डितकेश, चीवर-परिहित 'श्रमण गौतम' हाथ में भिक्षापात्र लेकर राजपथ में चल पड़े हैं। साथ में घनिष्ठ परिचरों का दल चल रहा है।

राजपुरी में समाचार पहुँचा। अस्तव्यस्त शुद्धोदन पुत्र के सामने आकर खड़े हो गये। अश्रु गद्गद कण्ठ से बोले, "पुत्र तुम शाक्यकुल के युवराज हो। तुम्हारा यह कैसा विचित्र आचरण है? राजपुत्र के हाथों में यह भिक्षा-पात्र कैसा?"

बुद्ध ने प्रशान्त स्वर में उत्तर दिया, "पितः, यह कोई नई बात नहीं है। यही तो हमारा कुलधर्म है।"

"भिक्षावृत्ति को कुलधर्म बतानेवाला कपिलवस्तु का वह कौन राजकुमार है, बता सकते हो?"

"पहले युगों के बुद्धगण ही मेरे पूर्व पुरुष हैं, पिताजी। उनके द्वारा गृहीत संन्यास और भिक्षावृत्ति का पथ मैंने अवलम्बन किया है। यही है हमारा सच्चा कुलधर्म।"

प्रसन्न मधुर हास्य के साथ पुत्र ने उत्तर दिया किन्तु उत्तर सुनकर पिता से आँसुओं को रोकते नहीं बना।

अब सिद्धार्थ घर को लौट आये हैं, कठोर तपस्या के अन्त में सिद्धमनोरथ होकर वे लौटे हैं। शुद्धोदन के अन्तःपुर में आनन्द कलरव उमड़ पड़ा है।

राजमहिषी गौतमी के उल्लास की आज हद नहीं। परम स्नेह के साथ वे गौतम और उनके शिष्यों को जिमाने बैठीं। अन्तःपुर के लोग चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये।

किन्तु मिलन और आनन्द की इस घड़ी में यशोधरा कहाँ है?

वह एकाकिनी नीरव कक्ष में गुमसुम बैठी है। पुरनारियों ने जाकर कहा, "अरी शीघ्र आ, उनके दर्शन कर ले, प्रणाम निवेदित कर आ।"

यशोधरा नहीं उठी, वैठी रह गई। आज उसके हृदय में अभिमान की तरंगें उत्ताल होकर उठ रही हैं। आँखों के आँसू पोंछकर केवल इतना कह सकी—"स्वामी के लिये यदि मेरा कुछ मूल्य होगा तो वे स्वयम् ही मेरे पास आवेंगे। आने पर मैं प्रणाम निवेदित करूँगी।"

बुद्ध को यह बात बताई गई। उत्तर में उन्होंने कहा, "ऐसा कहने में राहुल की माता का कोई दोष नहीं है। वे अपनी इच्छा के अनुरूप ही प्रणाम निवेदित कर सकेंगी।"

इसके वाद धीर चरणों से वे यशोधरा के पास चले। उनके पास एक ओर पिता शुद्धोदन थे और दूसरी ओर अन्तरंग शिष्य सारि-पुत्र और मौद्-गल्यायन थे।

स्वामी—प्राणेश्वर आज आकर कक्ष के द्वार पर खड़े हैं। सर्वत्यागी भिक्षु के वेश में दिव्य आनन्द की ज्योति से उनका आनन भास्वर है। किन्तु यशोधरा के सामने वह मनुष्य कहाँ है? स्वामी तो उसके सामने देव मानव-रूप में लौटे हैं। लौकिक जीवन के सुख-दुःख से ओतप्रोत वह मनुष्य, प्रेम-ममता से भरा हुआ वह पुरुष कहाँ है? यह तो कोई निस्तरंग दुरवगाह सागर-पुरुष है!

अब और देर तक धैर्य धारण करते उससे नहीं बना। वह उन्मादिनी की तरह लपककर स्वामी के चरणों में लोटने लगी। दोनों आँखों से अविराम अश्रुधारा बह चली।

थोड़ा-थोड़ा आत्मसंवरण के बाद देखा—शुद्धोदन, सारिपुत्र और मौद्-गल्यायन भी खड़े हैं। वह कक्ष के कपाट-पार्श्व में सरक गई।

पुत्र के गृहत्याग के बाद पुत्रवधू के चलते शुद्धोदन को कोई कम दुःख नहीं झेलना पड़ा था। खेद के साथ उन्होंने जतलाया, सिद्धार्थ के गृहत्याग के बाद

यशोधरा ने केशकलाप मुण्डित करा लिया और दीनवेश तथा भूमिशय्या ग्रहण की।

बुद्ध ने प्रशान्त कण्ठ से कहा, "पिताजी, इसमें अचरज की कौन-सी बात है ? राहुल की माता का आचरण उनके अनुरूप ही है।"

तब बुद्ध से विरह-विधुरा पत्नी की उपेक्षा करते न बनी। अपने द्वारा उपलब्ध सत्य की महिमा उन्होंने उसे अवगत करा दी और अमृत जीवन की प्राप्ति के लिए उसका आह्वान किया।

उनका वह आह्वान व्यर्थ नहीं गया। बाद में यशोधरा ने भिक्षुणी के रूप में अपने नाम की सार्थकता पाई।

बालक राहुल के कुतूहल की तो जैसे उस दिन सीमा ही न थी, आँखें फाड़कर वह नवागत श्रमण को देखता ही गया। आँसू पोंछती यशोधरा ने पुत्र को अपने पास बुलाया और बोली, "वत्स, दिव्यकान्तिवाले ये श्रमण तुम्हारे पिता हैं। इनके पास अमूल्य संपत्ति संचित हो गई है। वह पितृधन तुम माँग लो।"

विस्मित राहुल धीर चरणों से चलकर पिता के निकट आ खड़ा हुआ। बुद्ध ने उसे स्नेह के साथ कहा, "वत्स, मेरे पास सत्यव्रत रूपी धन अवश्य है। मेरे पास रहकर तुम आज वही पा सकोगे।"

सारिपुत्र को बुलाकर बोले, "इस बालक को दीक्षित कर लो।"

राहुल की कमनीय देह पर भिक्षु का चीवर डाल दिया गया, हाथ में भिक्षापात्र दे दिया गया। बौद्धसंघ में स्थान देकर उसे सारिपुत्र के शिक्षाधीन कर दिया गया।

केवल बेटे राहुल को ही नहीं; भाई नंद को भी दीक्षादान करने से बुद्ध नहीं चुके। विमाता गौतमी का पुत्र नंद गार्हस्थ्य-जीवन के समय उनका बड़ा प्रिय पात्र था। नंद उम्र से तरुण था, एक परिजन-कन्या के प्रति उसे असीम प्रेम था। अब तो उन दोनों के विवाह

की बात भी पक्की हो चुकी थी। लड़की का नाम था जनपदकल्याणी। विवाह के निमित्त दोनों उन्मुख हो गये हैं।

आज बुद्ध राजपुरी में आ गये हैं, तरह-तरह की बातें चल रही हैं। अचानक उन्होंने अपना भिक्षापात्र नंद के हाथों में रख दिया। दिन भर वे इच्छानुसार घूमते-फिरते रहे और संग-संग नंद भी चलता रहा। भिक्षापात्र के स्पर्शमात्र से उसकी चंचलता जाती रही और खुलकर कुछ बोलना उसके लिए संभव नहीं हुआ। भाई नंद वशंवद की तरह चुपचाप बुद्ध का अनुसरण करता रहा।

कार्य समाप्त हो जाने पर बुद्ध न्यग्रोध-आराम की तरफ रवाना हुए। पुत्र और सहचर भिक्षुओं को रहने के लिए शुद्धोदन ने यही उद्यान दिया था। बुद्ध शिष्यों की मंडली के साथ राजपथ से होकर चल रहे हैं। पीछे हाथ में भिक्षापात्र लिए चल रहा है राजकुमार नंद।

नंद की प्रेमिका जनपदकल्याणी इस समय खिड़की से सटी खड़ी है। दृश्य देख कर उसके प्राण काँप उठे। तो क्या नंद घर छोड़कर भिक्षु होने जा रहा है ?

"अजी, तुम लौट आओ, लौट आओ। एकबार फिर कर सुन जाओ मेरी बात"—वह चीख-चीख कर पुकारने लगी।

प्रणयिनी की मिन्नत, उसका आर्त्तस्वर नंद के मर्म को बेधने लगा। मन उत्ताल हो उठा, वह उसके पास भाग चलेगा। किन्तु सामने बुद्ध की सौम्यसुन्दर चलमान मूर्ति पर दृष्टि पड़ गई और वह थमक गया। बुद्ध ने एकबार उसकी ओर फिरकर देखा और फिर आगे की तरफ चलने लगे।

नंद जैसे किसी इन्द्रजाल में मुग्ध था। उसपर भिक्षपात्र ले चलने की जिम्मेदारी है, किन्तु यदि यह भिक्षापात्र बुद्ध वापस न लेलें तो इसे वह कहाँ रखेगा ? माथा झुकाये वह चुपचाप पीछे-पीछे चलने लगा।

न्योग्रोध-आराम में पहुँचकर समवेत भिक्षुओं के सामने बुद्ध ने अपने भाई को दीक्षा दे दी।

बड़े बेटे सिद्धार्थ के बाद दूसरे बेटे नंद ने और पौत्र राहुल ने संन्यास लिया। वृद्ध राजा शुद्धोदन निराशा से टूट गये। अब तो वंश-रक्षा का भी कोई उपाय नहीं रह गया। अंत में शोक-सन्तप्त वृद्ध पिता बुद्ध के पीछे स्वयं भी चल पड़े।

बुद्ध के नवीन धर्म-माहात्म्य ने विमाता गौतमी, पत्नी यशोधरा एवं अन्य शाक्य-नारियों को प्रभावित किया।

उनके व्यक्तित्व के आकर्षण, त्याग-वैराग्य और ऋद्धि-सिद्धि की कहानी उन दिनों शाक्य युवकों का मन आलोड़ित करती रहती। अनेक विशिष्ट तरुणों ने बुद्ध का आश्रय ग्रहण किया। चचेरे भाई देवदत्त और आनन्द उनमें अन्यतम थे।

नाई का लड़का उपाली इन तरुणों का मुँहलगा परिचारक था। बुद्ध के दर्शन से एक दिन वह भी मुग्ध हो गया, अवसर पाकर उसी दिन वह भी उनके चरणों में आत्मार्पित हुआ।

उस दिन भिक्षुव्रत, ग्रहण करने के लिए शाक्य-तरुणों का दल हाथ जोड़कर दण्डायमान था। किन्तु दीक्षा-दान के लिए बुद्ध सबसे पहले नापित कुमार उपाली को ही बुला बैठे। कहना न होगा कि इस घटना के द्वारा उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि उनके धर्म में जातिवर्ण की बात अवान्तर थी। इस तरह शाक्यतरुणों के कुलाभिमान की जड़ पर भी बुद्ध ने चोट की।

भिक्षु उपाली कालान्तर में बुद्ध के अन्यतम श्रेष्ठ शिष्य के रूप में विख्यात हुए। बुद्ध द्वारा प्रवर्तित संघ-संबन्धी नियमावली के पालनकर्त्ता और ज्ञाता हुए ये ही नापित-पुत्र उपाली। बुद्ध संगीतियों में इनका उल्लेख 'विनयधर' के नाम से आदरपूर्वक किया गया है।

राजगृह के निकट के शीतवन में उस दिन बुद्ध निवास कर रहे

थे। इसी समय किसी काम से श्रावस्ती के स्वनामधन्य सेठ सुदत्त आ निकले।

एक घनिष्ठ आत्मीय के घर में वे अतिथि थे। उस दिन उसी घर में बुद्ध को निमन्त्रण था। सुदत्त को बुद्ध के दर्शन वहीं प्राप्त हुए और उनके जीवन में विलक्षण परिवर्त्तन आया। दूसरे दिन शीतवन जाकर उन्होंने बुद्ध की शरण ली।

परम कारुणिक बुद्ध के दिव्य स्पर्श से सेठ महाशय एक नवीन मनुष्य में परिणत हुए—परवर्त्तीकाल में बौद्ध संघ और धर्म के निमित्त उन्होंने अकृपण भाव से दान दिये। दरिद्रों को वे अन्न और आश्रय देते, बौद्धशास्त्र में उनका नाम पड़ा अनाथपिण्डद।

अनाथपिण्डद की बड़ी इच्छा थी कि प्रभु श्रावस्ती में आकर कुछ दिन रहें। निमन्त्रण तो उन्होंने दिया किन्तु बुद्ध के अवस्थान के उपयुक्त उपवन वहाँ है कहाँ? नगर के निकट स्थित जेतवन बड़ा ही रमणीय था। सेठ ने निश्चय किया कि प्रभु के लिए वही उद्यान खरीद लिया जायगा।

किन्तु यह काम आसान न था। उपवन राजकुमार जेत का था, बड़ी मिहनत और अर्थ-व्यय के बाद उन्होंने इस भूस्वर्ग को तैयार किया है। उस उद्यान को वे क्यों बेचेंगे भला?

जेत ने उपवन की आश्चर्यकारी कीमत माँगी। बोले, "सेठजी, यदि यह उद्यान खरीदने की तुम्हारी इच्छा हो गई तो उसके पूरे रकवे को स्वर्णमुद्रा बिछाकर ढंक दो। जितनी मुद्राओं से ऐसा कर सकोगे, उतनी मुद्राएँ ही इसकी कीमत है।"

अनाथपिण्डद के लिए तो पृथ्वी की समस्त सम्पत्ति तुच्छ थी। प्रभु की प्रसन्नता के निमित्त वह सब कुछ को स्वाहा कर सकते हैं। मुँहमाँगी कीमत देने के लिए वे तैयार हो गये।

गाड़ियों में भरकर स्वर्ण-मुद्रा जेतवन में इकट्ठी की गई। बड़ा ही अद्भुत दृश्य था! सारी श्रावस्ती के लोग वहाँ उमड़ पड़े।

राजकुमार जेत के विस्मय की सीमा नहीं रही। यह प्रभु बुद्ध हैं कौन ? यह कैसी अलौकिक शक्ति है उनकी ? इस अर्थलोलुप सेठ को किस मायादण्ड के स्पर्श से उन्होंने इस तरह सर्वत्यागी बना दिया है ?

जिनके लिए अनाथपिण्डद ने जिन्दगी भर की कमाई गँवा देनी चाही थी, अज्ञातभाव से उसी प्रभु ने राजकुमार जेत के हृदय को आन्दोलित कर दिया !

सेठ को बुलाकर राजकुमार ने कहा, अनाथपिण्डद, तुम्हारे अद्भुत परिवर्त्तन को देखकर मैं प्रभु बुद्ध की महिमा आज वहुत कुछ समझ गया हूँ। अब और स्वर्ण मुद्रा लाने की जरूरत नहीं है। प्रभु के चरणों में यह जेतवन समर्पित करके मैं धन्य होना चाहता हूँ।"

इसके वाद जेतवन में अनाथपिण्डद के धन से बौद्धभिक्षुओं के निमित्त एक विराट् विहार और धर्म—केन्द्र स्थापित किया गया। 'अनाथपिण्डद आराम' के नाम से यह उपवन सुपरिचित हुआ। बुद्ध ने उसमें उन्नीस चातुर्मास्य बिताये थे। श्रावस्ती के समीपवर्ती अंचल के मुमुक्षु स्त्री-पुरुष उनके सान्निध्य और उपदेश से कृतार्थ होते रहे।

श्रावस्ती में एक दूसरा संघाराम भक्त शिष्या विशाखा के द्वारा स्थापित हुआ। उसमें बुद्ध ने कोई छह वर्ष बिताये। बुद्ध के स्त्री-शिष्यों में विशाखा अन्यतमा थी। श्रावस्ती के सेठ मिगार के पुत्र पुण्यवर्द्धन से उसका विवाह हुआ था। इस पुण्यवती महिला की विपुल दानकीर्त्ति को कथा बौद्ध साहित्य में मिलती है।

सम्बोधि-लाभ के बाद के लंबे पैंतालीस वर्ष बुद्ध ने अपने धर्म के प्रचार में घूम-घूमकर बिताये। केवल श्रावस्ती, वैशाली, राजगृह, कुशीनगर प्रभृति धनी शहरों में ही उन्होंने अपनी धर्म-देशना का दान नहीं किया, देश के दूर-दूरान्तर ग्रामांचलों में भी नवधर्म की वार्त्ता और उद्दीपना उन्होंने फैला दी थी।

वे स्वयं अथक परिश्रमी थे, नित्यप्रति पाँव पैदल प्रचार-परिक्रमा में बाहर निकलते। मुंडित मस्तक, गेरुआ वस्त्र पहने, मुख पर अपूर्व लावण्यश्री की दिव्यता। राजकान्ति से दीप्त शरीर पर भिक्षु का वेश। इसी वेश में, हाथ में भिक्षापात्र लिए वे जनगण के मध्य विचरण करते। उनदिनों के अगणित कुसंस्काराच्छन्न निपीड़ित मनुष्यों के सम्मुख बुद्ध वस्तुतः करुणाधन निग्रह स्वरूप थे। वे जब जिस स्थान पर उपस्थित होते, उनकी वाणी और व्यक्तित्व से अपूर्व प्रेरणा का संचार होता।

बुद्ध का यही निजस्व कर्मनिष्ठा के संपर्क से उनके संघ के लिए बड़ी शक्ति हो गया था। शतसहस्र त्यागव्रती भिक्षुओं की परिक्रमा और प्रचार से नवधर्म प्राणवन्त हो उठा। प्रचार और संगठन की यह प्रतिभा और कर्मनिष्ठा केवल भारतवर्ष में ही नहीं, समूची धरती के इतिहास में दुर्लभ है।

बुद्ध के धर्म-प्रवर्त्तन और संगठनकार्य में दो विशिष्ट धाराओं का समन्वय हम देखते हैं। इनमें एक है ब्राह्मणों की धारा और दूसरी क्षत्रियों की। ब्राह्मण के त्याग, तितिक्षा और पवित्रता के साथ क्षत्रियों के शौर्य, कौशल और कर्मनैपुण्य उनकी कर्मसाधना में सम्मिलित हैं।

जन-साधारण में नवधर्म को सहजबोध्य करने के निमित्त बुद्ध ने पालि भाषा में अपने मत का प्रचार किया। जनसाधारण में जनसाधारण की भाषा के द्वारा धर्मप्रचार वस्तुतः बुद्ध की अभिनव रीति थी। कभी-कभी अपने उपदेशों को वे गाथा के रूप में गूँथ देते। लोक में इसका मुखानुमुख प्रचार होता, समाज-जीवन के हर स्तर में इनका प्रवेश होता। बाद में इन्हीं गाथाओं के संग्रह का प्रसिद्ध 'धर्मपद' के नाम से आत्म-प्रकाश हुआ।

बुद्‌ध और बौद्‌धभिक्षुओं की प्रचारनिष्ठा और जनसंपर्क का परिणाम दूर तक फैले बिना नहीं रहा। उन दिनों देश में उनके द्वारा नई प्रेरणा

आई, कर्मधारा में मिलकर नूतन की भावना ने जनसाधारण में अन्तर्निहित प्रतिभा को धीरे-धीरे जगा दिया।

बुद्ध की जीवनवार्त्ता और उनके शिष्य भिक्षुओं की त्यागतितिक्षा की महिमा स्वतः प्रकट थीं, साधारण मनुष्य को भी यह तथ्य समझाना नहीं पड़ता था। किन्तु उनके धर्म का आदर्श क्या था, उसका दार्शनिक आधार क्या था,—ये सवाल तो बराबर ही उठा करते हैं।

मनुष्य के आत्यन्तिक दुख का निवारण ही बुद्ध के जीवन का प्रधान व्रत था, उसका तत्त्वदर्शन और उसकी व्याख्या एवं विश्लेषण इस महापुरुष के लिए सर्वथा गौण थे।

साधकों के निरे कुतूहल की चरितार्थता को वे महत्व नहीं देते। दीर्घनिकाय के पोट्ठपद सूत्त में बुद्ध ने अपना मनोभाव स्पष्ट करते हुए कहा है "जान लो, तत्व-मीमांसा में प्रकृत कल्याण निहित नहीं हैं, अष्टांग मार्ग की साधना ही प्रकृत कल्याण प्राप्त कराती है।"

इसी कारण बुद्ध की दृष्टि में धर्म का स्थान दर्शन से बढ़कर है। तर्क-वितर्क की अपेक्षा अभ्यास-योग को वे अधिक महत्वपूर्ण बताते। उनके नवधर्म की सर्वसाधारणजन्यता विलक्षण थी—'एहिपस्सिको धर्मो, अर्थात् – आगे बढ़ आओ और अपनी आँखों से देख लो।'

प्रदर्शित साधन-प्रणाली का अनुसरण करने वाला साधक हाथों हाथ फल पाता है, उसे प्रत्यक्ष प्राप्ति होती है, उसे लगता है कि जो उसने पाया है वही तो वह चाहता था।

ईश्वर, आत्मा आदि के सम्बन्ध में बुद्ध की चुप्पी रहस्यमयी थी। इस चुप्पी का रहस्य उनकी अपनी कथा और आचरण में ढूँढा जा सकता था।

कौशाम्बी के पास के शीशम-वन में उस बार वे वास कर रहे थे। एक दिन शीशम के छोटे पौधों के पत्ते हाथ में लेकर बोले—"भिक्षुओं, कौन-से पत्ते ज्यादा हैं, मेरे हाथ में के अथवा जंगल के वृक्षों में लगे हुए?"

उत्तर था—"भदन्त, अवश्य ही, समूचे जंगल के पेड़ों के पत्ते आपके हाथ में रखे हुए कुछ पत्तों से संख्या में कई गुणा अधिक हैं।"

"इसी से समझ लो, मैं तुमलोगों को जितना कुछ कहता हूँ, मेरे द्वारा नहीं कहे गये किन्तु ज्ञात तत्त्व उनसे बहुत अधिक हैं। तुम्हे सभी तत्त्व नहीं कह देने के कारण, तुम्हारी प्रकृत वासना—मुक्ति में कसर नहीं रहेगी और बोधिलाभ भी नहीं होगा। किन्तु तुमलोगों को मैंने दुःख-स्वरूप, दुःख की उत्पत्ति के कारण, और दुःखों के निरोधमार्ग के प्रसंग से बहुत कुछ कह दिया है।"

बुद्ध की साधना का मूल लक्ष्य है मनुष्य के दुःखों की निवृत्ति, उनकी पद्धति भी मनुष्योचित है—सहज, स्वच्छन्द और स्वाभाविक।

सोन नाम के एक तरुण भिक्षु कृच्छ्र साधना के उपरान्त भी लक्ष्यस्थल तक नहीं पहुँच पाये थे। निदान साधना को तिलाञ्जलि देकर इसबार उन्होंने संसार के भोगसुख के पथ में ही लौट जाने का निश्चय किया।

भक्तों के मानसिक संकट की कथा बुद्ध को अज्ञात नहीं थी। उस तरुण भिक्षु को अपने निकट बुलाकर उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा—"सोन, तुम तो वीणा बजाना जानते हो। यदि तुम्हारी ही वीणा के तारों को बहुत अधिक ढीला कर दिया जाय, तो उनमें से आवाज निकलेगी?"

"नहीं भदन्त।"

"अच्छा, यदि उन तारों को बिल्कुल तान कर कस दिया जाय, तब क्या होगा?"

"उस हालत में भी वीणा की आवाज नहीं निकलेगी।

"और, यदि तुम्हारी वीणा के तार न तो अत्यधिक ढीले रहें और न अधिक तानकर कसे हुए, तब क्या होगा?"

"भदन्त, उसी हालत में वीणा की असली आवाज निकलेगी।"

"तो भिक्षु सुनो, अत्यधिक कृच्छ्र साधना में आवेग होता है और आवेग

से अहंकार का जन्म होता है। इसी तरह अत्यल्प साधना साधक को आलस बना देती है। इन दोनों में से कोई भी पद्धति साधक के प्राणों को वीणा के असली सुर को बजने नहीं देती।"

इसी तरह, उस युग के अनगिनत साधारण मनुष्यों के हृदय के तारों को, तथागत की साधना से दिव्य झंकार प्राप्त होती रही।

बुद्ध के एक शिष्य मालुंक्यपुत्र ने उनसे जिज्ञासा की। तथागत ने उसे अनेक प्रकार से उपदेश दिया, किन्तु दुःख के सम्बन्ध में कई गंभीर तात्त्विक प्रश्नों को और दर्शन-संबंधी प्रश्नों को वे टाल गये। शिष्य के मन में शान्ति नहीं हुई।

बुद्ध के इस प्रसंग में दिये गये उत्तर मज्झिमनिकाय में सुरक्षित हैं। दोनों के कथोपकथन बड़े ही गंभीर हैं। धर्म की तत्त्व मीमांसा के सम्बन्ध में बुद्ध के विचारों के निदर्शन के लिए ये संलाप महत्त्वपूर्ण हैं।

बुद्ध ने कहा, "देखो मालुंक्यपुत्र, किसी व्यक्ति को एक विषाक्त वाण ने आहत कर दिया है। स्वजनों में से एक ने दौड़कर एक चिकित्सक को बुलाया। अब यदि वह आहत पुरुष कहता है "जब तक मैं यह न जान लूँगा कि मुझे घायल करनेवाला आततायी कौन है, अभिजात है अथवा साधारण, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र तब तक मैं घाव की चिकित्सा नहीं कराऊँगा" अथवा यदि वह ऐसा कहता है "जबतक मैं यह नहीं जान लेता हूँ कि वाण फेंकनेवाले का नाम क्या है, गोत्र कौन-सा है, वह लम्बा है या नाटा, जिस वाण ने मुझे विद्ध किया वह किस चीज से बना है, तबतक मैं आहत स्थान की कोई चिकित्सा नहीं कराऊँगा" ऐसी स्थिति में क्या होगा?

"यह जगत् अनन्त है या सान्त है, शाश्वत है या नश्वर, प्राण और देह का स्वरूप क्या है, मृत्यु के अनन्तर निर्वाण प्राप्त पुरुष का अस्तित्व रहता है अथवा नहीं, इन सभी के सम्बन्ध में मैंने तुम्हें कोई शिक्षा नहीं दी है। ऐसा

क्यों हुआ ? इसका कारण यह है कि महज तत्त्वमीमांसा को लेकर मनुष्य शुद्ध बुद्ध नहीं हो सकता, उसे पराशान्ति नहीं मिल सकती। जो जानकर शान्ति प्राप्त होती है, ज्ञान उपलब्ध होता है, उसके सम्बन्ध में मैंने सब कुछ ठीक-ठीक बता दिया है। दुःख की जड़ में क्या है, दुःख का उदय क्यों कर होता है, दुःख की निवृत्ति कैसे होती है और दुःख की निवृत्ति के मार्ग में मूल सत्य क्या है—यह सब कुछ तो मैंने निर्दिष्ट कर ही दिया है। सुनो मालुंक्यपुत्र, मैंने जो स्पष्ट भाव से नहीं कहा, उसे अप्रकट ही रहने दो, जो मैंने विस्तार-पूर्वक कहा है, उसी का प्रचार करो।"

अध्यात्म-समस्या के व्यावहारिक पहलू—मनुष्य की तन्हा या तृष्णा की निवृत्ति, दुःख की निवृत्ति की ओर ही इस महापुरुष की दृष्टि निबद्ध थी। दार्शनिक विश्लेषण और औपपत्तिक आलोचना उनके लिए गौण थी। दुःख-व्रण-विद्ध मनुष्य की चिकित्सा को ही उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व देकर देखा था।

भिक्षुणी क्षेमा की प्रसिद्धि ज्ञानी साधिका के रूप में थी। उसबार कोशलराज प्रसेनजित् अपनी सेना और सामन्तों के साथ श्रावस्ती नगरी की ओर चले। मार्ग में उस विलक्षण भिक्षुणी से उनका साक्षात्कार हुआ। बुद्ध का निर्वाण-तत्त्व क्या है, मृत्यु के पश्चात् निर्वाणी का अस्तित्व रहता है या नहीं, ऐसे कई प्रश्न राजा के मन में कुछ दिनों से आलोड़ित रहा करते थे। रास्ते में उन्होंने उस दिन क्षेमा से पूछा, "तथागत इन तत्त्वों का रहस्य क्यों कर उद्घाटित नहीं करते ?"

भिक्षुणी हँसकर बोली, "महाराज, इस प्रश्न के उत्तर में आपसे एक प्रति-प्रश्न ही करूँगी। अच्छा, क्या आपके पास कोई ऐसा सुदक्ष लेखापाल है जो गिनकर बताये कि गंगा के किनारे की सिकताराशि में

बालू के कितने कण हैं अथवा जो मापकर बता दे कि समुद्र की जलराशि का परिमाण क्या है ?"

"नहीं, भद्रे ऐसी शक्ति तो किसी में नहीं है।"

"ऐसा इसीलिए न, महाराज, कि यह निर्णय करना संभव नहीं है ? वालुका अगणित है, सागर का जल अगाध, अपरिमेय है। निर्वाण प्राप्त तथागत का अस्तित्व भी ठीक वैसा ही है। वह अस्तित्व एकबारगी अतल, अगाध, अचिन्त्य है, अस्ति और नास्ति दोनों का उसमें मिलन हो गया रहता है।"

बुद्ध के धर्म को कहा जाता, धर्म अनितिह'—अर्थात् साधक की प्रत्यक्ष दृष्टि के सम्मुख उस धर्म का परम तत्त्व प्रकट होता है, अनुभूति के माध्यम से उसका ग्रहण संभव है। तर्कयुक्ति या बुद्धि के द्वारा इस धर्म की प्राप्ति नहीं होती, वह एकान्त ध्यान और लोकोत्तर समाधि के बीच से होकर करायत्त होता है।

इस स्वानुभववेद्य धर्म की कथा एकबार वे अन्तरंग प्रिय भिक्षु को प्रसंग-वशात् कह रहे थे—'हे भिक्षुगण, तुमलोग जिस तत्त्व की बात कहते हो, वह तुमलोगों ने स्वयं पहचाना है, स्वयं आयत्त किया है और प्राप्त भी स्वयं किया है। है न ?"

उत्तर मिला, "हाँ भदन्त, ठीक ऐसा ही है।"

"यह बड़ी उत्तम बात है, भिक्षुगण !"

पुनः बुद्ध ने कहा, "धर्म साधना में विश्वास प्रयोजनीय है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इस विश्वास को प्रतिष्ठित करके रखना होगा, प्रत्यक्ष दर्शन के ऊपर। कारण यह है कि परम तत्त्व को उपलब्ध करने के लिए जो मनुष्य की साधना होती है, उसके भीतर ही उपलब्धि भी रहती है।"

ईश्वर के सम्बन्ध में वे बिल्कुल चुप थे, शाश्वत ज्ञानमय सत्ता के सम्बन्ध में भी कोई व्याख्या उन्होंने नहीं दी। उनके धर्मोपदेश में वेद और वेदज्ञों

की विरोधित प्रबल थी।* परिणाम में विनाशवादी और नास्तिक जैसे नाना अभियोग उन्हें सुनने पड़ते थे।

यह अभियोग भित्तिहीन था, ऐसा बुद्ध के अपने कथन से ज्ञात होता है। निर्वाण-प्राप्त महाज्ञानी साधक के सम्बन्ध में वे कहते हैं, "हे भिक्षुगण, जो भिक्षु इस प्रकार विमुक्तचित्त हो गया है, उसके विज्ञान किंवा परम चैतन्य सत्ता का पता किसी देवता को भी नहीं मिलेगा। क्यों? क्योंकि वह तथागत या निर्वाण-प्राप्त साधक अब और यहाँ अनुवेद्य नहीं रह जाता।

भिक्षुओं, ऐसी ही बातें कहने के कारण, कोई-कोई श्रमण और ब्राह्मण-गण, झूठमूठ के अनोखे अभियोग मुझपर जानबूझ कर लगाते हैं। वे कहते हैं, 'यह श्रमण गौतम वैनाशिक हैं, इन्होंने सौ वर्षों तक विनाश और उच्छेद का प्रचार किया।"

[मज्झिम निकाय, सुत्त २२]

प्रत्यक्ष दर्शन और अनुभूति पर बार-बार जोर देने के बावजूद बुद्ध शाश्वत नित्य सत्ता का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। एक अजात, अभूत, असंज्ञात, परम सत्ता की चर्चा उनके मुख से बारंबार सुनाई पड़ती है।

बुद्ध के उपदेश का मूल सूत्र है अनित्यवाद। उनके मत में—सब्ब अनिच्चं, सब्बं दुःखं, सब्बं अनात्मं, अर्थात सभी अनित्य, सभी दुःख और सभी अनात्म

---

*बुद्ध की क्रान्तिकारिता प्रधानतः द्विमुखी थी। एक ओर तो वे समकालीन भारत के धर्म-जीवन को कर्मकाण्ड से मुक्त कर, उसे वे त्याग वैराग्य और ज्ञान से अनुरंजित करना चाहते थे। वेद का उन्होंने परित्याग कर दिया था। शास्त्र की नियमशृंखला से अपने युग के मानव को मुक्त करना उन्हें इष्ट था।

किन्तु प्रकट रूप में वेद का परित्याग करने मात्र से बुद्ध अपने चारों ओर अलगाव की दीवार खड़ी कर चुके थे। अन्यथा जिस नवीन धर्म का उन्होंने प्रचार किया था, वह कुछ ही सौ वर्षों में, अपने देश के भीतर इस तरह परदेशी क्यों बन जाता? सांख्यवाद भी तो बौद्धवाद की ही तरह परिष्कार भाव से ईश्वर को नहीं मानता, किन्तु वेद की अनुगामिता उसमें है। इसीलिए सांख्यवाद को नास्तिकता का अपवाद नहीं सहना पड़ा।

·· । यह प्रपंच, यह जो नाम; रूप या जो सूक्ष्म सत्ता है, सभी की जैसे उत्पत्ति होती है, वैसे ही विनाश होता है । सभी स्वभाव से ही नश्वर हैं ।

किन्तु वह परम शाश्वत वस्तु कहाँ है ? कहाँ है वह अजर अमृत 'महान् ध्रुवः ? उसे किस प्रकार पाया जाता है ?

बुद्ध की देशना साधकों को उद्बोधित करती है कि तण्हा या तृष्णा और विषय-वासना की निवृत्ति के पथ में ध्यान और समाधि के स्तर में उनकी प्रतीति होती है । दुःखमय जगत के पथ में अन्ततः प्रकाशित होता है अमेय, अनिर्वचनीय, परम सत्य—निर्वाण ।

बुद्ध के द्वारा कहे गये इस निर्वाण का क्या स्वरूप है, इसको लेकर बौद्ध तत्व के गवेषकों में कम मतभेद नहीं है । एक दल वाले कहते हैं कि यह कोई अस्तिमूलक अमृतमय सत्ता है, दूसरे की राय में यही महाविनाश स्वरूप है । मैक्समूलर, राहज डेविड्स आदि निर्वाण को ऐकान्तिक विनाश के अर्थ में स्वीकृत करने को तैयार नहीं हैं । ओल्डेन वर्ग, डाह्लक, बिगॉन गेट प्रभृति गवेषकों की राय में निर्वाण अपने प्रकृत पक्ष में अभावात्मक विनाश की अतल राशि है—स्वर्गीय आनन्द इससे खोजना इष्ट भर है ।

बौद्ध शास्त्रों के द्वारा सुरक्षित बुद्ध की वाणी में, उनके अन्तरंग भिक्षु शिष्यों के व्याख्यान में इस निर्वाण का निहितार्थ अंशतः पकड़ा जा सकता है । एक सर्वव्यापी परम सत्ता को बुद्ध स्वीकार कर गये हैं—इस सत्ता का विनाश नहीं होता, यह नित्य है और चैतन्यमय है । मैं-पन के विनाश के फलस्वरूप परम ज्ञान की इस अवस्था को साधकगण प्राप्त करते हैं ।

बुद्ध द्वारा वर्णित ध्यान और समाधि तत्व का अनुशीलन करने पर इस ज्ञानमय सत्ता का स्वरूप स्पष्टतर हो उठता है । प्रगाढ़ पाण्डित्य के बावजूद यूरोप के विद्वानों में से अनेक इस समाधि के मर्म को समझने में असमर्थ हैं । इसलिए बुद्ध के द्वारा प्रचारित प्रकृत तत्व का निर्णय करना उनसे संभव नहीं होता ।

सुत्त निपात में कहा गया है, "निब्बन्ति धीरा यथायां पदीपः"—अर्थात् जैसे यह दिया बुझता है वैसे ही धीरगण निर्वापित होते हैं। किन्तु यह निर्वापण या विनाश, सत्ता का विनाश नहीं है। प्रकृत पक्ष में बुद्ध व्यावहारिक सत्ता और पारमार्थिक सत्ता ये दो भेद कर गये हैं। निर्वाण का अर्थ इसीलिए व्यावहारिक सत्ता का-उपाधि का निर्वाण है। यहाँ से शुरू होती है निरुपाधि अवस्था —नित्यावस्था।

व्यवहार में देखा जाता है कि विनाश के साथ-साथ एक प्रकाश का पहलू भी रहता है। यह प्रकाश पारमार्थिक सत्ता का प्रकाश है, यह कहने की जरूरत नहीं।

दीप-निर्वाण की यह स्थिति वस्तुतः है क्या ? यह समझने की खातिर बुद्ध अपने अन्तरंग शिष्य सारिपुत्र से कहते हैं—"लोग निर्वाण-निर्वाण कहते हैं। किन्तु हे बन्धु सारिपुत्र, इसका प्रकृत तात्पर्य क्या है ? कहो तो। यह निर्वाण है राग, द्वेष, माया, मोह का अन्तर्धान हो जाना।"

इसे और स्पष्ट करते हुए वे इस प्रकार कहते हैं, "हे भिक्षुगण, तेल और बाती दिये हुए चिराग में यदि कोई और तेल बाती नहीं डाले तो उपादान के अभाव में जैसे वह चिराग बुझ जाता है, उसी प्रकार (जीवन—सत्ता के उपादान-समूह के) समस्त संयोजन की नश्वरता जो जान चुके हैं, जो अनाहार में विहार करते हैं, उनकी तृष्णा निरुद्ध हो जाती है, तृष्णा के निरोध से उपादान निरुद्ध होता है और तब सभी दुःखों के मूल पञ्चस्कन्द का निरोध हो जाता है।"

(संयुत्त निकाय)

इस निर्वाण को उन्होंने अस्तिधर्मी, पराशान्ति और भूमानन्द की अवस्था के रूप में भी स्मरण किया है। उनके अनुसार निर्वाण-प्राप्त-पुरुष—'जोतिसुखं अधिगच्छति, अञ्जं चा तातो सन्ततरं'—अर्थात् निर्वाण निरा आनन्द ही

नहीं है, यह एक आनन्दोत्तर अवस्था है।

निर्वाण को निर्गुण ब्रह्मवाद और तुरीय अवस्था की कोटि देते हुए एक स्थल पर बुद्ध ने कहा है, "हे भिक्षुगण, एक ऐसी स्थिति है जहाँ न पृथ्वी है न जल है। उसमें आकाश का अनन्त आयतन नहीं है, विज्ञान का अनन्त आयतन भी नहीं है, आकिंचन्य (न-कुछ-पन) का आयतन भी नहीं है, न संज्ञा का असंस्कार का आयतन है, इहलोक नहीं, परलोक नहीं, न चन्द्र और न सूर्य ही है। हे भिक्षुगण, इसे मैं आगमन नहीं कहता, न गमन ही कहता हूँ, न स्थिति कहता हूँ, न च्युति कहता हूँ और उपपत्ति भी नहीं कहता हूँ। यह प्रतिष्ठाविहीन, प्रवर्त्तन-विहीन और निरवलम्ब है तथा यही सभी दुःखों की समाप्ति है।" (—उदान ८/१)

प्रेम और सत्यनिष्ठा ही बुद्ध के प्रचारकों का प्रधान अस्त्र थी। एकवार सुरापरन्त नामक स्थान के एक स्थान के एक श्रद्धालु वणिक् अपने इलाके में तथागत के धर्म का प्रचार करने के लिए उत्साहित हुए। मुसीबत यह थी कि उस इलाके के लोग दुरन्त और स्वेच्छाचारी होने के लिए बदनाम थे। इसलिए प्रचार का परिणाम क्या होगा, यह कहना कठिन था। बुद्ध और प्रचारेच्छु भक्त वणिक् के बीच इसी समय एक चमत्कारी संलाप हुआ। उन दोनों के संलाप में आधुनिक सत्याग्रह का बीज देखा जा सकता है।

भक्त को बुद्ध ने पूछा, "अच्छा, हुल्लड़बाज पड़ोसी जब तुम्हारी निन्दा करेंगे, तब तुम क्या करोगे, बोलो तो ?"

"भदन्त, मैं चुप्पी लगाये रहूँगा।"

"तुम्हें यदि वे मार बैठें, तब क्या करोगे।"

"मैं प्रतिरोध में अपना हाथ तक न हिलाऊँगा।"

किन्तु, यदि वे तुम्हारी हत्या कर डालेंगे, तब ?

"मौत तो टाली नहीं जा सकती। मैं न मौत को न्यौता देकर बुलाऊँगा और न उसे टालने के लिए परेशान होऊँगा।

वणिक के उत्तर से सन्तुष्ट होकर बुद्ध ने उस दिन उसे धर्म प्रचारित करने की आज्ञा प्रसन्नता के साथ दे दी थी।

अपने द्वारा प्रचारित अहिंसा की बुनियादी नीति को अपने जीवन में प्रयोग कर साबित करने में बुद्ध ने कभी पाँव पीछे नहीं किया।

उन दिनों कोशल राज्य में एक दुर्द्धर्ष दस्यु का उत्पात फैला हुआ था। हत्या, लूट और अग्निदाह में उसे कोई हिचक नहीं होती थी। उसके अत्याचारों से प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही थी। राजा प्रसेनजित् उसको लेकर कम परेशान न थे, उस दस्यु का दमन करने में फौज को भी कामयाबी नहीं मिली।

इस भयंकर दस्यु का नाम था अंगुलिमाल। मारे गये व्यक्तियों की अंगुलियों को माला वह गले में पहनता था, इसीलिए उसका ऐसा विचित्र नाम पड़ा था।

प्रचार करने के लिए, उस समय बुद्ध को नाना स्थानों का भ्रमण करना पड़ता था। एकबार उन्होंने निश्चय किया कि गन्तव्य स्थान की ओर अंगुलिमाल वाले जंगल से होकर जानेवाली राह से ही चला जाय। शिष्यों ने बार-बार मना किया। किन्तु बुद्ध तो अकुतोभय थे। उनके निश्चय को इस तरह बदलवा लेना किसी के वश की बात नहीं थी।

रात की अँधियाली में दुर्गम वन के बीच होकर वे चले जा रहे हैं। सहसा चारों दिशाओं को प्रकम्पित करती हुई आवाज में किसी के गंभीर कण्ठ ने हुक्म दिया—"ठहर जाओ।" चलते-चलते ही बुद्ध ने उत्तर दिया—"मैं तो भैया, ठहरा ही हूँ, अब तुम भी तो ठहरो।"

कहना न होगा कि बुद्ध के कथन का निहितार्थ था कि मैं कामना वासना की जड़ नष्टकर सम्बोधि के बीच स्थिति प्राप्त कर चुका हूँ। इस तरह एकबारगी ठहर गया हूँ—किन्तु तुम्हारा चलना तो अब-तक भी समाप्त नहीं हुआ है।

अंगुलिमाल तुरत बुद्ध के पास में आकर खड़ा हो गया। यह डाकू आज सच ही बड़ी हैरत में है। इलाके के आबाल-वृद्ध नर-नारी में उसके नाम मात्र से हड़कम्प मच जाती है; सरकारी फौज अबतक उसका दमन नहीं कर सकी। फिर भी यह प्रौढ़ संन्यासी, निरस्त्र होकर भी, उसकी कोई पर्वाह नहीं कर रहा है।

बुद्ध और इस डाकू के बीच उस दिन क्या बात हुई, सो तो कोई नहीं जानता। किन्तु दुरन्त अंगुलिमाल उसदिन उस चीवरधारी प्रेमिक संन्यासी के चरणों पर आत्मसमर्पण करने से अपने को रोक नहीं सका। हाथ में भिक्षापात्र लेकर मुण्डित मस्तक अंगुलिमाल इसके बाद प्रभु बुद्ध के साथ नाना स्थानों से भ्रमण कर आया।

कुछ दिनों बाद की घटना है। उस नये चेले को साथ लेकर बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में आ पहुँचे हैं। राजा प्रसेनजित् प्रभु को प्रणाम करने के लिए एक दिन पहुँचे।

बातचीत के क्रम में दस्यु अंगुलिमाल की चर्चा छिड़ गई। उसे पकड़ने की खातिर कुछ दिनों से राजा बेचैन थे। किन्तु उनकी सेना इस काम में असफल रही। अपनी अपार शक्ति की विभीषिका सृष्टि करता हुआ वह दस्यु अभी तक पकड़ में नहीं आया है।

बुद्ध हँसकर बोले, "महाराज, इसी घड़ी यदि मैं एकत्र भिक्षुओं के भीतर अँगुलिमाल को दिखा दूँ तो आप उसे क्या करेंगे?"

प्रसेनजित् के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। बोले—"भदन्त मैं उसे श्रमण के उपयुक्त सत्कार से सम्मानित करूँगा।"

भिक्षुवेशधारी प्राक्तन दस्यु तो निकट ही बैठा था। बुद्ध ने उसकी ओर बिना कुछ कहे, उँगली दिखाई।

राजा प्रसेनजित् दुर्द्धर्ष दस्यु के इस रूपान्तर को देखकर अवाक् हो गये। वे अंगुलिमाल को एक बहुमूल्य परिच्छद और एक सुन्दर भवन प्रदान करना चाहते थे। किन्तु अंगुलिमाल तो अब सर्वत्यागी हो चुका था; वह सब कुछ के मोह से मुक्त था। पारस पत्थर के जादुईस्पर्श की जो बात सुनी जाती थी, वह आज उन्होंने आँखों देखी।

अंगुलिमाल ने अपने फटे चीवर की ओर दिखाकर कहा,—"महाराज, यह देखिये, मुझे जो कुछ चाहिए वह हुआ है, इससे और अधिक तो चाहिए ही नहीं।"

नवीन धर्म के प्रचार में बुद्ध को अनेक बाधाविघ्न झेलने पड़े थे। कट्टर-पुराणपन्थी आचार्यों की साजिश के विरुद्ध वे जिस तरह जूझते उसी तरह प्रतिद्वन्द्वी नवधर्मनेताओं के मतवादों के खंडन में भी उन्हें मिहनत करनी पड़ती थी।

संस्कार विमुख सनातनपन्थी दलों और नग्न श्रमणों का विरोध उन्हें दीर्घ काल तक सहना पड़ा। बौद्ध साहित्य में इससे संबंधित अनेक कथायें वर्णित हैं।

बुद्ध की उम्र उस समय पैंतालिस वर्ष की थी। मागन्दिया नाम की एक अतीव रूपसी ब्राह्मण-कन्या इन दिनों उनकी ओर आकृष्ट हुई। कन्या के पिता ने विवाह का प्रस्ताव उपस्थापित किया। कहना न होगा कि बुद्ध ने उस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

इस तरुण के रूपलावण्य की बड़ी प्रसिद्धि थी। कुछ दिन बाद उसके रूप पर मोहित होकर कौशाम्बीराज उदयन ने उससे विवाह कर लिया। किन्तु मागन्दिया उस समय तक बुद्ध के प्रत्याखान द्वारा अपने रूप के अपमान को नहीं भूल सकी थी।

बुद्ध के कौशाम्बी पहुँचते ही रानी के द्वारा तैनात चरगण उन्हें नाना प्रकार से अपमानित और लांछित करते थे।

एक दिन अपरक्त होकर शिष्य आनन्द ने कहा—"भदन्त, चलें हमलोग इस दुर्वृत्त संकुल स्थान का त्याग कर अन्यत्र चलें।"

"किन्तु आनन्द इसके बाद हमलोग जायँ, वहाँ भी यदि ऐसे ही उपद्रव शुरू हो जायँ, तब क्या करोगे?

"उस स्थान को भी हमलोग छोड़ देंगे।"

"किन्तु यदि दूसरे स्थानों पर भी अत्याचार ही हों, तब?"

"निश्चय ही, उन स्थानों को भी छोड़कर, तब हमलोग कहीं और अन्यत्र चले जायँगे।"

"आनन्द, तो देखो, हम लोगों के स्थान-परिवर्त्तन और घूमा-फिरी का कोई अन्त क्या हो सकेगा ? जिसके अन्यत्र होने की भी आशंका है, उसे यहीं क्यों न भोगें ? जान लो, तब धर्म के प्रचार में हमें लड़ाई के मैदान वाले हाथी की तरह अविचल रहना होगा।"

बुद्ध की त्याग-तितिज्ञा की महिमा और सत्याग्रह के इस आदर्श ने उन्हें उन दिनों हर तरह जीत दिलाई।

उनके भिक्षु शिष्यों में प्रधान थे स्थविर काश्यप, सारिपुत्र, मौद्‌गल्यायन, आनन्द, उपाली, प्रभृति। साधना और पाण्डित्य में स्थाविर काश्यप अद्वितीय थे, बुद्ध स्वयं ही उन्हें बड़ी मर्यादा दे गये हैं।

सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन के नाम थे क्रमशः उपतिष्य और कोलिता उपतिष्य की माता का नाम था रूपसारी, इसीलिए, बाद में वे सारिपुत्र के नाम से ही विख्यात हुए। कोलित का गोत्र था मोद्‌गल्य, सो, गोत्रानुसार वे मौद्‌गल्यायन कहे जाने लगे।

ये नालन्दा ग्राम में रहते थे। बचपन से ही दोनों में घनी दोस्ती थी और बन्धुत्व का प्रगाढ़ भाव था तथा दोनों ही आचार्य संजय के प्रधान शिष्य के रूप में सुपरिचित थे।

बुद्ध के शिष्य अश्वजित् उस दिन राजगृह में भिक्षाटन के लिए निकले। मुख और नेत्रों पर दिव्य आनन्द की विभा थी। दर्शन मात्र से उपतिष्य चमत्कृत हो गये। मालूम हुआ कि यह श्रमण बुद्ध तथागत का आश्रय ग्रहण कर चुके हैं, अध्यात्म-जीवन में तब से इन्हें अपार शान्ति मिली है।

तभी सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन बुद्ध के दर्शनों के लिए चल पड़े। बुद्ध के चरणों में उन्हें चिरतर परम आश्रय मिला।

प्रचार और संघशासन के काम में मौद्‌गल्यायन बुद्ध के दाहिने हाथ थे। किन्तु धीरता, विचक्षणता और तर्क-नैपुण्य में उस समय सारिपुत्र का जोड़ा न था। बुद्ध प्रायः स्वयम् ही कहते सुने जाते—"सारिपुत्र जैसे व्यक्ति के प्रति क्रोध वा विद्वेष करना किसी के लिए संभव नहीं है। उनका अन्तर इस

पृथ्वी की तरह, नगर-तोरण के सम्मुखस्थ स्तंभ की तरह अथवा झील की तरह धीर है। कोई भी आघात उनको कभी बिचलित नहीं कर सकता।"

भिक्षु अश्वजित् को देखकर, उनके मुख से बुद्ध की महिमा सुनकर सारिपुत्र ने आत्म समर्पण किया था। अश्वजित् के प्रति उनकी एतदर्थक कृतज्ञता की कोई सीमा न थी। जब वे जिस ओर परिव्राजन करते, उसी ओर सारिपुत्र को प्रतिदिन प्रातःकाल मस्तक नवाते देखा जाता।

उन्हें अक्सर इस भाव से किसी अज्ञात वस्तु के उद्देश्य से मस्तक झुकाते देखा जाता। ज्ञानाभिमानी भिक्षुओं के एक दल ने अनुमान किया कि ऐसा करना सारिपुत्र का कोई प्राक्तन कुसंस्कार था, वे इस तरह दिग्देवता की पूजा किया करते थे।

बुद्ध के पास अभियोग पहुँचा। सारिपुत्र के हृदय के भाव और कृतज्ञता की कथा समझने में बुद्ध से गलती नहीं हो सकती थी। उन्होंने असली तथ्य को प्रकट कर दिया और अभियोग करनेवाले की लज्जा की सीमा नहीं रही।

विचार-बुद्धिहीन भावावेग या अतिशयता को बुद्ध कभी पसन्द नहीं करते थे। एकबार इस कारण से उन्होंने अपने प्रिय पार्षद सारिपुत्र की भी भर्त्सना की।

सारिपुत्र श्रद्धाभाव से कह रहे थे, "भदन्त, मेरी दृढ धारणा है, आप से अधिक श्रेष्ठ श्रमण कभी पृथ्वी पर अवतीर्ण नहीं हुए—लगता है, आगे भी नहीं होंगे।"

बुद्ध तीक्ष्ण कण्ठ से बोल उठे, "सारिपुत्र, तुम्हारे मुख से बड़ी अनर्थक बातें निकल जाती हैं। सभी विषयों को अच्छी तरह जाने बिना तुम इस तरह आस्फालन क्यों करते हो? क्या तुमने पहले के अर्हतों के तत्त्व को जान लिया है? होनेवाले तथागतों के सम्बन्ध में भी क्या तुम्हें सम्यक् ज्ञान हो चुका है? और क्या मेरे अन्तर्निहित तमाम तत्त्व भी तुम्हें सर्वथा ज्ञात हैं?"

सारिपुत्र ने शर्म से गर्दन झुका ली। उत्तर दिया,—"इनमें से कुछ भी मुझे ज्ञात नहीं हैं।"

एक भक्त की भावातिशयता बड़ी विचित्र थी। बुद्ध के मुखड़े में वे किस परम वस्तु को ढूढ़ा करते थे, यह उनको छोड़कर और किसी को ज्ञात नहीं था। उनकी ओर एक टक देखते वे दिन-पर-दिन व्यतीत कर देते। किन्तु बुद्ध उनकी भावतन्मयता को प्रश्रय नहीं देते थे। उन्होंने जल्द ही उन्हें एक दूसरे संघाराम में विदा कर दिया!

विदा करते समय कहा, "सर्वदा याद रखना, जो धर्म की ओर दृष्टिपात करता है, वही मेरे असली रूप को देख पाता है।"

मौद्गल्यायन शास्त्रज्ञ और साधन निष्ठ थे। उनकी तेजोद्दीप्त वाणी भिक्षुओं की मण्डली में प्रेरणा का स्त्रोत थी, ऋद्धि-सिद्धि के लिए भी उनकी प्रसिद्धि कम नहीं थी। अनेकबार अपनी अर्जित अलौकिक शक्ति-सामर्थ्य को प्रकट करना भी उन्हें बुरा नहीं लगता था।

बुद्ध के अन्तरंग भिक्षु शिष्य आनन्द प्रेम, निरभिमानता और आनन्द की ही प्रतिमूर्त्ति थे। अपार निष्ठा के साथ वे तथागत की सेवा और परिचर्या कर गये। आनन्द एक ही साथ बुद्ध के सेवक भी थे, उनके आजीवन संगी भी और एकान्त साधक भी। मुख्यत: उन्हीं के माध्यम से बुद्ध के नाना धर्म-उपदेश और निर्देश भक्तों के बीच अथवा विभिन्न बौद्ध मण्डली में प्रचारित हुए। बुद्ध और संघ इन दोनों के बीच आनन्द परम सहायक सेतु की तरह थे।

अध्यात्म-साधना की ऊँची चोटी पर बुद्ध बैठे होते। त्याग तितिक्षा और अनासक्ति के वे मूर्त्त विग्रह थे। किन्तु यह सब होते हुए भी मानवीयता के ऐश्वर्य से वे सदा भरपूर रहते थे।

राजगृह के समीप ही दरिद्रा पुण्यादासी का निवास था। सारे दिन धान कूटकर जो कुछ मिलता उससे उस अनाथा का खर्च चलता

था। गंभीर रात्रि में, थकी देह लिए, निद्रागत होने के पहले उसकी आँखों के सामने गृध्रकूट का बौद्धावास दिखाई दे जाता। भिक्षुओं की प्रज्वलित दीपशिखा की ओर देखकर अपने मन में वह बहुत कुछ सोचती और भक्तिपूर्वक प्रणाम निवेदित करती।

उसदिन वुद्ध यथानियम भिक्षाटन के लिए बाहर निकले थे। राजपथ के बीच उनके चरणों पर पुण्यादासी लुढ़क पड़ी। अपने हिस्से की बचाकर रक्खी हुई रोटी का एक टुकड़ा उसने भिक्षास्वरूप प्रभु को दिया।

रोटी का टुकड़ा भिक्षापात्र में डालकर, आशीर्वाद दे, वुद्ध अपने पथ पर चल पड़े। पुण्या पेशोपेश में पड़ गई। हाय, यह क्या हुआ? राजे रजवाड़ों, सेठ-साहूकारों के मस्तक जिनके चरणों पर लोटते हैं, उन्हें मैंने अधजली रोटी का एक टुकड़ा क्या समझकर भोजन करने के निमित्त दिया!

उसकी ग्लानि की कोई सीमा न थी। कुछ देर बाद अपने को समझाने लगी, निश्चय ही प्रभु वह रोटी मुँह में नहीं डालेंगे, रास्ते के कौवे या कुत्ते को दे देंगे और तब किसी धनी भक्त के घर जाकर आहार ग्रहण करेंगे।

उस पथ पर थोड़ी ही दूर आगे चलकर एक विशाल वृक्ष था, उसके तले जाकर वुद्ध ने आनन्द को अपना चीवर बिछाने के लिए कहा। उसी स्थान पर बैठ, वह सूखी रोटी खाकर उसदिन उनका मध्याह्न-भोजन सम्पन्न हुआ।

पुण्या दासी ने दूर खड़ी होकर प्रभु का यह भोजन देखा था। अब उसे खेद नहीं रहा। मुखपर आत्मतृप्ति की मुसकान फूट उठी और आंखों से पुलकाश्रु बहने लगे।

आश्चर्य-चकित भक्तों के बीच उस दिन भगवान् वुद्ध को कहते सुना गया,—"तुमलोग हमेशा याद रखना, दाता के मनोभाव के आधार पर ही दान के मूल्य और मर्य्यादा का निरूपण किया जाता है।"

बुद्ध इस वार एक ग्रामाञ्चल की परिक्रमा कर रहे हैं। एक दरिद्र गृहस्थ भक्त, नित्यप्रति उनका उपदेश सुनने आता है। उस दिन काफी देर हो गई, किन्तु वह कहीं दिखाई नहीं देता। बड़ी देर बाद पसीने से लथपथ शरीरवाला वह व्यक्ति हांफता हुआ पहुंचा। ग्वाले बेचारे की गाय अचानक खो गई थी। बड़ी विपत्ति में पड़ गया था वह। पथ-प्रान्तर में उसीको खोजता फिर रहा था, इतनी देर तक। मिल जाने पर प्रभु की धर्मसभा में अब आया है।

उसके आने के साथ-साथ बुद्ध ने अपना उपदेश बन्द कर दिया। बोले, "अजी, तुमलोग इसे जल्द कुछ खाने को देते जाओ। बहुत भूखा है यह।"

भोजन करने के पश्चात् आगन्तुक सुस्थ हुआ, तब बुद्ध ने अपनी धर्म-देशना शुरू की।

पादपरिक्रमा कर लौटते समय कई शिष्य इस घटना को लेकर आलोचना कर रहे थे। कोई-कोई तो उस घटना की विडम्बना तक करने लगा।

बुद्ध के कानों तक बात पहुँची। वे बोल उठे, "भिक्षुओं, भूख से बढ़कर यन्त्रणा बहुत थोड़ी है। इसलिए मैंने इस भक्त को पहले खिला-पिलाकर सुस्थ होने दिया और तब तक अपने भाषण को स्थगित रक्खा। भूख-प्यास से व्याकुल रहने पर उपदेश श्रवण करना व्यर्थ हो जाता है। उस हालत में उसके मनपर उपदेश का कोई असर नहीं पड़ता और न कुछ उसको समझ में आता।"

भिक्षुओं के आवास के पास होकर उसदिन बुद्ध कहीं जा रहे थे। साथ में प्रिय सेवक भक्त आनन्द था। अकस्मात् दोनों की दृष्टि पड़ी एक भिक्षु पर। वह घर के कोने में मुर्दे की तरह पड़ा था। समूची देह मलमूत्र में सनी थी। दुर्गन्ध के मारे पास में खड़ा रहना कठिन था।

प्रश्न करने पर पता चला कि वह एक दुश्चिकित्स्य उदरामय रोग से ग्रस्त है। रोग का प्रकोप दीर्घकाल से भोग रहा है वह। सेवा करनेवाले भिक्षुगण ने थककर अब उसके पास आना छोड़ दिया है।

बुद्ध का हुक्म पाकर आनन्द भाण्ड में भरकर जल ले आये। बुद्ध ने अपने हाथों रोगी का मलमूत्र प्रक्षालित किया और उसे यत्नपूर्वक शय्या पर लिटा दिया। औषध और पथ्य की व्यवस्था होते देर नहीं लगी।

इसके बाद बुद्ध ने सभी भिक्षुओं को पुकारकर कहा—"देखो; तुम सभी घर-संसार छोड़कर संघ में आये हो। अस्वस्थ होने पर जो सेवा-शुश्रूषा करते हैं वैसे परिजन वा माता-पिता तो यहाँ किसी के हैं नहीं। यदि तुम परस्पर की सेवा-शुश्रूषा नहीं करोगे तो रुग्णावस्था में तुम्हारा काम कैसे चलेगा ?"

संन्यासी बुद्ध की यह मानवीयता-वुद्धि अपने पिता शुद्धोदन की मृत्यु के दिन भी देखी गई। अन्तिम समय में बुद्ध उनके निकट शीघ्रता से उपस्थित हुए, शय्या की बगल में बैठकर पिता को संसार की अनित्यता की कथा वारंवार कही। मृत्यु के बाद अन्त्येष्टि-क्रिया समाप्त कर, तब, उन्होंने कपिलवस्तु का त्याग किया।

नवीन बौद्ध धर्म का प्रचार-कार्य वहुत सरल काम नहीं था। प्राचीन-पन्थी समाजनेताओं के अनेक आघात बुद्ध को सहने पड़ते। बारबार बाधाएँ आतीं।

बुद्ध के आचार्य-जीवन के दस-बारह वर्ष बीत चुके हैं। इस समय उनकी ख्याति-प्रतिपत्ति की कोई सीमा नहीं थी। चारों तरफ हमेशा भक्तों और मुमुक्षुओं की भीड़ लगी रहती। ईर्ष्या के वश में आकर कुचक्रियों के एक दल ने उनके विरुद्ध इसी समय एक साजिश रची। उनके पवित्र चरित्र में कलंक लगाने की चेष्टा हुई। चिञ्चा नाम

की एक अतीव सुन्दरी भ्रष्टा नारी को इस कार्य के लिए उन लोगों ने नियुक्त किया।

बुद्ध उस समय श्रावस्ती के जेतवन में टिके हुए थे। चिञ्चा नित्य सन्ध्या समय मनोरम वेश-भूषा बनाकर जेतवन को जाती, सभी चकित होकर देखा करते। बुद्ध का धर्मोपदेश शेष हो जाता, रात गहराने लगती, किन्तु वह स्त्री उठने का नाम नहीं जानती। बहुत देर बाद उठकर धीरे-धीरे निकट के एक परिचित घर में जाकर वह रात बिताती, सुवह होते जेतवन की ही राह पकड़कर घर लौटती।

दल के दल भक्त बुद्ध की प्रातः कालीन धर्मसभा में योग देने आते थे, चिञ्चा के साथ उसका साक्षात्कार होता। कोई-कोई परिचित तो सवाल कर वैठता,—"क्यो री, इतनी सुबह इधर होकर रोज कहाँ से आती है ? सारी रात कहाँ रहती है ?"

चिञ्चा रहस्य-पूर्ण हँसी हँसकर संक्षेप में इतना ही कहती, "इन बातों से तुम्हारा क्या मतलब है, बाबू ?"

धीरे-धीरे कुछ लोगों में आशंका फैलने लगा, कानाफूसी भी शुरू हुई।

कई महीने बाद की घटना है। उस दिन बुद्ध अनेक दर्शनार्थियों के सामने वैठे उपदेश दे रहे थे। अचानक चिञ्चा आंधी की तरह सभागृह में पैठ गई। उत्तेजित स्वर में कहने लगी, "श्रवण, तुम तो परमानन्द में रमकर वैठे-वैठे खूब उपदेश देते हो किन्तु मैं तो यहाँ मरी जा रही हूँ। जिस घर में तुम्हारे साथ रात बिताती हूँ, वह वहुत छोटा है। सन्तान-प्रसव के योग्य वह घर नहीं है। मैं गरीबिन हूँ, रुपये कहाँ से लाऊँगी ? भाड़े पर भी घर नहीं ले सकूँगी। तुम्हारे भक्तों में तो कई वड़े-बड़े सेठ हैं। उनमें से किसी को कहकर मेरे रहने के लिए एक भली व्यवस्था करा दो।"

सारी सभा सन्न रह गई। किसी के भी मुख से एक शब्द नहीं निकला, सभी उसके मुख की ओर देखते रह गये।

चिञ्चा का उस तरह नाटकीय ढंग से आना, हीन कलंक का वैसा अभियोग बुद्ध के अन्तर में चांचल्य नहीं उत्पन्न कर सका। शान्त सहज कण्ठ से उन्होंने उत्तर दिया, "बहन, तुम्हारी बात सच है या झूठ यह तो अच्छी तरह तुम स्वयम् ही जानती हो, मुझे भी मालूम है।"

यह बात सुनते ही वह क्रोध से फट पड़ी। उत्तेजित भाव से नाना अङ्ग-भङ्गी करती हुई वह बुद्ध को फटाफट गालियां सुनाने लगी।

घड़ी भर बाद एक शब्द सुनकर सभी चमत्कृत हो उठे। चिञ्चा के पेट में बँधी हुई एक काठ की हांड़ी खुलकर आवाज के साथ नीचे गिर गई। उसमें से निकलकर फटे पुराने कपड़ों का चीथड़ा चारों ओर बिखर गया। यही सब सहेजकर वह अब तक आसन्न प्रसवा नारी का अभिनय कर रही थी।

प्रतिपत्तियों के हीन षड्यंत्र का इस तरह भण्डा फूट गया।

एकबार और भी बुद्ध को लोगों की निगाह में हेय ठहराने का षड्यंत्र उनके विरोधियों की ओर से किया गया था।

सुन्दरी नाम की एक तरुणी परिव्राजिका उन दिनों श्रावस्ती में आकर निवास कर रही थी। दुष्टों के दल ने इस नारी को अपने हाथ में करके बुद्ध के चरित्र के सम्बन्ध में कलंक लगाने के लिए उसे राजी किया।

सुन्दरी जेतवन की ओर आती जाती रहती ही थी। अपने मन के लायक लोगों को वह कहती फिरने लगी कि बुद्ध उसे खूब चाहते हैं, और उनके साथ गन्धकुटी में वह नित्य आनन्द की रात बिताती है।

सुन्दरी के इस कथन में दुष्टों के नाना अपप्रवारों को मिला दिया जाता। कुचक्रियों का दल इसके बाद एक डेग और बढ़ गया। उनलोगों ने स्वयं सुन्दरी की हत्या कर डाली और तब यह अफवाह फैला दी कि गोपन कलंक की कथा खुलने के डर से बुद्ध और उनके शिष्यों ने इस युवती की हत्या की है!

पूर्व निश्चित योजना के अनुसार उसकी मृतदेह जेतवन के एक भाग में, आवर्जना-स्तूप के नीचे छिपाकर रख दी गई। फिर खोजबीन का दिखाऊ नाटक हुआ और तब वह छिपाकर रक्खी गई लाश निकाल ली गई।

बुद्ध के प्रभावशाली भक्तगण इसबार दुष्टों का पर्दाफाश करने के लिए और उनके दमन के निमित्त तत्पर थे। राजा को कह दिया गया कि बुद्ध अथवा उनके भक्तों में से किसी का इस घटना से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अपराध बुद्ध के विरोधियों के द्वारा हुआ है।

राजा के उपदेश से खुफियागीरी की उपयुक्त व्यवस्था हुई। सच्चाई के प्रकट होने में बहुत देर नहीं लगी। नगर के कोतवाल के चरों की ओर से एक संवाद आया। कुछ उच्छृंखल चरित्र के लोग शराब की दूकान पर बैठकर ऊधम मचा रहे थे। फिर एक बारगी वे बेहोश हो गये। चिल्ला-चिल्लाकर वे एक दूसरे पर सुन्दरी की हत्या का इल्जाम लगाने लगे हैं।

राजा के सिपाहियों ने जाकर उन प्रलापकारियों को तत्क्षण गिरफ्तार कर लिया। उनकी स्वीकारोक्तियों से ही षड्यंत्र का पूरा विवरण ज्ञात हो गया और विचार के पश्चात् दुर्वृत्तकारियों को प्राणदण्ड मिला।

बुद्ध स्वयं क्षत्रिय राजकुमार थे और तिसपर एक महान नवधर्म का उन्होंने प्रवर्त्तन किया। इस कारण उस समय के क्षत्रिय राजागण उनकी ओर अत्यधिक आकृष्ट थे और वे यथेष्ट सम्मान प्रदर्शित करते थे। महज राजे-रजवाड़ों तक बुद्ध की मर्यादा सीमित नहीं थी, सेठ वणिक् और साधारण मनुष्यों के समाज में भी बुद्ध और उनके परिकरगण श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे।

एक दिन प्रातःकाल कोशलराज प्रसेनजित् प्रभु बुद्ध के दर्शनों के निमित्त पधारे हैं। छत्रपाणि नामक एक भक्त राजा का सुपरिचित था, वह भी उसी समय वहीं बैठा हैं। प्रसेनजित् लक्ष्य किया

कि छत्रपाणि उनको देखकर भी, उठकर खड़ा नहीं हुआ, न कोई राजोचित समुदाचार प्रकट कर रहा है। मुख से कुछ न बोलने के बावजूद अभिमानाहत राजा की आँखों से असन्तोष के चिन्ह प्रकट हो गये।

बुद्ध की आँखों से यह छिपा नहीं रहा कि राजा को कष्ट हो रहा है। वे कौशल-पूर्वक विहँस कर भक्त छत्रपाणि के गुणों की बात उत्साहपूर्वक वारंवार कहने लगे।

कुछ दिनों बाद की कहानी है। प्रसेनजित् उस दिन अपने अनुचर-सहचर के साथ राजपथ होकर समारोहपूर्वक जा रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि छत्रपाणि पर पड़ी। वे निकट की राह की ही किसी गली में जा रहे थे। अनुचर को भेज कर उन्हें अपने पास बुलाया।

इस बार छत्रपाणि का आचरण बिल्कुल बदला हुआ था। अपनी पादुका और छत्र का त्यागकर, हाथ जोड़े वे राजा के समीप उपस्थित हुए।

प्रसेनजित् हँसकर बोले, "क्यों जी छत्रपाणि, इतने दिन बाद देख रहा हूँ कि तुम्हें यह स्मरण हो आया है कि मैं तुम्हारे देश का राजा हूँ।"

छत्रपाणि ने विनयपूर्वक उत्तर दिया, "महाराज की बात भूल जाऊँ, ऐसा, भी कभी हो सकता है क्या? पहले भी आपकी बात याद थी, आज भी है, सब दिन रहेगी।"

"अजी, सो क्यों नहीं? उस दिन प्रभु बुद्ध के दर्शनों को गया था, तुम्हें भी देखा। लेकिन लगा कि तुम मुझे देखकर उठे तक नहीं, अभ्यर्थना भी नहीं की!"

"उस दिन मैं बैठा हुआ था राजा से भी अधिक श्रेष्ठ प्रभु बुद्ध के पास। इसीलिए उस दिन आपके प्रति सम्मान निवेदित करना संभव नहीं हुआ। आज अपने राजा के पास आया हूँ, अभी राजा

के प्रति उचित सम्मान मुझे दिखाना ही होगा। ऐसा नहीं करने पर अपराधी होऊँगा।"

प्रसेनजित् इस उत्तर से वहुत खुश हुए।

वैशाली की गणिका आम्रपाली का नाम एक समय संपूर्ण उत्तर भारत में विख्यात था। रूप, यौवन और संगीतज्ञता में उसका जोड़ा उस समय नहीं मिलता। राजा विम्बिसार और सेठों के अनुग्रह के परिणाम स्वरूप आम्रपाली विपुल धन-संपत्ति की अधिकारिणी हो उठी थी। जीवन के शेष भाग में, वृद्धा हो जाने पर, प्रभु बुद्ध के दर्शनों के लिए वह आई और दर्शनमात्र से एक अपूर्व रूपान्तर घटित हुआ।

आम्रपाली की वड़ी इच्छा है कि शिष्यों और भक्तों के समेत बुद्ध को वह एक दिन अपने घर पर भोजन कराती। उस दिन प्रभु ने उसका निवेदन मान लिया। हर्ष से पुलकित होकर वह पालकी पर चढ़ शीघ्र ही घर लौट रही है।

राह में लिच्छवी वंश के एक दल विशिष्ट व्यक्ति से उसकी आँखें चार हुईं। ये तो उसके अतीव परिचित हैं। बातचीत के क्रम में प्रकट हुआ कि आम्रपाली बुद्ध को निमन्त्रित कर आई है। प्रभु अति भक्ति से प्रसन्न होकर ही ऐसा करते हैं। आज उसके आनन्द की कोई सीमा नहीं है।

लिच्छवियों को भी अचानक जिद चढ़ गई। आज वे ही बुद्ध को शिष्यों-सहित भोजन करायेंगे। उन्होंने अनुनय पूर्वक कहा, "आम्रपाली" हमलोग इतनी दूर से आये हैं, प्रभु का आजवाला निमन्त्रण तुम हमलोगों के लिए छोड़ दो। इसकी खातिर हम तुम्हें लाख रुपये देंगे।"

"लाख ही रुपये क्यों, सम्पूर्ण वैशाली का राज्य दे दिया जाय तो भी आज के दिन का यह अधिकार मैं नहीं छोड़ सकूँगी। आपलोग कृपया मुझे विवश नहीं करें।"

आम्रपाली की शिविका तेजी से चली गई। लिच्छवीगण अफसोस करते रह गये। बोले, "प्रभु बुद्ध की महिमा देखो। लेकिन आज हमलोग गणिका आम्रपाली के निकट पराजित हो गये।"

नव धर्म के प्रचार में बुद्ध का उत्साह और कर्मतत्परता असाधारण थी। वर्ष के वर्ष उन्होंने इस काम में एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमते बिता दिये। चरित्र के माधुर्य, व्यक्तित्व के प्रभाव और धर्मदेशना के माध्यम से हजार-हजार मनुष्यों को उन्होंने अपनी ओर खींच लिया।

बुद्ध की इस प्रबल आकर्षणी-शक्ति की कथा उस समय के साधक-समाज में सुविदित थी। एक संन्यासी साधक ने एक समय जैन-आचार्य महावीर को सतर्क करते हुए कहा था, "श्रमण, गौतम लोगों को एक अद्भुत माया से मोहित, आत्मसात् कर लेते हैं और अपना शिष्य बना लेते है। देखियेगा, कहीं आपका कोई शिष्य उनकी तरफ न जा निकले।

धीरे-धीरे बुद्ध ने भिक्षुओं का एक विराट् संघ बना लिया। उस संघ के सामने उन्होंने अपने को एक आदर्श भिक्षु के रूप में स्थापित कर दिया। प्रसिद्ध आचार्य और टीकाकार बुद्धघोष ने प्रभु बुद्ध की दिनचर्य्या का एक विवरण इस प्रकार दिया है।

प्रत्यूष बेला में उठकर चीवर पहन, वे ध्यानाविष्ट हो जाते। इसके बाद उनकी पाद-परिक्रमा और भिक्षा शुरू होती। एक-एक गँवई में एक-एक दिन घूमते, प्रत्येक घर के सामने हाथ में भिक्षापात्र लिए वे सिर झुकाकर दण्डायमान होते किसी गृहस्थ के घर के सामने से गुजरते समय न्यौता मिलता तो पर्य्यटन के अन्त में वहीं आकर भोजन का कार्य सम्पन्न करते। सारे दिन में एक वार से अधिक खाने का उनका अभ्यास नहीं था।

दोपहर में अपनी भिक्षा में प्राप्त सामग्री का ग्रहण करने के बाद भिक्षुगण प्रभु को घेर कर बैठ जाते और उपदेश तथा धर्मालोचना श्रवण करते।

सायंकालीन ध्यान के बाद सभी को प्रभु के निकट आना पड़ता, अपने-अपने ध्यान में प्राप्त अभिज्ञता वे प्रभु को वर्णित कर सुनाते। प्रयोजनीय उपदेशादि देने के बाद सभा भंग होती। अब बुद्ध अपने आसन पर जा बैठते और गंभीर ध्यान में डूब जाते।

भिक्षुगण त्याग और वैराग्य के प्रकृत पथ पर चल रहे हैं या नहीं, उनके ध्यान एवं धारणा की धारा अव्याहृत है या नहीं, इस सम्बन्ध में बुद्ध की दृष्टि सदा सतर्क थी। तीक्ष्ण दृष्टि से वे उनके आचरण लक्षित करते, साधारण त्रुटियाँ·विच्युतियाँ भी उनसे छिप नहीं पातीं।

राजगृह में रहते बुद्ध को एकबार शूल रोग हो गया और तब उन्होंने त्रिकटु-यागु खाकर आरोग्य लाभ किया। सेवक-भक्त आनन्द उसी सतर्कता की व्यवस्था में हिसाब से, पहले से ही थोड़ा त्रिकटु जुगाकर रखते। उसबार प्रभु के बीमार हो जाने पर वे ही चटपट त्रिकटु-यागु का पाक कर ले आये।

सामने में पथ्य पड़ते ही बुद्ध का सन्देह जगा। प्रश्न किया, "आनन्द, इतनी शीघ्रता में यह सब कहाँ से जुटा ले आये?"

उत्तर मिला, "भदन्त, त्रिकटु मैं जमा कर के रखता हूँ। आपको बीच-बीच में उदर-शूल का कष्ट होता ही है, इसलिए पहले से ही इतना पास में रख दिया था।"

"नहीं आनन्द, ऐसा मुझे कभी अभिप्रेत नहीं है। अच्छा—बोलो तो, भिक्षु क्यों किसी वस्तु को इस प्रकार जुगाकर रक्खेगा? अपने प्रयोजन से वह पाक भी क्यों करेगा? त्यागव्रती भिक्षु के लिए ऐसा करना घोर अपराध है। तुम यह घोर तर अन्याय कर रहे हो।"

इस तीव्र तिरस्कार से आनन्द के अनुताप की सीमा नहीं रही। माथा झुकाकर प्रभु के सामने वे खड़े रहे।

संसार अनित्य और दुःखमय है, यह कथा बुद्ध सुयोग पाते ही

अपने भिक्षुओं के मन में ग्रथित कर देते, और यह सुयोग वे साधारणत: किसी की मृत्यु होने पर पाते।

राजगृह नगर की गणिका श्रीमती का उन दिनों बड़ा नाम था। भक्त और दानशीला के रूप में उसे लोग जानते थे। साधु-संन्यासियों की सेवा और भिक्षा-दान में उसे सदा उत्साह रहता। संघ का एक तरुण भिक्षु यह सब जान-सुनकर एक दिन उसके घर जा उपस्थित हुआ।

श्रीमती उस समय बहुत बीमार थी, स्वयं आकर भिक्षु को भोजन के समय देखरेख नहीं दे सकी। दासियों ने ही अतिथि को तुष्टिपूर्वक भोजन कराया और फिर उसे श्रीमती के शयनकक्ष में लिवा ले गईं।

तरुणी गणिका का अपूर्व लावण्य देखकर अतिथि भिक्षु उस दिन संयम व्रत की रक्षा नहीं कर सका, उसके मन में तीव्र चंचलता और काम-विकार दिखाई पड़े।

संघाराम में वह लौट तो आया किन्तु उसका मन गणिका श्रीमती के पास ही लगा रहा। रूप के मोह में वह एकवारगी आत्मविस्मृत, उन्मत्त-सा हो गया। तपस्या की ओर दृष्टि नहीं दी, आहार-निद्रा छूट गई। दिन पर दिन वह बिछावन पर लेटा रहने लगा।

शिष्य के इस भावान्तर को बुद्ध लक्षित कर चुके थे। किन्तु उन्होंने उसे कुछ कहा नहीं।

उधर कुछ और दिनों तक रोग का भोग करने के बाद अचानक श्रीमती की मृत्यु हो गई।

राज्य की प्रचलित प्रथा के अनुसार लावारिस वेश्या का शव-संस्कार राजसरकार को ही करना होता था। उसी का ननु-नच चल रहा था। इसी समय बुद्ध ने सम्राट् बिम्बसार को कहला भेजा कि श्रीमती की मृत देह का संस्कार कुछ दिनों के लिए स्थगित रक्खा जाय। कहना न होगा कि प्रभु

का यह अनुरोध मान लिया गया।

अब बुद्ध अपने उस मोहान्ध शिष्य के साथ, अन्यान्य शिष्यों को लिए श्रीमती के भवन में गये। सम्राट् बिम्बिसार स्वयं भी उस स्थान पर आ पहुँचे हैं। देखा गया कि इतनी ही देर में मृत देह सड़ चुकी है, गलित मांस-स्तूप के बीच जुगुप्सित कीड़ों के झुण्ड पिच-पिच कर रहे थे।

बुद्ध शव की ओर उँगली से संकेत कर बिम्बिसार से बोले, "महाराज, मुझे कृपया बतायें, प्रसिद्ध गणिका की इस देह का आज रसिक-समाज क्या दाम देगा ?

"भदन्त, दाम देना तो दूर रहे अब कोई इस देह को छूना भी नहीं चाहेगा।"

भिक्षुओं की ओर फिर कर बुद्ध कहने लगे, "देखो लो, जिस रूप लावण्य-मय नारी-देह के प्रति लोक में ऐसा आकर्षण था, आज उसकी कैसी शोचनीय दशा हो आयी है। भिक्षुओं, यहाँ रहकर तुमलोग इस लोक की अनित्यता को जानने की चेष्टा करो।"

उस दिन के मर्मान्तिक दृश्य को देखकर भिक्षु-शिष्य का रूपज मोह टूट गया।

प्रधान पार्षद मौद्गल्यायन और सारि पुत्र की मृत्यु के दिन भी ठीक इसी तरह जगत् की दुःखमयता और विनाशशीलता की बात बुद्ध ने सभी भक्तों के हृदय में प्रविष्ट करा दी थी।

नये भिक्षुओं के बीच कभी-कभी आपसी कलह दिखाई देता। एकबार बुद्ध कौशाम्बी में ठहरे हुए हैं। इसी समय स्थानीय भिक्षुओं के आत्मकलह ने तीव्र आकार धारण कर लिया।

घर-संसार छोड़कर जो भिक्षु संघ में प्रवेश कर चुके हैं, निर्वाण का संकल्प ले चुके हैं, उनका इस तरह का आचरण क्यों ? बार-बार उन्होंने भिक्षुओं को समझाया, किन्तु उनके चित्त में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ा। अन्तर्द्वन्द्व बढ़ता ही चला।

क्षुब्ध होकर बुद्ध इसी समय कुछ दिनों के लिए एक निर्जन जंगल में चले गये और वहां अकेले बरसात बिताई। ध्यानानन्द और आत्मसमाहित अवस्था में उनके दिन व्यतीत होने लगे।

बौद्ध शास्त्र महावग्ग में है, कि इन दिनों बुद्ध के निभृत वास का एक मात्र संगी था एक जंगली हाथी। इस समय अधिकांश काल बुद्ध ध्यानस्थ रहते और इस दुर्गम अरण्य में उनका एक मात्र अनुचर और सेवक यही जन्तु रहता। निकट के सरोवर से वह उनके लिए जल ला देता। बीच-बीच में बसे गाँवों में बुद्ध भिक्षा के लिए निकलते और एकनिष्ट अनुचर की तरह वह जंगली हाथी उनके साथ-साथ, सूँड़ में उनका भिक्षापात्र लटकाये हुए। विस्मित ग्रामवासी इस अद्भुत दृश्य को देखने के लिए भीड़ लगाये रहते थे।

बुद्ध का यह निर्जन-वास बहुत दिनों तक नहीं चला। उनके द्वारा संघाराम का त्याग किये जाने पर भिक्षुओं का चैतन्योदय हुआ और कलह मिट गया। इसके बाद आनन्द और दूसरे-दूसरे भिक्षु जंगल में आकर उपस्थित हुए। सभी के अनुनय-विनय के पश्चात् बुद्ध कौशाम्बी को लौटे।

राजगृह के निकट ऋषिगिरि में रहकर मौद्गल्यायन उसवार कठोर तपस्या कर रहे हैं। गिरि-कन्दरा से निकलकर बाहर बहुत कम जाते हैं, निःसंग अवस्था की साधना में वे एकवारगी रत हो गये हैं। बुद्ध के विरोधियों ने देखा कि यह तो अच्छा अवसर है। मौद्गल्यायन बौद्धसंघ के बड़े वृहत् स्तम्भ हैं, इनका विनाश कर देने से नव धर्म का प्रभाव नष्ट हो जा सकता है।

उनलोगों के अचानक आक्रमण में मौद्गल्यायन निहित हुए।

सम्राट् के गुप्तचरों के प्रयत्न से पाषण्डियों का दल जल्द ही पकड़ा गया और न्याय-विचार के बाद अपराधियों को प्राणदण्ड दिया गया।

मौद्गल्यायन की हत्या का संवाद बुद्ध को मिला। अन्यतम

पार्षद की उस शोचनीय मृत्यु के संवाद से उनके चित्त में किसी तरह की चंचलता नहीं देखी गई। पूरी कहानी सुन लेने के बाद नितान्त निर्विकार भाव से केवल इतना कहा, "भिक्षुओं, इसकथा को भूलना मत। हमलोगों के परम सहायक बन्धु मौद्गल्यायन की इस तरह जो मृत्यु हुई है, सो उनके अपने पूर्व जन्म के कर्म के परिणाम स्वरूप। मनुष्य के अपने कर्म ही उसके जीवन-प्रवाह को नियन्त्रित करते हैं। मौद्गल्यायन के लिए शोक करना अथवा उनके निहत होने का संवाद पाकर दुःख करना हमारे लिए उचित नहीं है।"

सारिपुत्र के देहत्याग के दिन भी बुद्ध उसी तरह शान्त, अविचल थे। महाज्ञानी, महावीर, सारिपुत्र इस संघमण्डली के मध्यमणि थे और बुद्ध के तो दाहिने हाथ ही थे। उस दिन प्रभु बुद्ध शिष्यों से घिरे बैठे हैं। धर्म का उपदेश और उसकी व्याख्या, विश्लेषण जारी हैं, इसी समय सारिपुत्र भाई दुःसंवाद लेकर वहाँ उपस्थित होता है। मृत व्यक्ति का चीवर और भिक्षापात्र बुद्ध के चरणों तले रखकर शोकार्त्त भाव से वे रोने लगे।

शान्त स्वर और गंभीर भाव से प्रभु बुद्ध ने परिनिर्वाण-प्राप्त प्रियतम शिष्य की प्रशस्ति बड़ी देर तक की। बोले, "सारिपुत्र समग्र जीवन में धर्म के निमित्त विपुल त्याग स्वीकार कर गये हैं। मेरे नव धर्म के प्रचार में वे पृथ्वी जैसा धैर्य और सींग से रहित—अर्थात् हिंसा-विरहित वृष जैसी शक्ति प्रदर्शित कर गये हैं।"

चीवर और भिक्षापात्र की ओर उँगली दिखाकर बुद्ध ने कहा, "भिक्षुओ जो महापुरुष धर्म और संघ के निमित्त अदम्य उत्साह के साथ इतने दिनों तक प्रयत्न करते रहे, यह देखो, आज उनकी याद दिलानेवाली ये दो छोटी, भंगुर वस्तुएँ ही बच रही हैं।"

भक्तों की आँखों से इस समय आँसू की धारा बह रही थी।

किसी की भी मृत्यु होने पर बुद्ध इसी तरह जीवन की नश्वरता की

बात शिष्यों के अन्तस्तल में प्रविष्ट कराते। बीच-बीच में वे भिक्षुओं को निर्देश देते, "जाओ, श्मशान जाकर कुछ देर तक बैठो, चिताग्नि में मनुष्य की परम प्रिय देह किस तरह भस्मीभूत होती है, धूमाकार होकर कैसे ऊपर उठती और एक बारगी आकाश में विलीन हो जाती है, सो देखो। संसार की अनित्यता का वृत्तान्त प्राप्तकर तुमलोग सभी निर्वाण प्राप्त करने के लिए तत्पर हो जाओ।"

श्रावस्ती के एक संघाराम में बुद्ध उस वर्ष की बरसात व्यतीत कर रहे हैं। किसी-गौतमी नामक एक पुत्रशोकातुरा माता रोती हुई एक दिन उनके सम्मुख उपस्थित होती है। सद्यामृत सन्तान को घर में रखकर वह वहाँ भागी आई है। उसने सुन रक्खा है कि प्रभु बुद्ध एक शक्तिसंपन्न महापुरुष हैं, मनुष्य की जरा-व्याधिमृत्यु के दुःख का अन्त करने के लिए उनका अवतार हुआ है।

दुःखिनी नारी ने बुद्ध के दोनों चरण पकड़ लिए हैं। आर्त्त स्वर में वह कहती जा जा रही है कि प्रभु को आज कृपा करके उसके मृतपुत्र को जीवित करना ही पड़ेगा। यदि अलौकिक शक्ति ही नहीं है, मृतदेह को यदि जिला नहीं सकते हैं, उनकी धर्म-देशना का मूल्य ही क्या होगा? क्यों वे सहस्र-सहस्र लोग उनके पीछे-पीछे चलेंगे, सर्वस्व-त्याग करके भिखारी बनेंगे?

उत्तर मिला, "बहन, तुम्हारे मृत पुत्र को मैं बचा दे सकता हूँ। किन्तु उसके पहले तुम्हें एक काम करना होगा। ऐसे किसी घर से एक मुट्ठी सरसों तुम ले आओ, जिस घर में किसी दिन मनुष्य नहीं मरा हो, जिस स्थान पर शोक की काली छाया कभी नहीं पड़ी हो।"

आँख के आँसू पोंछकर शोकाकुला नारी उसी समय बाहर निकली। जैसे भी हो वह वैसी सरसों आज लेकर ही लौटेगी। पुत्र की जिन्दगी उसे हर कीमत पर वापिस मिलनी ही चाहिए।

हर दरवाजे पर वह एक मुट्ठी सरसों माँगती फिर रही है। साथ ही वह सवाल करती है—"अरी, ठीक बताना, तुमलोगों को कभी किसी शोक का आघात तो नहीं लगा न? कभी कोई इस परिवार में मरा तो नहीं?

कोई कभी मरा हो तो भीख नहीं ली जायगी।"

उस सरसों की खोज में सारा दिन बीत गया। अनाहार और राह की थकान से उसकी देह अवसन्न हो गई। अनेक सौ घर तो वह देख चुकी है किन्तु कहीं भी वह ऐसा नहीं सुन सकी कि वहाँ शोक की मलिन छाया कभी न पड़ी हो। सच ही तो, इस विश्व-संसार में सभी की तो एक-सी ही दुर्दशा होती है! दुःख, शोक और मृत्यु को अतिक्रम करना किसी के लिए भी संभव नहीं है।

मनुष्य-जीवन की अनित्यता की मूलकथा किसा-गौतमी के अन्तर में इस बार ग्रथित हो जाती है। इसके साथ-साथ उसमें मुमुक्षा की तीव्र व्याकुलता जगी। अब परित्राण कहाँ है? मुक्ति की राह अब कौन बता देगा?

किसा-गौतमी के हृदय-पट पर इस बार प्रभु बुद्ध के प्रशान्त नयन और उनकी वह अविस्मरणीय करुणाधन मूर्ति प्रतिभासित हो उठी। वह जल्दी-जल्दी संघाराम को लौटी और बुद्ध तथागत के चरणों तले लोटने लगी। मृत-पुत्र के जीवन के लिए नहीं, इसबार वह मुक्ति-भिक्षा के लिए विनती कर रही है।

मृत पुत्र के देह-संस्कार के पश्चात् किसा-गौतमी बुद्ध की शरण चिरतर काल तक के लिए ग्रहण करती है।

बुद्ध का नवधर्म सर्वजनीन और परम उदार था। जाति-वर्ण का भेद किंवा स्त्री-पुरुष का अन्तर उसमें किसी प्रकार मान्य न था। किन्तु स्त्रियाँ संन्यास लेकर घर-संसार छोड़ दल बाँधकर भिक्षु-संघ में प्रवेश करें, यह तथागत नहीं चाहते थे। बाद में उनके विचार में परिवर्त्तन हुआ और उन्होंने स्त्रियों को प्रव्रज्या ग्रहण करने एवं संघ में प्रवेश करने की अनुमति दी।

वैशाली की कूटागारशाला में उसबार बुद्ध अवस्थान कर रहे हैं। इसी समय एक दल शाक्यकुल की नारियों को साथ में लेकर महाप्रजावती वहाँ उपस्थित हुई। सभी ने दृढ़ निश्चय कर रक्खा था, वे भिक्षुणी का व्रत

ग्रहण करेंगी ही, इसके लिए वे बुद्ध की अनुमति चाहती हैं। वे पैदल चलकर लम्बी राह तय करती आई हैं। क्लान्त, धूलिमलिन देह लिए वे बुद्ध के द्वारपर खड़ी हैं ! उन्हें ज्ञात है कि संघ में नारियों के प्रवेश को लेकर प्रभु उत्साह-युक्त नहीं हैं। इसलिए मन में डरी हुई हैं, कौन जाने अनुमति मिलती है कि नहीं।

महाप्रजावती बुद्ध की निरी सौतेली माँ नहीं हैं, उन्होंने उन्हे हृदय से लगाकर पाला है। वह महीयसी नारी आज अपनी सखियों के साथ प्रार्थिनी बनकर आई हैं।

आनंद उनलोगों के सत्कार का संकेत देकर तत्क्षण बुद्ध के पास पहुँचे। बोले, "भदन्त, महाप्रजावती दलबल समेत आज संघाराम में पहुँची हैं। नारियों के लिए भिक्षुणी-संघ गठित करने का अधिकार वे चाहती हैं। आप कृपा कर वह अनुमति आज दें।

बुद्ध ने संक्षिप्त उत्तर दिया, "नहीं आनन्द ऐसा नहीं हो सकेगा। तुम इसके लिए मुझसे अनुरोध मत करो।"

आनन्द स्वभाव से ही बड़े मानव प्रेमिक थे। प्रभु का वह उत्तर सुनकर उनके मनको चोट लगी। कुछ देर तक चुप खड़े रहे फिर बोले, "भदन्त कामना-वासना त्यागकर संसार को छोड़कर यदि नारी संन्यास लें, तो क्या वे अर्हत् का पद नहीं प्राप्त कर सकती हैं ? आपकी बताई हुई रीति से साधना करके क्या वे निर्वाण नहीं पा सकती ?

"आनन्द, तुम्हारा कहना ठीक है, मेरे द्वारा बताये गये मार्ग पर चलकर वे भी निर्वाण प्राप्त कर सकती हैं। किन्तु इस क्षेत्र में संघ और समाज इन दोनों के कल्याण की बात, भविष्यत् की कथा पर मैं सोच रहा हूं।"

आनंद ने प्रभु को विनय पूर्वक कहा, "भदन्त, जो करुणा लेकर आप मानव-कल्याण के लिए अवतीर्ण हुए हैं, वह क्या केवल पुरुषों को ही प्राप्त होगी ? मानव जाति की अर्द्ध—भागिनी क्या उससे वंचित रहेगी ! आपके

धर्म में यह विषमता कैसे रहेगी ? इसके अतिरिक्त यह भी तो देखें कि आपके द्वार पर स्वयं महाप्रजावती खड़ी हैं। तथागत को जिन्होंने अपना स्तन्य देकर पाला है, संघ का द्वार उनके लिए बन्द रखना क्या समीचीन होगा ? वे संघ-प्रवेश का अधिकार नारी-जाति के लिए चाहती हैं। कृपा करके आप इसकी स्वीकृति दें।

नारियों का आवेदन उस दिन बुद्ध को मान लेना पड़ा। आठ विशेष धर्म-नियम पालने की शर्त स्वीकृत कर उस दिन उन्हें बुद्धने संघ में प्रविष्ट होने की अनुमति दी।

भिक्षु संघ में देवदत्त था स्वातंत्र्यवादी। महत्वाकांक्षा और कर्तृत्व की लिप्सा भी उनकी बड़ी प्रबल थी। बुद्ध उस समय तक वृद्ध हो चले थे। उम्र सत्तर से अधिक की हो गई थी, देह पहले की तरह कर्मक्षम नहीं रह गई थी। देवदत्त ने इसी सुयोग में एक दल पक्का कर लिया था।

एक दिन देवदत्त की उद्धतता पराकाष्ठा पर पहुँच गई। राजगृह की एक धर्मसभा में वे बुद्ध को कह बैठे, "भदन्त, बुढ़ापे के बोझ से आपकी देह अब जीर्ण और बेकाम हो गई है। अब संघ का भार मुझे देकर आप विश्राम ग्रहण करें।

बुद्ध खूब अच्छी तरह जानते थे कि देवदत्त आत्मंभरि और प्रभुत्वप्रिय हैं। इसीलिए किंचित् रुक्षस्वर में स्पष्ट भाषा में उन्हें उसी दिन जतला दिया, "देवदत्त, संघ का नेतृत्व ग्रहण करने के लिए चरित्र में जो उदारता और महत्व चाहिए उसे तुम अर्जित नहीं कर सकोगे। पहले अपनी तैयारी पर तो ध्यान दो।"

देवदत्त का आक्रोश और भी तीव्र हो उठा। उन्होंने निश्चय किया कि किसी उपाय से बुद्ध को संघ के नेतृत्व से हटाना चाहिए।

अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए देवदत्त ने राजकुमार अजातशत्रु को कब्जे में किया। उसको समझाया, "सम्राट् बिम्बिसार बूढ़े हो चले हैं,

किन्तु आज भी वे सिंहासन छोड़ने का नाम नहीं लेते हैं। कुमार, अब तो आपकी उम्र भी हो गई। कहिये तो, राजत्व के सुख और ऐश्वर्य का भोग अब कब कीजियेगा ?"

साजिश ठन गई, राजकुमार सम्राट् की हत्या करेंगे और देवदत्त निर्मम हाथों से बुद्ध को निपटा देंगे। इस तरह शीघ्र ही राजशक्ति और धर्मसंघ का शासन उनके हाथों में आ जायगा।

राजमंत्री की सतर्कता के चलते पितृद्रोही अजातशत्रु की पोल शीघ्र ही खुल गई। वे पकड़ा गये। किन्तु बिम्बिसार ने उस दिन अपने कुमार्गगामी पुत्र को माफ कर दिया।

उस समय बुद्ध गृध्रकूट पहाड़ी पर रहते हैं। इसी समय उनकी हत्या की नीयत से देवदत्त तीरन्दाजों के एक दल को भेजता है। तीरन्दाजों को कह दिया गया था कि वे सामने आते ही बुद्ध की हत्या कर दें।

पैदल चलते-चलते बुद्ध पहाड़ से नीचे उतरते हैं, आततायिगण उनकी ताक में सधे तैयार हैं। पास ही में उनका सौम्यसुन्दर मुखड़ा दिखाई पड़ा, क्षण भर में वहाँ इन्द्रजाल घटित हो गया। तीरन्दाजों के हृदय में अचानक तीव्र अनुताप की आग धधक उठी। कुछ द्रव्य के लोभ में वे ऐसे दिव्यकान्तिधर महापुरुष के प्राण लेने आये हैं छिः, छिः। इस पाप का तो प्रतीकार ही नहीं है।

हाथ के तीर-धनुष नीचे डालकर उनलोगों ने बुद्ध के चरणों तले आश्रय ग्रहण किया।

पहाड़ के ऊपर से पत्थर का एक विशाल खण्ड नीचे लुढ़काकर बुद्ध की हत्या की कोशिश की गई। उस दिन भी उस नृशंस षड्यन्त्र के नायक देवदत्त ही थे। भाग्य-विधान से ही उस दिन बुद्ध के प्राण बचे, किन्तु पत्थर की चोट से उनके पाँव में एक जहरीले घाव की सृष्टि हो गई।

सुप्रसिद्ध राजवैद्य जीवक बुद्ध के अन्यतम भक्त थे, उनकी चिकित्सा के फलस्वरूप इस रोग से वे मुक्त हुए।

अजातशत्रु की मदद से देवदत्त ने फिर एकबार बुद्ध के वध की चेष्टा की। अन्य दिनों की तरह उस दिन भी बुद्ध भिक्षाटन के लिए बाहर निकले। साथ में कई अन्तरंग भक्त थे।

राजपथ के बीचो-बीच पहुँचने के साथ-साथ देखा गया, एक उन्मत्त हाथी बड़ी तेजी से बुद्ध और उनके शिष्यों की तरफ टूटा आ रहा है। भीतसंत्रस्त राही हाय-हाय करने लगे।

उद्दाम, उन्मत्त हाथी वेगपूर्वक टूटा पड़ा आ रहा है, यह दृश्य देखकर भक्त आनन्द के प्राण रो पड़े—इस विपत्ति के समय सब से पहले तथागत के प्राणों की रक्षा करनी चाहिए। दोनों हाथ फैलाकर वे हाथी की तरफ दौड़ पड़े। स्वयं मरकर प्रभु को तो बचाया जा सकेगा।

बिजली की गति की-सी शीघ्रता से आनंद को एक हाथ से पीछे खींच बुद्ध उस समय मत्त हाथी के सामने जाकर खड़े हो गये। उनकी अलौकिक शक्ति के सम्मुख हीनबल होकर हाथी भाग खड़ा हुआ।

हाथी के भाग जाने के बाद पता चला कि देवदत्त के उकसाने पर कुमार अजातशत्रु के चारों ने उस पगले हाथी को राजकीय हथसार से खोलकर छोड़ दिया था। बुद्ध और उनके साथियों की हत्या करने के लिए ही उस विक्षिप्त जीव को मुक्त किया गया था।

देवदत्त की दुष्कृतियों का प्रतिरोध करने वा दमन करने की बात जब कभी उठती तो बुद्ध हँसकर कहते, "तुमलोग व्यर्थ में परेशान मत हो। जो मूर्ख है उसे लोग जान ही जाते हैं।"

कुछ दिनों के बाद देवदत्त की शत्रुता और भी प्रबल हो उठी। वे बुद्ध को 'बाहुल्यभोगी' कहकर बदनाम करते फिरते। साथ-ही-साथ अपनी मर्यादा बढ़ाने के लिए वे संघ में कठोरतर साधना और कृच्छ्रतर प्रस्ताव का उत्थापन करते। कहना नहीं होगा कि मध्यममार्ग के समर्थक बुद्ध इन बातों पर ध्यान नहीं देते थे। इसके बाद देवदत्त ने भिक्षुओं का एक नया दल

तैयार कर लिया और गयाशीर्ष पहाड़ी पर चले गये। इस बार एक नये संघ की स्थापना के लिए वे तत्पर थे।

यह नवपन्थी दल अधिक समय तक टिक नहीं सका। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के कौशल और व्यक्तित्व के प्रभाव से उसमें के अधिकांश सदस्य बुद्ध के आश्रय में लौट आये।

देवदत्त का प्रभाव और प्रतिपत्ति इसके बाद और अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकी। जीवन के बचे हिस्से में वे पश्चात्ताप की ज्वाला में तड़पते देखे जाते। बुद्ध के चरणों में क्षमा-भिक्षा के लिए उन्होंने यात्रा की, किन्तु दुर्भाग्य-वश, उसकी मृत्यु रास्ते में ही हो गई।

आचार्यजीवन के लम्बे पच्चास वर्ष बीत चुके थे। किन्तु प्रचार और परिव्राजन में एक दिन के लिए भी बुद्ध में उत्साह का अभाव नहीं देखा गया। निर्वाण प्राप्त मुक्त पुरुष होने से क्या, कर्मव्रत-साधन में वे चिरदिन अनलस रहते। वर्ष-पर-वर्ष घूम कर उन्होंने सारे उत्तर भारत को नाप लिया था, एकान्त अन्तरंग-भाव से जन-जीवन के साथ अपने को मिला दिया था।

प्रतिदिन आठ-दस कोस की पाद-परिक्रमा और भिक्षा-पर्यटन उनकी नियमित दिनचर्य्या के अन्तर्गत था। और इस भ्रमण के बीच होकर वे राजा-प्रजा, धनी-निर्धन सकल मनुष्यमात्र के साथ नियत योग रखते थे। समाज के हरवर्ग के साथ उनका निविड़ परिचय था।

जनसाधारण के सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा के साथ जैसा सम्बन्ध इस लोकोत्तर महापुरुष का था, वैसा ही सम्बन्ध उनके अध्यात्म-प्रयास की निरंतर प्रेरणा के उद्देश्य के साथ भी। लेकिन जीर्ण पुरातन शरीर, पहले की तरह अब और कर्म-भार सहना जैसे नहीं चाहता था, धीरे-धीरे वह काम का नहीं रह गया। कभी-कभी नितान्त रुग्नता आ पड़ती, तब भिक्षा के लिए अपने बदले आनन्द को बाहर भेजते।

अनुमानतः ईसा से ४८३ वर्ष पहले की कथा है। बुद्ध को लगता है कि मर्त्यलीला का अन्तिम अध्याय समाप्ति के करीब पहुँच गया है। इस समय वे भक्त शिष्यों और अनुरागियों को एकबार और अपना दर्शन करा देने की खातिर बाहर जाना चाहते हैं। और दिनों की तरह अपने जीवन के स्पर्श को वितीर्ण करने की इच्छा वे कर रहे हैं। इसीलिए रुग्न शरीर लिए ही, उस दिन वे राजगृह से बाहर निकले।

वैशाली पहुँचने पर देखा गया कि शरीर बहुत जीर्ण और कमजोर हो हो गया है। आनन्द घबड़ा गये। तो क्या तथागत का महाप्रयाण अचानक आ पहुँचा है?

खेद के साथ निवेदन किया, "भदन्त, आपकी कृपा से मनुष्य के कल्याण के निमित्त यह विराट् धर्मसंघ बन गया है। महाप्रयाण से पहले क्या आप इसे दृढ़स्थायी नहीं कर जायेंगे? सारी उचित व्यवस्था पहले ही क्या नहीं कर लेंगे?"

साथ-ही-साथ स्पष्ट उत्तर मिला, "आनन्द, तुम क्या कहना चाहते हो? संघ मुझसे अब और क्या आशा करता है? धर्म के सम्बन्ध में मुझे जो कुछ कहना था, वह मैं बार-बार अच्छी तरह कह चुका हूँ। कहीं कुछ छिपाया नहीं, कृपणता नहीं की। फिर तथागत ने तो कभी नहीं सोचा कि वे संघ की परिचालना करेंगे, अथवा संघ उनके ऊपर दीर्घकाल तक निर्भर रहेगा तब आज इसकी व्यवस्था को लेकर मैं माथापच्ची किस लिए करूँ?"

अन्तरंग भिक्षुओं ने चुपचाप खड़े-खड़े प्रभु की बात सुनी। उनकी दृष्टि स्वच्छ हो गई। सच ही तो! इस विराट् धर्मसंघ के जो प्रवर्त्तक और परिपोषक हैं, आज उनके अन्तर में इसके लिए रत्ती भर ममत्व अवशिष्ट नहीं है। रहने की इच्छा भी नहीं है। समस्त वासना या तृष्णा के उस पार वे पहुँच गये हैं। निर्वाण के परम तत्त्व को वे अपने जीवन में मूर्त्त कर चुके हैं।

बुद्ध कहते चले गये, "देखो, मैं अब बूढ़ा हो गया हूँ, लगभग अस्सी वर्ष की उम्र हो गई है। पुरानी टूटी गाड़ी की तरह जोड़-तोड़ लगाकर अभी शरीर धारण करना पड़ रहा है। केवल एकान्त और निरन्तर ध्यान के समय, इस समय तथागत का शरीर स्वस्थ रहता है इसलिए तुमलोग अब इस देह का भरोसा छोड़ दो, अपने-अपने आत्म-विश्वास और तपस्या के भीतर से अपने परम आश्रय को ढूँढ़ लो। आनन्द, जान रक्खो, जो भिक्षु धर्माश्रय और धर्म की शरण लेकर रहेगा, उसी के भाग्य में अन्धकार में आलोक को उतारना बदा होगा।"

भक्तगण चौंक उठे। क्या प्रभु अपने मुख से अपनी आसन्न बिदाई की कथा बोल गये हैं? सभी के हृदय में विषाद की काली छाया छा गई।

भ्रमण के मार्ग में पाराग्राम पड़ता है। बुद्ध के गृहस्थ भक्त चुन्द नामक बढ़ई का घर यहीं है। चुन्द को एक मनोरम आम्रकानन था, बुद्ध शिष्यों के साथ उसी में आ ठहरे।

चुन्द बहुत ही सीधा और भक्त था। उसके बगीचे में आज प्रभु उसके अतिथि होकर ठहरे हुए हैं, इस बात को लेकर उसके आनन्द की कोई हद नहीं। अपनी शक्ति के अनुरूप उसने प्रभु और उनके भक्तों के भोजन का आयोजन किया।

उन दिनों खाद्य-पदार्थ में सूकरमद्दव के व्यंजन की बड़ी तारीफ थी। शूकर के आकार का यह कन्द स्थानीय लोगों को खूब प्रिय था। उत्साही चुन्द ने उस वस्तु का पाक उस दिन यथेष्ट मात्रा में तैयार करवाया था।

भोजन करने बैठकर प्रभु बुद्ध बोले, "सूकरमद्दव का यह व्यंजन बड़ा गुरुपाकी होता है, खासतौर पर मेरे रुग्न शरीर के लिए यह अत्यन्त अपकारक है। किन्तु कोई उपाय नहीं है, भक्त चुन्द ने बड़ी उम्मीद के साथ इसका आयोजन किया है। कितनी प्रचुर रसोई तैयार कराई गई है।

मैं नहीं खाऊँगा तो उसे बहुत दुःख होगा ।

भक्त की प्रीति रखने के लिए उस दिन उन्होंने पूरा व्यंजन खा लिया । उसके बाद निदारुण पीड़ा शुरू हुई । पेट में तीव्र-यन्त्रणा और रक्तस्राव के परिणामस्वरूप उनकी अवस्था क्रमशः संकटजनक होती गई ।

किन्तु तब भी बुद्ध अपनी यात्रा स्थगित करने की खातिर राजी नहीं हुए । व्याधि के प्रकोप में ही रास्ता चलना शुरू हो गया । कुशीनगर आज उन्हें हाथ उठा-उठाकर बुला रहा है । कौन जाने उनके मन में ऐसा किस लिए हो रहा है कि आज वहाँ पहुँचना ही चाहिए । जितना भी कष्ट हो पर पथ पर यह अविराम चलना बन्द नहीं होगा । रोग-जर्जर क्षीण शरीर को अत्यन्त कष्टपूर्वक ढोकर वे चलने लगे ।

रास्ते में ककुछ नाम की नदी आई । उसके सोते में नहाकर बुद्ध ने एक उद्यान में विश्राम किया । इस समय उन्होंने आनन्द को बुलाकर कहा, "देखो, मेरी व्याधि के प्रकोप की वृद्धि का दोष कोई चुन्द को नहीं लगाये । उसने खाने की जो भी सामग्री दी, बड़ी भक्ति के साथ दी । वह स्वयं भी अपने मन में ग्लानि का अनुभव नहीं करे । मैं उसे हृदय से आशीर्वाद दिये जाता हूँ ।"

कुछ देर तक चुप रहने के बाद हँसते हुए बोले, "सुजाता के दिये हुए पायसान्न ने निर्बाण लाभ के पहले इस देह को संजीवित किया था, और चुन्द का व्यंजन इसे अगवानी किये, परिनिर्माण की ओर लिये जा रहा है । ये दोनों ही आहार मुझे एक जैसे प्रीतिकर लग रहे हैं ।"

साथ के भिक्षुगण समझ रहे हैं कि तथागत के जीवन-नाट्य के यवनिका-पात में अब अधिक बिलम्ब नहीं है । आसन्न विरह की व्यथा से सभी का मन भाराक्रान्त है ।

अचानक आनन्द की दृष्टि पड़ी बुद्ध के मुख की ओर, वे चौंक पड़े। कैसी दिव्य दीप्ति उनके मुख-नेत्रों पर है ?

विमुग्ध सेवक ने तथागत से तत्क्षण प्रश्न किया, "प्रभु, आज देखता हूँ आपके संपूर्ण शरीर पर एक अपूर्व लावण्य छा उठा है। मुखमण्डल पर दिव्य आनन्द की ज्योति उद्भासित हो रही है। आज सहसा ऐसी अलौकिक अंगच्छटा क्यों होती जा रही है ?

उत्तर में बुद्ध ने कहा, "आनन्द, आज बहुत दिन पहले की स्मृति याद आ रही है। बोधिद्रुम के तले बैठकर निर्वाण-प्राप्ति करने के शुभ क्षण में भी मेरी ऐसी ही देह-ज्योति दिखाई पड़ी थी। आज फिर उसका आविर्भाव होते देखता हूँ। तथागत के परिनिर्वाण का शुभक्षण भी अब आ गया जान पड़ता है।"

सामने ही स्वच्छ जलवाली हिरण्यवती नदी है, उसके उसपार कुशीनगर है। नदी पारकर बुद्ध नगरी के उपान्त में स्थित शाल के जंगल में बैठे। देह अब चिर विश्राम के लिए मचल रहा है। पेड़ के तले सेज रचकर आनन्द ने प्रभु को लिटा दिया। भक्तों के हृदय में अब शोक उमड़ रहा है।

किन्तु अन्तिम समय के करुण दृश्य को सह्य करना आनन्द के लिए असम्भव है। पास के एक पेड़ के तले बैठकर वह रोने लगे।

यह कैसा आचरण बुद्ध के अन्तरंग सेवक-शिष्य का ? उनमें यह शोकोच्छ्वास और चंचलता क्यों ?

तत्क्षण उन्हें पास बुलवा लिया। इसके बाद शान्त गंभीर स्वरमें उन्हें उपदेश और सान्त्वना की वाणी प्रदान की, "आनन्द, तुम शोक क्यों कर रहे हो ? इस तरह रो क्यों रहे हो ? जिन्दगी भर मैंने तुम्हें कहा, उपदेश दिया—यह जीवन नितान्त नश्वर है, हमें जो कुछ भी प्रिय है उसका त्यागकर चले जाना होगा। विचार कर देखो, जिस वस्तु की उत्पत्ति है उसका विनाश तो है ही ! तुम एकनिष्ठ भाव से मेरी सेवा करते हो और इस सेवा

की कोई बराबरी नहीं है। फिर साधना के जीवन में भी तुम मेरे प्रिय और अन्तरंग हो। अब निर्वाण के निमित्त चरम प्रयास करो। आत्मशक्ति के बल से आगे हो जाओ, मैं चलता हूँ, तुम शीघ्र ही परम मुक्ति प्राप्त करोगे।"

इसके बाद अन्यान्य भक्त और शिष्यों को पास बुलाया। अन्तिम बिदाई की बात जानकर शत-शत भिक्षु और गृहस्थ इसी बीच शालवन में भीड़ लगा चुके हैं। बुद्ध ने अब किसी को लक्षित कर अपनी आखिरी बात कही "मेरे उपदेश तुम सदा स्मरण रखो, स्थूल, सूक्ष्म सभी वस्तुएँ परिणाम में विनाशशील हैं; त्याग और तितिक्षा के बीच होकर अप्रमाद के साथ निर्वाण-लाभ के लिए तुम लोग यत्न करो। यही मेरी पहली बात थी, और आखिरी बात भी यही है।"

लुम्बिनी के शालकुञ्ज में अस्सी वर्ष पूर्व जिस महाजीवन का आविर्भाव हुआ था, *कुशीनगर के मल्लशालवन में आज उसका महापरिनिर्वाण हो गया। रात के तीसरे पहर में बुद्ध ने अपनी आखिरी साँस छोड़ी।

सहस्र-सहस्र शोकार्त्तों के दीर्घ श्वास और अश्रु-वर्षण से बरसात के आकाश की हवा धीमी हो उठी। मूक वनभूमि ने भी अपनी श्रद्धाञ्जलि का अर्पण नहीं छोड़ा, शाल के अजस्र फूल तथागत की अन्तिम शय्या के चारो तरफ झड़झड़ा कर बरसते रहे।

—o—

*गोरखपुर से तीस मील दूर, वर्त्तमान काशिया नामक जनपद आज भी गौतमबुद्ध के तिरोभाव के पवित्र चिह्न को दिल में दबाये हुए है। देश-विदेश के अगणित नर-नारी गण आज भी उनकी अमर स्मृति के उद्देश्य से वहाँ श्रद्धा निवेदन करने आते हैं।

लोकनाथ ब्रह्मचारी

श्री लोकनाथ ब्रह्मचारी

एक रहस्यमय उन्मत्त संन्यासी! उलंग हो पथ-प्रान्तर नदी किनारे घूमता फिरता है। नारायणगंज के वारदीग्राम में वह कुछ ही समय पूर्व आया है। किन्तु इस अंचल के निस्तरंग जनजीवन में उसने जैसे एक आलोड़न ला दिया हो। स्नान-घाट के नरनारी इस असभ्य पागल को देखते ही मारने लगते हैं और वह झाड़-झंखाड़ के पीछे लुकछिपकर खिलखिलकर हँसता रहता है। बालकों का दल जब ढेला चला चलाकर बहुत ज्यादा उत्पीड़ित करता है तब वह अञ्जलिपूर्ण मूत्र फेंक-फेंककर उन्हें भगादेता है। ग्राम के लोग इस उन्मादी पुरुष को समझते नहीं और वह भी जैसे पकड़ में आनेका नहीं। स्वच्छ नीलाकाश और दिगन्त तक फैले हुए हरित क्षेत्र के साथ उसकी एकान्त मैत्री थी। पथ-प्रान्तर और नदीतीर में वह क्यों उलंग हो इस तरह घूमता फिरता है, इसे कौन कह सकता था? किन्तु जनसमाज के साथ उसके परिचव का लग्न एकदिन उपस्थित हो ही गया। वारदीग्राम के कई संभ्रान्त ब्राह्मण एक साथ बैठकर एकदिन यज्ञोपवीत तैयार कर रहे थे। हठात् सूत्र-सब एक जटिल बन्धन में उलझ गये। बहुत चेष्टा से भी वह किधर से भी सुलझ नहीं रहे थे। ऐसे समय में वह उन्मत्त व्यक्ति वहाँ आ उपस्थित हुआ। आचार-विचार हीन, यत्र-तत्र विचरणकारी पागल को आते देख ब्राह्मण-गण शंकित हो उठे। प्रकृत परिचय तो किसी को ज्ञात नहीं था। वह अस्पृश्य है या अन्त्यज, इसे कौन जाने? इस लिए ब्राह्मणों ने उसे निकट आने से मना किया।

पागल ने स्मित-हास्य के साथ उनसे पूछा, "जनेऊ के पेच किस तरह खोले जाते हैं ?

"क्यों ? गायत्री जपकर।"

"तब वह करते क्यों नहीं ?"

ब्राह्मणों के मन में कुतूहल हुआ। एक ने अनुरोध किया, "तुम्हीं इसे क्यों न खोल देते हो ?"

पगले ने यज्ञोपवीत के ऊपर हाथ रखकर गायत्री मंत्र का जप किया। उसके बाद जपशेष होने पर करताली दे उसने सूत्र के दो सिरों को दो ओर से खींचा। आश्चर्य ! खींचते ही देखा गया कि जटिल ग्रंथि सरल हो खुल गई है।

घटना बहुत साधारण थी, किन्तु इसके द्वारा इस मनुष्य का रहस्यमय आवरण उस दिन कुछ अंश में उन्मोचित हो गया। एक शक्तिशाली प्रच्छन्न साधक के रूप में लोग उन्हें समझने लगे। किन्तु यह तो उसकी अलौकिक शक्तियों का क्षीणतम प्रकाश था। आगे चलकर उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। जनसमाज में महायोगी श्री लोकनाथ ब्रह्मचारी के दिव्य अभ्युदय की यही सूचना थी। उत्तर काल में समग्र बंगाल में वे प्रसिद्ध हो गये।

योग विभूति के नाना ऐश्वर्य इस विराट् महापुरुष को केन्द्र कर उत्सारित हुए। धनी-निर्धन और जाति-वर्ण निर्विशेष बहु नर-नारी के आश्रयदाता के रूप में वह परिचित हुए—सर्वजनवंद्य महापुरुष, बारदीय ब्रह्मचारी के रूप में देश-देशान्तर में चिन्हित हो उठे।

हिमालय शिखर की दुश्चर तपस्या और दिक्‌विदिक् की परिक्रमा शेष हो जाने पर ब्रह्मचारी लोकनाथ पूर्व-बंग आये। इस समय उनका वय: क्रम प्राय: डेढ़ सौ वर्ष का होगा। इसके बाद लगातार प्राय: छब्बीस वर्षों तक इसी बारदीग्राम में ही रहे। त्रितापक्लिष्ट असहाय नरनारियों के दल के दल उनका चरणाश्रय लाभकर धन्य हुए।

सन् १३३८ (खुष्टाब्द) की बात है। चौबीस परगना के बारासत महकुमा के अन्तर्गत उस समय कचुया एक वर्द्धिष्णु एवं विख्यात ग्राम था। इस ग्राम के राम कानाई घोषाल ने उनदिनों एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण के रूप में प्रसिद्धि अर्जित की थी। घोषाल महाशय की पत्नी कमला देवी की चतुर्थ सन्तान थे लोकनाथ। रामकनाई की बड़ी इच्छा थी कि उनकी एक सन्तान संन्यासाश्रम ग्रहण कर ब्रह्मज्ञान लाभ करे और कुल पवित्र हो। किन्तु पत्नी कमला देवी निरन्तर बाधा देती जिससे उनकी यह अभिलाषा अबतक पूरी नहीं हो पायी थी। किन्तु न जाने क्यों, लोकनाथ के सम्बन्ध में कमला देवी ने अविलम्ब सम्मति दे दी। कनिष्ठ पुत्र लोकनाथ के भावी जीवन की पथ-परिक्रमा इस तरह उनके जन्म के संग-संग ही जैसे निश्चित हो गई।

एक अमानवीय सुयोग भी शीघ्र ही उपस्थित हुआ। गृह के सन्निकट ही आचार्य श्री भगवान गांगुली का निवास था। वे सर्वशास्त्र-वेत्ता और महासाधक के रूप में चतुर्दिक् प्रसिद्ध थे। रामकानाई घोषाल इन्हीं सर्वजन श्रद्धेय आचार्य के हाथों में अपने पुत्र के आध्यात्मिक जीवन-गठन का भार अर्पित कर निश्चिन्त हुए।

लोकनाथ के उपवीत ग्रहण करने का वयस उपस्थित होने के समय एक विचित्र घटना घटित हुई। भगवान गांगुली महाशय ने निश्चय किया कि आचार्य रूप से वह बालक का संस्कार सम्पन्न करावेंगे और उसके सम्पन्न होते ही इस दण्डी ब्रह्मचारी बालक को साथ लेकर वह चिरकाल के लिए प्रवज्या ग्रहण करेंगे। भगवान गांगुली के गृह-त्याग के संकल्प की बात तत्क्षणात् चतुर्दिक् फैल गई। उस समय इस प्रसंग को लेकर चारो ओर महा आलोड़न चलने लगा। इसी समय लोकनाथ का बाल्यसखा वेणीमाधव वन्दोपाध्याय भी एक चाञ्चल्य की सृष्टि कर बैठा। लोकनाथ के साथ उसने भी उस दिन गृहत्याग का संकल्प कर लिया। अनेक प्रयत्न करने

पर भी यह बालक अटल रहा। आचार्य भगवान गांगुली ने दोनों बालकों के गुरु-रूप से उनका संस्कार और दीक्षाकार्य सम्पन्न किया। उपनयन के दिन कौतूहली जनता की भीड़ जमा हो गई। भगवान गांगुली दोनों बालक ब्रह्मचारियों के साथ धीरे-धीरे घर से निकले। आचार्य का वयस तब साठ पार कर गया था। शिष्यों की आयु प्रायः दश वर्ष थी।

पहले दोनों शिष्यों के साथ आचार्य काली घाट आये। नूतन जीवन के प्रकृत अर्थ का बोध होना तो दूर की बात थी, लोकनाथ और वेनीमाधव की उद्दाम बाल-चपलता ही नहीं गई थी। वृद्धवयस में ज्ञानपंथी साधक श्री भगवान गांगुली नितान्त दुःसाहस के साथ ही इन दोनों बालक-शिष्यों के साथ अरण्य-जीवन के लिए निकले थे। इस समय के ब्रह्मचारी जीवन का वर्णन करना उत्तर काल में लोकनाथ को बहुत प्रिय था।

कालीघाट उस समय दुर्गम जंगल से परिवेष्ठित था। जटा-जूट धारी संन्यासी दल दूर-दूर से इस महाजाग्रत शक्ति पीठ में आकर इकट्ठा होते। ब्रह्मचारी-वेशी बालकद्वय-लोकनाथ और वेणीमाधव उन्हें उद्विग्न करते। लोकनाथ कहते, "आगन्तुक साधुगण जब ध्यान करने बैठते, मैं और वेणी चपलतावश उनकी जटा पर हाथ फेरता, किसी की लंगोटी ही खींचता। वे कुछ भी न कहते, इससे और ढीठ हो जटा और लंगोटी झटके से खींच हम दौड़कर भाग जाते। उपद्रव से तंग हो साधुओं ने अन्त में गुरुदेव को उलाहना दिया। किन्तु उन्होंने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया, मेरे निकट यह अभियोग क्यों? मैं तो एक गृही व्यक्ति हूँ। ये आपलोगों के दल के ही हैं। आप ही इच्छानुसार इन्हें तैयार करें। मैंने तो आपलोगों के आदमियों को ही घर से बाहर कर केवल यहाँ उपस्थित कर दिया है। अब दायित्व तो आप सब पर है।

साधु लोग इसके उत्तर में क्या कहते? तब गुरुदेव हमलोगों से कहते

बड़े होने पर तुमलोगों को भी जटा और लंगोटी होगी, उस समय यदि उन्हें पकड़कर खींचा-तानी करे, तब उस समय क्या उपाय होगा ? किन्तु विस्मित बालक-द्वय की आयु ऐसी नहीं थी जो वे इस तत्त्व को ग्रहण करते ।"

इसके बाद आचार्य गांगुली महाशय बालक-द्वय के जीवन में ब्रह्मचर्य की सुदृढ़ भित्ति के गठन के उद्योगी हुए । शास्त्री विधि-सम्मत नियम-निष्टा और कृच्छ्रव्रत द्वारा गुरु इन दोनों बालकों को कठोर भाव से नियंत्रित करने लगे । अप्राप्त वय शिष्य द्वय के शिक्षादान और सेवा-कार्य में आचार्य स्वयं ही तत्पर रहते । गुरु के चरणों में लोकनाथ और वेणीमाधव का आत्म समर्पण इसी से इतना सहज और परिपूर्ण हो सका ।

उत्तर काल में लोकनाथ इस सम्बन्ध में और भी कहते, "इस ब्रह्मचर्य व्रत पालन के समय गुरुदेव स्वयं अपने लिए तथा हमलोगों के लिए भिक्षान्न संग्रह करते । कठिन व्रत नुष्ठान करते रहने पर भी हमलोगों को अधिक शारीरिक परिश्रम नहीं करने देते । यहाँ तक कि मासाह व्रत के दीर्घ उपवासादिकाल में हमलोगों को घूमने फिरने भी नहीं देते । मलमूत्र त्याग करते समय भी हिलने-डुलने का उपाय नहीं था । यहाँ तक कि पीछे अंग-संचालन के फल से उपवास व्रत में व्याघात न हो, इसलिए वह हमलोगों का शौच कर्म भी कर देते । मल का भाण्ड आप ही साफ करते ।" ऐसा ही था ब्रह्मचारी शिष्यों के प्रति गुरु भगवान गांगुली का ममत्व-बोध और दायित्व-पालन की अपूर्व निष्ठा !

अरण्यवास और कठिन ब्रह्मचर्य पालन करते प्रायः बीस पच्चीस वर्ष बीत गये । शिष्यद्वय अब पूर्ण युवा हो गये हैं । किन्तु वृद्ध गुरु का यह परिश्रम लोक-नाथ को प्रायः ही असह्य होता । एक दिन वह मुख खोलकर बोल बैठे, "हम दो युवक शिष्य जंगल में बैठकर खाते हैं, और आप वृद्ध गुरु घर-घर घूमकर भिक्षान्न जुटाते हैं। आप इस काम में हमलोगों को ही क्यों नहीं

लगाते ?" गुरुदेव ने उत्तर दिया, "हाँ, बाबा, ऐसा करने से तुमलोगों की एक निष्ठा और एकाग्रता नष्ट हो जायगी। गृहस्थों के नाना भावों को देखने से तुमलोगों के मन में भी ये सब वातें उठेंगी और योग-साधना में व्याघात होगा।"

हिमालय अंचल में दीर्घ काल तक साधना करने के बाद लोकनाथ और उनके संगी की भेंट एक महायोगी से हुई। उनका नाम था हितलाल मिश्र। अतिवृद्ध भगवान गांगुली ने इन्हीं महासाधक के हाथों में लोकनाथ और वेणी माधव को सौंप दिया। लोकान्तरप्राप्ति के पूर्व साश्रु-नयन इन्होंने योगीवर से कहा था, "बाबा, अब से मेरे इन दोनों वालकों का भार आपके ऊपर ही रहा।" उस समय आचार्य भगवान गांगुली के इन बालक-द्वय की आयु होगी लगभग नब्बे वर्ष की।

योगी हितलाल के आश्रय और साधनोपदेश से इन्होंने अपूर्व योग-सामर्थ्य अर्जित किया। इसके बाद सुदीर्घ साधना के द्वारा लोकनाथ ने परम तत्व प्राप्त किया। वे अपरिमेय शक्ति-विभूति के अधिकारी हुए। उनके अध्यात्म-जीवन की यह निगूढ़ कहानी भला किस प्रकार प्रकट होती ! हाँ, उत्तर काल में नाना कहानियों के वर्णन-प्रसंग में वे स्वयं ही सामान्य तथ्यों का इंगित मात्र देते।

लोकनाथ की जीवनी लिखने वाले कुछ लोगों ने योगी हितलाल को काशीधाम के योगीवर त्रैलंग स्वामी सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस महासाधक का प्रकृत परिचय जो भी हो, उनके सान्निध्य और तत्त्वावधान में आकर लोकनाथ और वेणीमाधव ने हिमालय और तिब्बत के अंचल में खूब भ्रमण किया। योगी हितलाल के दीर्घ सान्निध्य का इन दोनों के साधक जीवन पर अशेष प्रभाव पड़ा।

तुषारावृत अंचल में बहुकाल भ्रमण के बाद हितलाल ने अपने इन दोनों

अनुगामियों से विदा ली। इन लोगों को उन्होंने बाता दिया, "तुम लोगों का निम्न भूमि में कर्म रह गया है, अतः मेरे साथ इस अंचल में और रहने का कोई प्रयोजन नहीं।"

लोकनाथ और वेणीमाधव ने महायोगी से बिछुड़कर हिमालय के पूर्वांचल बंगाल में प्रवेश किया। इसके बाद दोनों मित्र भी अलग-अलग हो गये। वेणीमाधव ने कामाख्या की यात्रा की और लोकनाथ अग्रसर हुए पूर्व-वंग के महापीठ चन्द्रनाथ के पथ पर। तुषारावृत पर्वत-शिखरों पर दीर्घकाल तक परिभ्रमण के फलस्वरूप उनकी देह की त्वचा पर उस समय एक अद्भुत ढंग का शुभ्र आवरण पड़ गया था। पूर्वांचल के वनाकीर्ण पहाड़-पर्वतों में कुछ समय तक बास करने के बाद लोकनाथ मेघना के तट पर स्थित बारदी ग्राम आये।

बारदी आने की कहानी भी बड़ी विचित्र है। एक दुर्ज्ञेय दैवी व्यवस्था की परिकल्पना जैसे इनके लिए ही बहुपूर्व से बनी हुई थी। उलंग संन्यासी लोकनाथ नाना स्थानों में विचरण कर एक दिन त्रिपुरा के दाऊदकाँदी ग्राम में आ पहुँचे। वहाँ एक वट वृक्ष के नीचे वे नीरव ध्यानाविष्ट बैठे थे। इसी समय भेंगू कर्मकार नामक एक व्यक्ति उनका चरण पकड़ रोने लगा—फौजदारी मामले का आसामी हो वह बहुत विपद में पड़ गया था। संन्यासी ने उसे उस दिन आश्वासन दिया। विपद से मुक्त होने पर उसने लोकनाथ के पाँवों को पकड़ लिया। वह बारदी का रहने वाला था। वह बाबा को वहीं ले जाना चाहता था। दयार्द्र लोकनाथ बारदी आये। उसी के घर में वास करने लगे। कई वर्षों के भीतर ही आत्म गोपन शेष हो गया। उनकी अलौकिक शक्ति और योग-विभूति की कहानी जन-समाज में प्रचारित होने लगी।

लोकनाथ को जन-समाज में खींच लाने वाला प्रथमभक्त भेंगू कर्मकार इस बीच परलोक चला गया था। अब लोकनाथ एक दिन उसके घर से चले गये। स्थानीय जमींदार नाग बाबू और अन्य-

लोग उनकी श्रद्धा भक्ति करने लगे थे। उन लोगों के उद्योग से लोकनाथ के लिए अलग कुटी की व्यवस्था हुई। लोकनाथ ने कहा, "यदि ऐसी जगह मुझे दो जिसके लिए कभी कर न देना पड़े, तो मैं कुटी में रह सकता हूँ।" ग्राम के उपान्त में एक परित्यक्त पुरातन श्मशान था, जिस पर किसी कर का निर्धारण नहीं हुआ था। मालिकों की सम्मति के अनुसार इसी स्थान पर आश्रम निर्मित हुआ। यहीं लोकनाथ ब्रह्मचारी अपना आसन लगाकर बस गये। शक्तिधर साधक लोकनाथ की योग-विभूति की ख्याति शीघ्र ही चारो ओर फैल गयी। मुमुक्षु भक्त-वृन्द और रोग-शोक क्लिष्ट नर-नारियों की भीड़ लगने लगी।

किन्तु लोकनाथ की लोकातीत सत्ता से कितने लोगों का परिचय हुआ? बहुत थोड़े ही लोग इस महाजीवन के बहिरंग को भेद कर उनके प्रकृत स्वरूप को समझ सके। अपने बाह्य और अन्तर रूप के इस पार्थक्य का उल्लेख कर लोकनाथ ब्रह्मचारी कहते, "मुझे कौन पहचान सकता है? मैं अपनी इच्छा से ही पकड़ में आता हूँ। मेरी इच्छा होने पर ही तुमलोग मुझे समझ सकते हो।" लौकिक एवं व्यावहारिक जीवन को परिवेश की भ्रान्ति भी खूब फैलती थी। एक बार बारदीय नाग जमींदारों के किसी उच्छृंखल पुत्र के साथ ब्रह्मचारी के एक पश्चिम देशीय शिष्य का झगड़ा हो गया। इसे लेकर एक जटिल फौजदारी मुकदमा शुरू हो गया। इस मुकदमे में गवाही देने के लिए ब्रह्मचारी लोकनाथ को भी बुलाया गया। ब्रह्मचारी लोकनाथ से प्रश्न किया गया, उनकी उम्र क्या है? उन्होंने उत्तर दिया, "डेढ़ सौ वर्ष।" अपर पक्ष के मुख्तार क्रोध में भरकर चिल्ला उठे, "देखो साधु, यह सरकारी अदालत है, यहाँ इस तरह की असंभव कथा-वार्त्ता नहीं चलती।" ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया, "तब तुमलोगों की जो इच्छा हो वही लिख लो।" अपनी आँखों से घटनादि को देखना इस अतिवृद्ध साक्षी के लिए सम्भव नहीं। विपक्ष के मुख्तार इसे ही अपनी जिरह

के द्वारा सिद्ध करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने फिर प्रश्न किया, "आपका वयस तो डेढ़ सौ वर्ष हो गया है। इस वयस में दृष्टि-शक्ति अवश्य ही क्षीण हो गई होगी। फिर अपने घर में बैठे आपने घटनादि को कैसे देखा ?"

ब्रह्मचारी हंसे। दूर स्थित एक वृक्ष की ओर उँगली निर्देश कर उन्होंने पूछा, देखो तो, इस गाछ पर कोई प्राणी चढ़ रहा है या नहीं।' सब ने स्वीकार किया कि वे लोग ऐसा कुछ भी नहीं देख पा रहे हैं। ब्रह्मचारी ने कौतुक भरी हँसी के साथ कहा, 'तुम लोगों का वयस कम है और दृष्टि-शक्ति अधिक। इसलिए कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता है। किन्तु मैं ठीक देख रहा हूँ, झुंड के झुंड लाल पिपड़ा गाछ पर चढ़ रहे हैं। अदालत के बहुत से लोग वृक्ष के निकट जाकर देख आये। उपस्थित व्यक्तियों के तब विस्मय की सीमा न रही।

बारदी ग्राम परम पवित्र ब्रह्मपुत्र नदी के खूब ही निकटवर्ती है। पुण्य-लोभातुर नर-नारी ब्रह्मपुत्र में अवगाहन करने आते तब इस महा संन्यासी की चरणधूलि लेने वे बारदी आकर उपस्थित होते। जीवन्त ब्रह्मपुत्र के दर्शन से अपने को कृतार्थ करते। शतवर्ष-व्यापी योग-साधना में सिद्ध महापुरुष गहन अरण्य और गिरि-चूड़ा त्यागकर लोकालय में अवतीर्ण हुए थे। लोक-कल्याण का व्रत आज उन्हें उदार आकाश तल से इस आश्रम और सदाव्रत की भीड़ में खींचकर ले आया है। महामुक्त जीवन की धारा इस बार जन-समाज के जीवन-स्तर में अपना विस्तार करना चाहती है।

महापुरुष की सुठाम देह और दिव्योज्ज्वल कान्ति देखकर दर्शनार्थी विमुग्ध हो जाते। लोकनाथ की सर्वभेदी दृष्टि से उनका अलौकिकत्व जैसे सदा ही विच्छुरित होता रहता है।

लोग देखकर अवाक् रहते—लोकनाथ की पलकें शायद ही गिरतीं। महापुरुष के सामान्य-मात्र अन्तर्मुखीन होते ही उनकी दोनों अक्षितारिकाएँ नासिका

के कोने में आकर स्थिर निवद्ध हो जातीं। लौकिक दृष्टि का कोई चिह्न ही जैसे उनमें वर्त्तमान न हो। लोकनाथ के एकनिष्ठ भक्त वारदीय दुर्गाचरण कर्मकार महाशय एक बार कुम्भ मेला गये थे। उस समय मेले में एक श्रेष्ठ महापुरुष ने उनके हाथ में लोकनाथ ब्रह्मचारी का एक चित्र देखा। इसे हाथ में ले तत्काल उन्होंने कहा, "यह अलौकिक दृष्टि जिसकी है, वह किस तरह निम्न भूमि में वास करते हैं? इस रूप के महापुरुष तो लोक समाज में पाये नहीं जाते। तुम लोग धन्य हो कि ऐसे महापुरुष का सान्निध्य पा सके।"

लोक मंगल के लिए जनसमाज में लोकनाथ का यह आविर्भाव हुआ। एक बार करुणार्द्र हो अपने एक प्रिय शिष्य को वह इसका इंगित स्वयं ही दे गये, "मैंने पहाड़-पर्वत परिभ्रमणकर इतनी बड़ी सम्पत्ति कमाई है—कितनी बर्फ इस शरीर पर से जल होकर बह गई है। तुम लोग यह धन बैठे-बैठे ही खाओगे?" ब्रह्मचारी के प्रिय शिष्य श्री रजनीकान्त ने एक बार उनसे कहा, "बाबा, आपका ऋण मेरे पक्ष में अपरिशोध्य है।" लोकनाथ के प्रदीप्त नयन-द्वय मुहूर्त्त-भर में परिवर्तित हो गये। अश्रु-सजल चक्षु से उन्हों ने कहा—"तू किसका ऋणी है रे? बल्कि मैं ही तुम्हारा ऋणी हो रहा हूँ। तुम्हें मैं अपनी गाँठ से खिलाता हूँ, तुम्हारे पाँव पकड़ता हूँ—बाबा कुछ ले ले—देखूँ इतने पर भी तुम्हें कुछ दे पाता हूँ कि नहीं।" अध्यात्म-सम्पद के भण्डारी लोकनाथ का यह था अपरूप करुणाघन रूप।

ब्रह्मचारी एक दिन बारदी आश्रम में बिल्व-वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। सामने भक्त कामिनी नाग महाशय थे। सहसा श्रीयुक्त नाग को बुलाकर उन्होंने कहा, "कामिनी, विजय आ रहा है।" नौका से कौन-सा पथ धरकर वह बारदी आ रहे हैं, यह भी उनसे अज्ञात नहीं था। विजयकृष्ण थोड़ी देर में ही सदल-बल वहाँ पहुँच गये।

गोस्वामी विजयकृष्ण इस समय ढाका ब्राह्म समाज के विख्यात आचार्य थे। समस्त पूर्व बंगाल के अद्वितीय धर्म-वक्ता के रूप में उस समय उनकी अपूर्व प्रतिष्ठा थी। अध्यात्म-साधना के गंभीरतर स्तर में प्रवेश करने पर साधक गोस्वामीजी के अन्तर में प्रबल व्यग्रता जाग्रत हो गई थी। लोकनाथ की विस्मयकारी योग-सामर्थ्य की चर्चा उन्होंने सुनी थी। इसीसे आज वे बादरी पहुँचे थे। परम श्रद्धा-भाव से उन्होंने आश्रम में प्रवेश किया था कि वैसे ही एक अलौकिक घटना घटी।

ब्रह्मचारी के भक्त और जीबनी-लेखक श्रीकेदारेश्वर सेन ने इस मिलन का मनोरम वर्णन किया है, लोकनाथ के प्रदीप्त नयन-युगल से तेजोराशि निकली और गोस्वामी महाशय के शरीर में प्रवेश कर गई। लोकनाथ ने गोस्वामीजी से मिलने के लिए जैसे ही अपने हाथ फैलाये कि गोस्वामी महाशय तत्क्षणात् उनके चरणों पर गिर पड़े। लोकनाथ ने पुत्र-वत्सल पिता के समान गोस्वामी महाशय को ऊपर उठा अपने वक्ष से लगा लिया। उस समय लोक-पावन लोकनाथ के कृशतनु से एक अद्भुत तड़ित्-प्रवाह बहिर्गत हो गोस्वामी महाशय की विराट देह को वेतसलता की तरह कम्पित करने लगा। एक विचित्र ध्वनि उठ-उठकर गूँजने लगी। लोकनाथ ने तब गोस्वामी महाशय को छोड़ दिया। महापुरुष के शक्ति-संचालन से गोस्वामी महाशय नितान्त क्लान्त हो काँपने-गिरने लगे। तब आश्रम के भक्तों ने उन्हें बैठने के लिए एक आसन दिया। गोस्वामी महाशय उसपर बैठ गये।

कुछ क्षण बाद प्रभु-पाद श्रीविजयकृष्ण के स्वस्थ होने पर आदर और स्नेह पूर्ण कथा-वार्त्ता चलने लगी। गोस्वामीजी उलाहने के स्वर में कहने लगे, बाबा, इतने दिनों तक मुझपर कृपा क्यों नहीं हुई ?" करुणा-विगलित कण्ठ से ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया, "और, तू तो पाषाण है।"

उनके मधुर मिलन-काल में समग्र आश्रम में एक अनाविल आनन्द-तरंग लहरा रही थी। विजयकृष्ण उस समय आनन्द से आत्महारा और भावतन्मय हो गये। लोकनाथ बाबा का अन्तर भी उसदिन वात्सल्य रस से पूर्ण हो रहा था। महापुरुष ने स्मितहास्य से इस भरे कण्ठ से कहा, "अरे विजयकृष्ण, तुझे चन्द्रशेखर के दावानल की कथा याद है ?'

विजयकृष्ण सचकित हो उठे। यह क्या परम विस्मय ! चन्द्रनाथ पहाड़ के वन में एक बार वे दावानल के कवल में पड़ गये थे। प्राणरक्षा की कोई आशा ही नहीं थी। अकस्मात् न जाने किधर से, एक महापुरुष विद्युत्वेग-से अग्नि-व्यूह भेदकर आविर्भूत हुए एवं उन्हें गोद में उठा निरापद स्थान पर रख गये। गहन वन के वह ईश्वर-प्रेरित योगी ही तो यह लोकनाथ हैं। विजकृष्ण ने आज उसकी उपलब्धि की। महापुरुष उस समय उनकी ओर देखते हुए भाव-व्यंजक स्मित-हँसी हँस रहे थे।

इस घटना का विशद रूप से उल्लेख करते हुए, विजयकृष्ण के एक जीवनी-लेखक श्री अमृतलाल सेन गुप्त लिखते हैं—"एक समय चन्द्रनाथ तीर्थ के किसी एक जंगल के बीच गोस्वामी महाशय अनेक काल पर्यन्त भगवत्-सत्ता में निमज्जित हो गंभीर ध्यान में निमग्न हो रहे थे। अकस्मात् हाथी, भैंसे आदि वन्य-जन्तुओं के भीषण चीत्कार से उनकी समाधि भंग हुई। उन्होंने आँखें खोलकर देखा, चारो ओर भयंकर दावानल प्रज्वलित है। इस समय एक मात्र भगवत्कृपा का ही सहारा था। उन्होंने सर्वविघ्न-विनाशक मधु-सूदन को आत्म समर्पण कर आँखें बन्द कर ली। हठात् कहीं से एक अपरिचित साधु का आगमन हुआ। उन्होंने गोस्वामी महाशय को उठाकर, निविड़ दावानल के बीच से तीर वेग से निकाल, निरापद स्थान पर पहुँचा दिया। गोस्वामी महाशय इस अयाचित कृपा को

देखकर भाव-विह्वल हो पड़े। इस बीच यह भगवत्-प्रेरित साधु अन्तर्हित हो गए। सुना जाता है, गोस्वामी महाशय के संग ढाका-बारदी के लोकनाथ ब्रह्मचारी महाशय का साक्षात्कार होने पर उन्होंने अपने को उक्त साधु कह परिचय दिया था।"

ब्रह्मचारी बाबा के साथ साक्षात् करते समय परम भागवत विजयकृष्ण को एक अलौकिक दर्शन हो रहा था। वह देख रहे थे, लोकनाथ का सर्वांग जैसे देव-देवीमय है, गात्र-वस्त्र और वासगृह भी जैसे देवताओं से ओत-प्रोत हैं। आश्रम से बाहर आने पर विजयकृष्ण ने अपने परिचित और गुणग्राही भक्त, बारदी ग्राम के कामिनी नाग महाशय से कहा, "इस स्थान के माहात्म्य के सम्बन्ध में जो सुनता आ रहा था उसकी अपेक्षा कहीं अधिक देख पाया हूँ। ब्रह्मचारी बाबा निवृत्त्यात्मक पुरुष हैं, इच्छा होने पर सब छोड़कर अभी ही चल दे सकते हैं। मुझपर कृपा कर निमिष मात्र में जो दिया है, उसीसे मैं धर्म-जीवन में उन्नति लाभ कर सकूंगा। बारदी मेरे धर्मजीवन का जन्मस्थान बन गया। तुम मेरे भाई हुए।"

आचार्य विजयकृष्ण बारदी ग्राम होकर ढाका लौट आने के बाद से लोकनाथ के माहात्म्य और योग शक्ति के प्रभाव का वर्णन करते रहते। हिमालय से नीचे ऐसे महापुरुष का मिलना दुर्लभ है, गोस्वामीजी की इस घोषणा ने चतुर्दिक् लोकनाथ के सम्बन्ध में कौतूहल जाग्रत कर दिया। अनेक लोग आकर्षित होकर वहाँ आने लगे। समागत नर-नारियों के जीवन में इस महापुरुष की विचित्र विभूति-लीला ख्याति प्राप्त करने लगी।

एक बार ढाका से कई संभ्रान्त व्यक्ति लोकनाथ का दर्शन करने आये। प्रत्यावर्त्तन के समय वे पदव्रत ही जायेंगे, यही निश्चय था। किन्तु, ग्रीष्म का मध्याह्न-सूर्य्य प्रखर अग्नि-वर्षण कर रहा था; इससे वे लोग रवाना होने के पहले थोड़ा इतस्ततः करने लगे। लोकनाथ ने दयार्द्र

हो कहा, "बाबा, तुमलोग रवाना हो जाओ। रौद्र का ताप तुम्हें भोगना नहीं पड़ेगा।"

कई भद्र लोगों ने यात्रा शुरू की। विस्मय का विषय था कि कुछ दूर जाने पर एक मेघखण्ड ने न जाने कहाँ से आकर सूर्य को आच्छादित कर लिया। इससे दर्शनार्थी व्यक्तियों का कौतूहल जाग्रत हुआ। उन सब के अन्तर में बारदी के गोस्वामी की योगशक्ति का और भी घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने की चाह जगी। इस कौतूहल को निवृत्त करने के उद्देश्य से वे उसी समय फिर आश्रम में लौट आये। ब्रह्मचारी से उनलोगों ने जानना चाहा कि किस निर्दिष्ट स्थान पर इस मेघ का आच्छादन हट जायगा।

ब्रह्मचारी ने हँसकर उत्तर दिया, "तुमलोगों के ढाका के उपकण्ठ दयागंज पहुँचने पर यह मेघ का आवरण छँट जायगा और रौद्र पूर्ववत् उत्ताप वर्षण करेगा।" ठीक निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने ही मेघ की स्निग्ध छाया हट गयी। खर-ताप-जर्जरित ग्रीष्म के मध्याह्न में वे लोग उल्टे पाँव लौट आये और लोकनाथ के चरणों पर गिर गये। करुणामय योगीवर को अन्तर की श्रद्धा निवेदित करने के लिए उसदिन ये लोग नितान्त व्याकुल हो उठे थे। उसमें बिन्दुमात्र विलम्ब भी उस दिन उन्हें सह्य नहीं हो रहा था।

श्रीमत् भोलानन्द गिरिजी के एक शिष्य गौर गोपाल राय एक बार बारदी आये ; वे पुलिस-कर्मचारी थे। किसी काम के सिल-सिले में इस अंचल में आये थे। ब्रह्मचारी के आश्रम में उपस्थित हो, उनकी पद-वन्दना कर वह उनके सम्मुख बैठ गए। इसी समय एक महिला एक बाटी दूध लेकर उस स्थान पर आयीं, वैसे ही लोकनाथ भी उच्च-स्वर से 'आ-आ' कह जैसे किसी को बुलाने लगे।

गौर बाबू पहले समझ नहीं पाये कि किसे इतने आदर से बुलाया जा रहा है। पीछे सविस्मय देखा, एक प्रकाण्ड विषधर सर्प कहीं से दौड़ता हुआ आया और ब्रह्मचारी की गोद से सटकर बैठ गया। वह

भी परम के दर से उसके फण पर एक हाथ धर बाल्टी से दूध पिलाने लगे। दुग्ध-पान शेष होने पर बोल उठे—"अब तुम जाओ।" विषधर भुजंग भी पोष-माना परिचित जीव के समान आदेश पाकर चला गया। गौर बाबू विस्मयाभिभूत हो रहे। परन्तु उन्हें भय नहीं हुआ, कारण महापुरुष की असामान्य योग-शक्ति की कथा उन्होंने सुनी थी। किन्तु, लोकनाथ ने जब इस बाटी से किंचित् दूध उन्हें प्रसाद-रूप से ग्रहण करने के लिए कहा तब वह भयभीत हुए। "लो-लो, कोई भय नहीं" कहकर महापुरुष के आश्वासन देने पर गौर बाबू उसे अस्वीकार न कर सके।

बारदी के ऊषा प्रसन्न नाग महाशय की स्त्री एक शिशु-पुत्र छोड़-कर हठात् मर गईं। इस शिशु की जीवन-रक्षा कैसे होगी इसी दुश्चिन्ता में सब पड़े हुए थे। शिशु की मौसी सिन्धु वासिनी एक दिन उसे क्रोड़ में ले लोकनाथ के चरण-प्रान्त में आकर बैठ गईं। उनकी एकान्त प्रार्थना थी कि ब्रह्मचारी बाबा इस सम्बन्ध में कोई व्यवस्था कर ही दें।

लोकनाथ बोल उठे, "इतना कष्ट क्यों कर रही हो? तुम्हीं अपने स्तन-दुग्ध से शिशु की रक्षा क्यों नहीं करती हो?" सिन्धु वासिनी चमक उठीं। वह सधवा ठीक ही थीं, किन्तु वह चिर-वन्ध्या जो थीं। कातर हो उन्होंने निवेदन किया कि उनके स्तनों में दूध रहता तो फिर दुश्चिन्ता का कारण ही क्या था, किन्तु यह तो होने का नहीं। ब्रह्मचारी के हृदय में करुणा का संचार हुआ। प्रशान्त कण्ठ से उन्होंने सिन्धु वासिनी को कहा, "माँ, तुम्हें वन्ध्या कौन कहता है? मैं शिशु हूँ, और तुम जो मेरी माँ हो? पास आकर बैठो, मैं तुम्हारा स्तन-दुग्ध पान करूँगा।" महायोगी लोकनाथ तब मानो सत्य ही सरल शिशु हो रहे। मातृ-भावना से उन्होंने उस दिन इस वन्ध्या नारी की स्तन-धारा का पान किया था। इसके बाद से सन्तानवती नारी के समान ही सिन्धु वासिनी के वक्ष

से स्वाभाविक दुग्ध-संचार होता। इसे पान कर ही शिशु की प्राण-रक्षा हो पाई। ब्रह्मचारी बाबा की कृपा से बच पाया इसलिए उसका नाम रखा गया—ब्रह्म-प्रसन्न।

एक दिन लोकनाथ ब्रह्मचारी कुटीर में भक्त दल से घिरे बैठे थे। हठात् अपने दीर्घ हाथों को फैलाकर वह परम करुण-भाव से बोल उठे, "आहा हा, ठहरो।" उसके बाद एक बार ही मौन हो गए। भक्त गण भी चुपचाप बैठे रहे। कोई भी उस समय इस व्यापार का रहस्य नहीं जान सका।

इसके कुछ दिन बाद ढाका के वकील बिहारी लाल मुखोपाध्याय महाशय ब्रह्मचारी का चरण-दर्शन करने आये। ये बाबा के विशेष अनुगृहीत और भक्त थे। लोकनाथ उनको देखने के साथ ही प्रश्न कर बैठे, "क्या रे बिहारी, इस बीच में क्या तुमने मुझे खूब स्मरण किया था?"

"जी हाँ, कुछ दिनों के लिए बाहर गया था। घर लौटने पर आपके चरणों के दर्शन की प्रबल इच्छा हुई।"

"यह बात नहीं रे। जलपथ से जहाज पर जाते हुए मुझे व्याकुल हो स्मरण करने की बात मैं कहता हूँ।"

बिहारी बाबू को तब सारी बात याद आ गई। कुछ दिन पूर्व वह मेघना में स्टीमर द्वारा आसाम जा रहे थे। रास्ते में झड़ का प्रबल आक्रमण हुआ। प्राणभय से भीत हो बिहारी बाबू बाबा लोकनाथ को आकुल हृदय से पुकारने लगे। इस समय अन्य कई यात्रियों ने भी एक अलौकिक अभय-हस्त का, स्टीमर में, दर्शन किया। इसके बाद ही आँधी का वेग अतर्कित भाव से शान्त हो गया। समस्त घटना बिहारी बाबू के स्मृति-पट पर जाग्रत हो उठी। लोकनाथ की करुण और विभूति लीला की बात से भावित हो भक्ति-आप्लुत हृदय से उनके चरणों पर गिर पड़े।

ढाका कालेज के कई छात्र लोकनाथ से साक्षात् करने आये। वे

कहने लगे, "बाबा हमलोग आपके निकट ब्रह्म-सम्बन्ध में ज्ञान-लाभ करने आये हैं। आप दयाकर हमें तत्त्वोपदेश प्रदान करें।"

ब्रह्मचारी प्रसन्न मन से इस छात्र दल के साथ नाना प्रकार के रहस्यालाप करने लगे। उनसे कहा, "जानते हो बाबा, अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्, तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।' अर्थात्, जो अखण्ड मण्डलाकार है, जिसके द्वारा सब चराचर व्याप्त है—ऐसे इस ब्रह्म को जिन्होंने दिखा दिया है उसी गुरु को नमस्कार करता हूँ। तुमलोगों का ब्रह्म कौन है, जानते हो ? वह है—रुपया। लक्ष्य नहीं किया ? रुपये-सब अखण्ड एवं मण्डलाकार होते हैं। संसार भर में इन रुपयों का ही प्रभाव व्याप्त हो रहा है—इन्हीं की प्रतिपत्ति चलती है। तुम सबने इन रुपया ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए ही दीक्षा ली है और कॉलेज के अध्यापक-गण ही बने हैं इस काम के गुरु जो इस ब्रह्म के दर्शन-लाभ में सहायता करते हैं। अतः आपाततः इस अध्यापक का ही अनुसरण करते चलो। इसके बाद रुपया पाकर भी उसे त्यागकर यदि अन्य ब्रह्म देखने की इच्छा हो, तब मेरे पास आना। उस समय मैं अपना उपदेश तुम्हें दूंगा।"

लोकनाथ के कठोर ब्रह्मचर्य और दीर्घ तपश्चर्या के समान ही उनके परिव्राजन की कहानी भी अनन्य-साधारण है। अन्तरंग भक्तों के निकट वह अपने दूर-दूरान्त की पथ-परिक्रमा का नाना वर्णन समय-समय पर करते। उनकी कथा सुनकर पता चलता कि हिमाचल और मेरु प्रदेश के दुर्गम तुषारावृत अंचल से शुरू कर चीन, अरब एवं यूरोप के नाना देशों का पर्यटन उन्होंने किया था।

मेरु प्रदेश के परिभ्रमण के समय लोकनाथ के साथ उनके योग-शिक्षा गुरु हितलाल और साथी बेणी माधव भी थे। उलंग, जटा-जूट-समन्वित संन्यासियों का गात्र-चर्म्म विवर्ण था। कृच्छ्रव्रत की कठोरता से देह विशीर्ण हो गई थी। स्वाभाविक मनुष्य कह इनलोगों

को पहचानना मुश्किल था। इसी से चीन देश के मध्य से प्रत्यावर्त्तन काल में राज-सैनिकों ने इन्हें रोक लिया। कुछ समय इन्हें अवरुद्ध अवस्था में रखने के बाद चीनी राज कर्मचारियों ने समझा कि ये कठोर तपश्चर्या निरत भारतीय योगी हैं। इसी से पीछे इनलोगों को मुक्त कर दिया गया।

बहुत से मुसलमान भक्त भी लोकनाथ ब्रह्मचारी का दर्शन करने बादरी आते। इनमें कई मक्का से भी लौटे थे। इनके साथ आलोचना करते समय लोकनाथ के मक्का और मदीना जाने की तथा उस अंचल में पर्यटन करने की कथा अनेक समय प्रकट हो जाती। कभी-कभी अंगरेज राजपुरुष भी महायोगी के साथ मिलने के लिए आते। उस समय इनके संग कथा-प्रसंग में लोकनाथ ब्रह्मचारी रहस्यमय भंगी से उन्हें दिखाते, फारसीगण कौन-कौन अंगरेजी शब्दों को किस तरह विकृत उच्चारण करते हैं। उनकी बातों से प्रकट होता कि सिद्धावस्था में वे अटलान्टिक तक भ्रमण कर आये थे।

मक्का मदीना जाने के सम्बन्ध में ब्रह्मचारी बाबा ने एक बार कहा था, "मैं पाँव-पैदल चलकर ही मक्का पहुंचा था। वहाँ के मुसलमानों ने मेरे प्रति बड़ी श्रद्धा प्रकट की और आदर-सत्कार किया। उन्होंने मुझसे कहा था,—'आप स्वयं रसोई करके खाना चाहें तो सीधा ग्रहण करें, अथवा आदेश होने पर हमलोग भी आपकी रसोई कर दे सकते हैं।' उनकी पकाई रसोई खाने में मेरी आपत्ति न होने से उनलोगों ने पवित्र भाव से कपड़े से मुँह बांधकर, मुझे भोजन पकाकर खिलाया।'

लोकनाथ ब्रह्मचारी मदीना भी गये थे। उस समय उनके साधन-आसन के सामने प्रतिदिन स्थानीय भक्त मुसलमान प्रचुर लड्डू रख जाते। इसमें से उनके कुछ ग्रहण कर लेने के बाद बाकी को वे प्रसाद-रुप में बांटकर खाते।

मरुभूमि के मध्य से कई दिनों का पथ पारकर लोकनाथ बाबा

ने एक बार एक शक्तिमान फकीर का साक्षात्कार लाभ किया। इनका नाम था अब्दुल गफूर। उस समय उनका वयस था चार सौ वर्ष। इस फकीर की अलौकिक क्षमता के सम्बन्ध में लोकनाथ बराबर ही अत्यन्त आदर से बात करते। वे बीच-बीच में कहते, "देश-विदेश के बहुत स्थानों का भ्रमण किया है, किन्तु त्रैलंग स्वामी और अब्दुल गफूर के समान 'ब्राह्मण' कहीं न देखा।" तत्त्वविद् लोकनाथ की दिव्य दृष्टि में सफल साधक फकीर अब्दुल गफूर एक ब्राह्मण तपस्वी के समान ही थे।

समदर्शी लोकनायक की अध्यात्म-सत्ता में जातिवर्ण-भेदयुक्त मनुष्य क्या, किसी जीव-जन्तु का भी पार्थक्य नहीं रह गया था। वह स्वयं ही इस विषय में नाना विस्मयकारी कहानियाँ भक्तों को सुनाना पसन्द करते। समतल भूमि पर आने के पहले लोकनाथ ब्रह्मचारी और उनके संगी वेणीमाधव चन्द्रनाथ पहाड़ पर रहते थे। जनमानव-हीन दुर्गम पार्वत्य अरण्य में सिद्ध साधक-द्वय ने अपने लिए एकांत आश्रय-स्थल चुन लिया था। एक दिन इस गहन वनांचल में दोनों ध्यानाविष्ट बैठे थे। सहसा निकट ही एक हिंस्र बाघिनका क्रुद्ध गर्जन सुन पड़ा। उसके सम्मुख सद्यः जात कई शावक पड़े थे। बाघिन के मन में शायद भय हुआ कि आसन पर बैठे हुए साधु-द्वय पीछे कहीं उसके बच्चोंको उठा न ले जायँ।

लोकनाथ का ध्यान टूटा। बाघिन के सम्मुख गये और उसे सम्बोधित करते हुए बोले, "तुम कोई भय न करो। तुम अपनी सन्तान के साथ यहाँ सो जाओ। हम दोनों साधु हैं, हम तुमलोगों का कोई अनिष्ट नहीं करेंगे।" भाषा न समझ पाने पर भी सिद्ध योगी के प्रेमपूर्ण वचनों का तात्पर्य पशु ने समझ लिया। धीरे-धीरे उसका चीत्कार शान्त हो गया।

अगले दिन भी वही भीम निनाद। लोकनाथ ने ध्यानस्थ हो व्यापार को हृदयंगम किया। बाघिन थी एक नव-प्रसूतिका। शावकों

के लिए आहार-संग्रह जरूरी था। और उन्हें वह कहाँ रख जाय, कैसे उनकी रक्षा होगी, आदि दुश्चिन्ताएँ भी उसे कम न थीं। यही उसके गर्जन का कारण था। लोकनाथ ने बाघिन से कहा, "तुम शावकों को रखकर शिकार करने जाओ। इनके लिए तुम्हें कोई भय नहीं। हमलोग इनकी रखवाली करेंगे।" हिंस्र बाघिन आश्वस्त हुई और अपने बच्चों को दोनों साधुओं की रक्षा में छोड़, अपने काम से बाहर चली गई। लौटने पर फिर गर्जन का अध्याय—अर्थात्, 'मैं आ गई हूँ। अब से दायित्व भार मेरा। तुम साधु द्वय अब छुट्टी ले सकते हो।'

इस प्रकार कई दिनों तक बाघिन और मानव की सहयोगिता चलती रही। इसके बाद लोकनाथ और वेणीमाधव ने एक दिन उस स्थान से अपने आसन उठा लिए। उन्हें अब अन्यत्र जाना होगा। किन्तु महाविपद्! कुछ दूर जाने के बाद ही उन्होंने सुना, बाघिन वनभूमि कम्पित कर वारंवार उनके पीछे गर्जन कर रही है। लोकनाथ का हृदय विगलित हो गया। वेणीमाधव को उन्होंने कहा, "वेणी, आज देखता हूँ, जाना नहीं हो सकेगा। लौटने के बाद उन्होंने बाघिन से कहा, "तुम्हारी इच्छा है तो हमलोग रह जाते हैं। जितने दिन तुम्हारे शावक तुम्हारे संग शिकार पर जाने के उपयुक्त न हो जायँ, हम यही रहेंगे।" लोकनाथ का प्रस्ताव सुन बाघिन तत्क्षणात् चुप हो गई। जैसे उसके आनन्द की सीमा न रही। प्रतिज्ञा-बद्ध लोकनाथ और उनके संगी एकमास तक इस स्थान पर रहे। तत्पश्चात् देखा गया, शावकगण बाघिन का अनुसरण कर कहीं चले गये हैं। फिर वे उस ओर लौटकर नही आये। वचन की रक्षा हो गई, यह जानकर लोकनाथ ने इसके बाद उस अंचल का परित्याग कर दिया।

मनुष्य और जीव-जन्तुओं के ऊपर योगीवर श्री लोकनाथ की समान कृपा थी। बारदी आश्रम में बास करते हुए इस महापुरुष

के जीवन में अनेक प्रकार की घटनाएँ घटीं। एकबार तरंगी लोकनाथ को शौक हुआ कि वह अपने आश्रम के लिए थोड़ा खेती करायेंगे। बारदी के जमींदार नाग महाशयों में अनेक ही उनके अनुगत भक्त थे। स्वभावत: ही कार्यारम्भ में ज्यादा देर न हुई किन्तु शस्य-संग्रह को लेकर एक संकट उपस्थित हो गया। प्राय: ही देखा जाता जंगली सूअर खेत में घुसकर सब कुछ नष्ट कर जाते।

इनके उपद्रव को बन्द किये बिना काम नहीं चलने का। इसी से आश्रमवासी नि:शब्द रात्रि के अन्धकार में खेत में पहरा देने जाते। किन्तु रोज ही सूअरों का दल भाग निकलता। क्या कोई उन्हें पहले ही सतर्क कर देता ? वारंवार इस तरह की घटना घटित होने पर भक्तों में से कोई- कोई संदेह करने लगे। एक दिन ब्रह्मचारी के एक अन्तरंग भक्त ने इसका रहस्य-भेद किया। उन्होंने उस दिन अपने कानों ही सुना, आश्रम-कुटीर के एकान्त में बैठे लोकनाथ खेत को नष्ट करने वाले सूअरों को उद्देश्य कर कह रहे हैं, "अरे, शीघ्र काम शेष कर हट जाओ, देख लाठी-सोटा लेकर तुमलोगों को मारने आ रहे हैं। सब भागो-भागो।"

आश्रम के एक काक-कौआ, कीड़े-मकोड़े सभी जैसे इसपरम कारुणिक महापुरुष के साथ एक घनिष्ट आत्मीयता के बन्धन में आबद्ध थे। शक्तिधर महायोगी की अन्तर-सत्ता के कठोर आवरण को भेदकर इन्होंने उनके अन्तस्तल में किस मधुर रस का सन्धान पाया था, इसे कौन कह सकता है ?

आश्रम के विल्व वृक्ष की शाखाओं पर तरह-तरह के पक्षी उड़-उड़कर आते। लोकनाथ के आह्वान पर ये सब सानन्द आकर उनके पिंगल जटा जाल पर, स्कन्ध पर, गोद में बैठ जाते। पंक्ति-बद्ध पिपीलिकाओं के सम्मुख चीनी, मिसरी, बिखेरकर महापुरुष बड़े चाव से एक छोटे बालक के क्रीड़ा-चाञ्चल्य के साथ उनके संग समय बिताते।ऐसे समयों में उन्हें देखकर कौन

समझ सकता कि इनके इंगित से विस्मयकर अप्राकृत लीला संघटित हो जाती है।

लोकनाथ की जीवन-रक्षा के लिए वारदी के आश्रम प्रांगण में एकबार एक हिंस्र व्याघ्र का प्रादुर्भाव हुआ। महापुरुष की अलौकिक योग-विभूति के साथ अन्तस्तल में एक गूढ़ प्रेम-प्रवाह भी था, इस लौकिक घटना से अच्छा प्रकाश पड़ा।

एकबार दो उच्छृंखल युवक लोकनाथ एवं आश्रम-वासियों को मारने-पीटने आये। गंभीर रात्रि में मारात्मक अस्त्रादि हाथों में लेकर उन्होंने आश्रम में प्रवेश किया। आततायियों के आगे बढ़ने पर वहाँ एक विचित्र घटना हो गई। हठात् देखा गया, एक प्रकाण्ड व्याघ्र गर्जन करता हुआ आश्रम की ओर आ रहा है।

व्याघ्र का गर्जन सुन लोकनाथ ब्रह्मचारी झट-पट आश्रम में दौड़ आये। आक्रमणकारिगण उस समय आत्मरक्षा के लिए व्यग्र हो एक घर के भीतर घुस गये। ब्रह्मचारीजी के जीवन-लेखक श्री केदारेश्वर सेन ने इसका अत्यद्भुत वर्णन अपने ग्रन्थ में किया—भीत-त्रस्त दोनों युवक इस समय बेड़ा के फांक से विस्फारित नयनों से देख रहे थे कि व्याघ्र किसी तरह का अनिष्ट न कर लोकनाथ के पदतल में लोटने लगा। लोकनाथ ने इस व्याघ्र के गले और माथा पर हाथ सहलाकर उसे सम्बोधित करते हुए कहा, "नहीं जी, तुम्हारा इस आश्रम में आना संगत नहीं हुआ। यहाँ सर्वदा ही लोक-समागम होता रहता है, अतएव तुम अविलम्ब जंगल में चले जाओ। वहाँ तुम्हारा आहार तुम्हें मिलेगा।" मानो व्याघ्र ने उनकी बातों का तात्पर्य समझ लिया हो, वह वहाँ से छलांग मारता हुआ चला गया।

दोनों युवक यह अलौकिक दृश्य देखकर स्तम्भित हो गये। ब्रह्मचारी बाबा कितने शक्तिधर पुरुष हैं, यह समझना अब बाकी न रहा। इस कारण अनुतप्त हृदय से इस महापुरुष के पदतल में गिरकर वे वारंवार

क्षमा याचना करने लगे। दयार्द्र लोकनाथ ने इस दुर्वृत्त-द्वय को क्षमा-दान दिया।

बारदी आश्रम में भक्त जनों का समागम क्रमशः बढ़ने लगा। दूर-दूर के ग्रामों से भक्त, दुःखी और रोगियों के दल आने लगे। इन आगन्तुकों के लिए क्रमशः इस स्थान पर एक सदाव्रत स्थापित हुआ। आश्रम के निकट ही कमला नामक एक गोप महिला का बास था। लोकनाथ ब्रह्मचारी के लिए वह रोज दूध एकत्र करती। लोकनाथ इसे 'ग्वालिन माँ कहकर पुकारते। उनकी कृपा दृष्टि से इस नारी का अपरूप रूपान्तर भी साधित हुआ। आश्रम का सारा काम अतिथि सेवा, प्रसाद-वितरण, रोगियों की परिचर्या, सब कुछ इसी ग्वालिन माँ के तत्वावधान में ही परिचालित होता। यह सेविका नारी थी अतिवृद्धा। अथच प्रायः अस्सी वर्ष आयु में ही इस सुवृहत् कर्म का दायित्व भार वह अपूर्व शक्तिबल से वहन कर रही थी। आश्रम में समागत शत-शत व्यक्तियों का रंधन-कार्य वह अत्यन्त सहज भाव से सम्पन्न करती।

भक्तों के ऊपर अजस्र कृपा-वर्षण के संगसंग उनके ऊपर लोकनाथ सतर्क दृष्टि भी रखते। पूर्णानन्द नामक एक पश्चिम देशीय भक्त बारदी आश्रम में वास करते थे। एक दिन एक उत्सव के उपलक्ष में बहु नरनारियों का सम्मिलन हुआ। पूर्णानन्द इस समय एक रंधन-रत तरुणी विधवा के साथ रहस्यालाप की चेष्टा कर रहे थे। अपने कुटीर के अभ्यन्तर में उपविष्ट, सर्वज्ञ लोकनाथ की दृष्टि से यह ओझल नहीं रहा। भक्त पूर्णानन्द को उन्होंने अपने निकट बुलाया। सस्नेह उसके शरीर पर कुछ क्षण हाथ फेरकर जिज्ञासा की, "पूर्णानन्द, अच्छा बताओ तो, स्त्री और पुरुष के निर्जन में एकत्र होनेपर, कौन आगे ढलता है ?" भक्त तो एकदम निरुत्तर। ब्रह्मचारी ने इस वार दृढ़ स्वर में कहा, "स्त्री लोकाधार होती है, इसलिए पहले नहीं ढलती। पुरुष ही पहले ढलता है।

अबसे खूब सतर्क होकर चलना।" पूर्णानन्द किन्तु सतर्क नहीं रह सके। इसी से आगे चलकर इस आश्रम से उन्हें विदा लेनी पड़ी।

ढाका के प्रसिद्ध धनी जगबन्धु पोद्दार के पुत्र काली चरण एक दिन ब्रह्मचारी बाबा का दर्शन करने आये। एक दुरारोग्य व्यक्ति के उपचार के उद्देश्य से ही उनका आगमन हुआ था। साथ में वर्दी पहने सुसज्जित दरबान प्रभृति भी आये। काली चरण ने एक वृहत् मिट्टी की हाड़ी में दूध लाकर बाबा के कुटीर से लगे हुए बरामदे में रखा। किन्तु ब्रह्मचारी क्रुद्धस्वर में उन्हें कह उठे, "वह दूध रखा नहीं जायगा। वहाँ से हटा ले जाओ। आर्त्त भक्त काली चरण गल-वस्त्र हो प्रार्थना करने लगे। ब्रह्मचारी बाबा उत्तेजित हो कहने लगे,—"देख, तू धनी का बेटा है। नये पात्र में दूध दे सको तभी तुम्हारा दूध रखा जायगा।" बाजार से इसी समय एक नया भांड़ लाकर उसमें यह दूध रखा गया। फिर भी ब्रह्मचारी क्रुद्ध स्वर में कहने लगे, "नहीं, वह दूध कभी भी नहीं रखा जायगा।" निर्देशानुसार दुग्ध-भांड़ नीचे आँगन में उतार कर रखा गया। ठीक ऐसे ही समय आश्रम का एक कुत्ता वहाँ आकर उपस्थित हो गया। भांड़ में मुँह लगाकर उसे दुग्ध-पान करते देख काली चरण पोद्दार एक बार ही मार-मार कर उठे। मार-मार, दुर-दुर कहते हुए पीछे दौड़कर उन्होंने कुत्ते को उसी समय आश्रम से बाहर भगा दिया।

लोकनाथ ब्रह्मचारी इस बार उत्तेजित कण्ठ से कहने लगे, "देख, इसीलिए तुम्हारा दिया दूध मैंने अबतक ग्रहण नहीं किया। जो दूध तुमने मुझे दिया है. निवेदन के संग-संग ही क्या उसपर तुम्हारे स्वत्व का लोप नहीं हुआ है? तब आश्रम के कुत्ते भगाने का तुम्हारा कौन-सा अधिकार है, बोल तो?" धनी भक्त के आत्माभिमान दमन के साथ-साथ लोकनाथ ने उसे समझा दिया कि उनका आश्रम कुटीर सर्वजनीय धर्म-पीठ है—क्या मनुष्य, क्या पशु आश्रमस्थ सभी जीवों का आश्रम की चीजों पर समान अधिकार है। इसके

कालीचरण पोद्दार का वह दुग्ध-भाण्ड आंगन में ही पड़ा रहा। किन्तु नितान्त विस्मय का विषय है कि उस अंचल के किसी कुत्ते या बिडाल ने उसे स्पर्श तक नहीं किया। अंत में सब दूध जमीन पर ढाल दिया गया।

उस समय चारों ओर 'बारदी के गोसाईं' की महिमा और सिद्धाई की कथा-कहानी प्रचारित हो रही थी। चतुर्दिक् से भक्तों के दल यहां भीड़ करने लगे। इसी समय एक दिघ भावाल के प्रतापान्वित जमींदार राजा राजेन्द्र नारायण ब्रह्मचारी बाबा का दर्शन करने आये। पथ में, हाथी की पीठ पर बैठे राजेन्द्र नारायण पार्षदों के संग आलोचना कर रहे थे, ब्रह्मचारी बाबा को वे सभी प्रणाम करेंगे अथवा नहीं। शक्तिधर महापुरुष होने से क्या हुआ, जाति का तो कोई ठिकाना नहीं! इसीसे सबों ने परामर्श कर स्थिर किया, साष्टांग प्रणाम करना अथवा चरण-धूलि लेना ठींक नहीं होगा। वे लोग सामने खड़े होकर केवल नमस्कार और सम्मान-प्रदर्शन हो करेंगे। किन्तु लोकनाथ के सम्मुख जाने के साथ ही राजेन्द्र नारायण ने भूमिष्ट हो श्रद्धा के साथ उन्हें प्रणाम किया। चरण-धूलि लेकर उठने के साथ ही ब्रह्मचारी ने सबों को विस्मित करते हुए कहा, "क्यों बाबा? प्रणाम नहीं करने का ही निश्चय कर तो सब आये थे?" इन्हीं भूम्यधिकारी भक्त की चेष्टा से ही लोकनाथ का वह प्रचारित फोटो लेना संभव हुआ था।

सामाजिक जिम्मेदारी और व्यक्तिगत कर्त्तव्य के सम्बन्ध में ब्रह्मचारी का मत बहुत स्पष्ट था। लोक-शिक्षा की ओर दृष्टि रखकर निर्देशादि देते भी उनसे कभी भूल न होती। पिता-माता के प्रति कर्त्तव्य के सम्बन्ध में एकबार उन्होंने अपने भक्त मदन चक्रवर्ती को कहा था, "देखो, पिता-माता का भरण-पोषण और आनन्दविधान जो करे, वही तो सच्चा पुत्र है।" उसके बाद रहस्य भरी हँसी के साथ कहने लगे, "गयामातृ पिण्डदानञ्च—इसका तात्पर्य सुना है तो? गयासुर को

पिण्डदान नहीं देने से वह एकदम क्रोध से भर जाता है। तब इस क्रुद्ध असुर को शान्त करना विष्णु-पाद-पद्म का काम नहीं--वह शक्ति पिण्ड में ही है। अच्छा, तुम्हारे बीच जो एक गयासुर रह रहा है, उसे पिण्ड वा आहार नहीं देने से वह क्रोधोन्मत्त होता है या नहीं--बोलो तो? ऐसा जब होता है--तब इस गयासुरधृत पिता-माता को जो खिलाता और पहनाता है—वह-ही क्या प्रकृत पुत्र नहीं।"

उपर्युक्त भक्त की माता के पाँव में एक बार सड़ने वाला घाव हुआ। लोकनाथ के आश्रम-सहन में कुछ दिन रहने पर उनकी कृपा से चक्रवर्ती की इस वृद्धा माता ने आरोग्य लाभ किया। रोगी को विदा करते समय लोकनाथ ब्रह्मचारी ने अपनी स्वभाव-सिद्ध भाषा में कहा, "मदन, तुम्हारी माँ अच्छी हो गई है, अब इन्हें घर ले जाओ। और देख, तू जैसे भक्तिभाव से मुझे बाबा कह पुकारता है, तेरी माँ क्या वैसी ही भक्ति से भतार रूप में मेरी भावना नहीं करसकती?" पहेलिकामय और रसविवर्जित इस उक्ति का निहितार्थ था—सत्यकार अपनत्व के भाव से जो आत्मनिवेदन होता है उसके सम्पन्न होने पर ही ब्रह्मचारी अकृपण भाव से अपने परमाश्रय का दान करते हैं।

साधन-पथ पर अग्रसर होते समय राजमोहन चक्रवर्ती नामक एक व्यक्ति के हृदय में नाना विभ्रान्तियाँ पैदा हुईं। उग्र और नानाभिमानी भंगिमा से प्रायः ही वह कहते, "शालग्राम-शिला की मैं क्यों पूजा करूँ? वह एक शिला-खण्ड छोड़ और कुछ नहीं।" पवित्र शिला-विग्रह पर वह एक दिन पाँव रखकर खड़े भी हो गये थे।

चक्रवर्ती महाशय को लोकनाथ के सामने लाकर उपस्थित किया गया। महापुरुष के निकट उनके विषय में किसी ने कुछ नहीं कहा, किन्तु वह उन्हें देखते ही उसदिन गरज उठे। दृढ़ स्वर से कहा, "मेरे निकट कितने देश-विदेश के लोग आते जाते हैं, कितने लोग कितनी भाँति

के फल पाते हैं, किन्तु मैं तो कभी भी तुम्हारे समान अपने आप को ईश्वर कह प्रकाशित नहीं करता—और शालग्राम के ऊपर पाँव रख लोगों की मनः पीड़ा का कारण नही बनता।"

लोकनाथ की जीवन-लीला इस समय केवल मानव-कल्याण के लिए ही थी। शत-शत दुःख-दैन्य प्रपीड़ित नरनारियों का आर्त्त आवेदन इस महापुरुष के अन्तर को विगलित कर देता।

इस समय शक्तिधर लोकनाथ ब्रह्मचारी में हम दो रूपों को प्रस्फुटित होते देखते हैं। एक से वह सामाजिक आदर्श और बन्धन मानकर चलते हैं और दूसरे के द्वारा यह सर्व-बन्धन-मुक्त महापुरुष योग-सिद्धि की कल्याण धारा को चतुर्दिक् विस्तारित करते हैं।

ब्रह्मचारी बाबा, किन्तु लोक-शिक्षा जन्य ही लोकाचार मानते। इसीसे हम देखते हैं, शत वत्सर काल अनावृत भाव से तुषारांचल में वास करके आने पर भी वह बारदी में गरम कपड़े और दुलाई का व्यवहार करते। दीर्घकाल उलंग भाव से विचरण करने के बाद भी सामाजिक वातावरण के उपयुक्त परिच्छद का व्यवहार करने में, यहाँतक कि उपवीत धारण करने में भी, उन्हें आपत्ति नहीं थी। फल और कन्दमूल आहार के स्थान पर अन्न भोजन का अभ्यास डालने में वह जरा भी पीछे नहीं हुए।

मुख्यतः ग्राम्य समाज को केन्द्र कर ही ब्रह्मचारी का यह लीला-नाट्य अभिनीत होता। साधारण मानव-जीवन के पाप-ताप, दुःख-दैन्य को महायोगी अपने अपरिमेय सामर्थ्य द्वारा धारण कर लेते। उनकी कृपा जैसे सकल प्राणी के लिए ही उन्मुक्त थी। स्थान, काल, पात्र का हिसाब वहाँ नहीं। हृदय के भाव को प्रार्थना की कड़ियाँ बना निवेदन करते ही उनकी करुणा से कोई बंचित न होता।

कितने पापी और पाखण्डी भी उनकी अहेतुक कृपा लाभ करने में समर्थ हुए थे। ऐसों की संख्या भी कुछ कम न थी। लोकनाथ

की यह कृपा, किन्तु उनकी योग-विभूति के माध्यम से ही प्रकट होती।

लोकनाथ के योग-सामर्थ्य का एक विशेष रूप था कि वे सूक्ष्मदेह में यत्र तत्र विचरण करते। भक्तों-आश्रितों के कल्याण के लिए उन्हें बहुबार ही शक्ति का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। लोकनाथ के शिष्य और चरितकार ब्रह्मानन्द भारती इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं, "बाबा जब देह छोड़कर चले जाते, तब भी वह आसन पर उपविष्ट रहते, देह दीवाल में ओठंग कर निद्रित की तरह पड़ी रहती। पार्श्वस्थ परिचारक लोग उस समय बोलते-गोसाई मर गये हैं, किन्तु कुछ देर में जी उठेंगे। इस प्रकार देह से बाहर हो जाने की बात को स्वयं ही उन्होंने स्वीकार किया है।"

एक बार दरभंगा में अवस्थान करते समय विजय कृष्ण गोस्वामी महाशय मरणासन्न पीड़ा से कातर हो उठे। दुःसाध्य उदर रोग से उस समय वे आक्रान्त थे। डाक्टर रोगी की प्राण-रक्षा के सम्बन्ध में एकदम हताश हो चुके थे। आत्मीय स्वजनगण भी अन्तिम समय की प्रतीक्षा में केवल भगवान का नाम स्मरणकर रहे थे। इस संकट काल में हठात् एकदिन गोस्वामी महाशय के प्रिय शिष्य श्यामाचरण बक्शी महाशय द्रुतपद बारदी ग्राम आकर उपस्थित हुए। ब्रह्मचारी के चरणों से वह चिपट गये—उनके गुरु, गोस्वामीजी की प्राण-रक्षा उन्हें करनी होगी। श्यामाचरण रोते-रोते अनुनय करते हुए कहने लगे, "बाबा, मेरी आयु देकर आप गोसाई जी की रक्षा कर दें।"

लोकनाथ बाबा स्वयं ही विजयकृष्णपर बड़ा स्नेह रखते थे। इसके ऊपर श्यामाचरण का यह क्रन्दन और सकरुण आवेदन! उनका हृदय विगलित हो गया। उनसे कहा, "तुम ढ़ाका लौट जाओ, चिन्ता न करो। मैं गोसाई के निकट जाऊँगा। परसों तुम्हें शुभ संवाद मिल जायगा। ब्रह्मचारी किन्तु बराबर की तरह बारदी में

ही रहे और इसी समय दरभंगा में मरणोन्मुख विजय कृष्ण की शय्या के पास उनकी शुश्रूषा करने वाले एकदिन महापुरुष लोकनाथ के आकस्मिक आविर्भाव से विस्मय-गिमूढ़ हो गये। गोस्वामी पाद श्री विजयकृष्ण के जीवनीकार श्री अमृतलाल सेन गुप्त ने भी इस अलौकिक घटना का उल्लेख किया है।

लोकनाथ भक्तदल परिवेष्ठित हो एक दिन आश्रम में बैठे हुए थे। डाक-हरकारा इसी समय एक पुलिन्दा चिट्ठी लेकर उपस्थित हुआ। ऊपर वाली चिट्ठी को दूर कर से ही लक्ष्यकर ब्रह्मचारी बोले, देखो तो, पार्वती की चिट्ठी है न, क्या लिखा है?" पार्वतीचरण राय महाशय बाबा के परम भक्त थे। उन दिनों वे दार्जिलिंग के डिपुटी मैजिस्ट्रेट थे। शिक्षा एवं आचरण में साहेबी भावापन्न राय महाशय ने ब्रह्मचारी बाबा में किस वस्तु का दर्शन किया था, यह वही जानें। इसके अलावा, इस महापुरुष की अहेतुकी कृपा की वर्षा भी उनके ऊपर कम न हुई। पार्वती बाबू ने अपनी इस चिट्ठी में लिखा था, वह सम्प्रति दुरारोग्य व्याधि से शय्याशायी हैं। किन्तु इस पत्र के लिखने से पूर्व दिन उन्होंने हठात् शय्यापार्श्व में ब्रह्मचारी बाबा का दर्शन किया एवं इसके तुरत बाद से वह आरोग्य-लाभ करने लगे। ब्रह्मचारी बाबा की कृपा दृष्टि इसी तरह सतत बनी रहे, यह उनकी प्रार्थना थी।

इसके कुछ ही दिनो बाद पार्वती बाबू छुट्टी लेकर लोकनाथ के दर्शन करने बारदी ग्राम में आये। पहुँचते ही ब्रह्मचारी बाबा से उन्होंने जिज्ञासा की, "बाबा, सच बताइए आप क्या इस बीच में दार्जिलिंग गये थे?" महापुरुष ने कौतुक भरी हँसी के साथ उत्तर दिया, "मैं क्या कभी बारदी ग्राम छोड़कर कहीं जाता हूँ रे?" पार्वती बाबू नितान्त अवाक् हो पड़े, किन्तु वह भी सहज ही छोड़नेवाले पात्र नहीं थे। बारंबार कहने लगे, "किन्तु बाबा, मैंने आपको स्वप्न में तो देखा नहीं! जाग्रत अवस्था

में अपने शयन-गृह में आपको स्थूल देह में, जीवन रूप में ही देखा है। और उसके बाद ही मेरी व्याधि चली गई।" ब्रह्मचारी बाबा ने संक्षेप में उत्तर देते हुए केवल इतना ही कहा, "मैं जो तुम्हारे विषय में उस समय चिन्ता कर रहा था।"

लोकनाथ के सूक्ष्म देह में विचरण की और भी चमत्कारी कहानी है! वह घटना घटी अमेरिका में। डा० निशिकान्त बसु कुछ दिनों तक अमेरिका में चिकित्सा-व्यवसाय करते रहे। एक दिन एक संभ्रान्त अमरीकी महिला उनके निकट आ उपस्थित हुई। वह असाध्य व्यथा से पीड़ित थीं। पाश्चात्य प्रणाली की आधुनिकतम चिकित्सा के समस्त प्रयोग व्यर्थ हो चुके थे। रोगिनी एकबार भारत की प्राचीन प्रथा से चिकित्सा कराकर देखना चाहती थीं। भारत के प्रति उनकी श्रद्धा और आकर्षण की सीमा नहीं थी। इसलिए वह, सबसे निराश हो अन्तिम बार योग-शक्ति के अलौकिक देश-भारतवर्ष की चिकित्सा को आजमा कर देखना चाहती थीं।

किन्तु डा० बसु अमेरिकन महिला को बारंबार समझाने लगे—भारतीय चिकित्सा-विज्ञान उनका कुछ भी जाना हुआ नहीं। इस विषय का उनका ज्ञान भी नितान्त कम है। किस तरह वह यह चिकित्सा करेंगे? फिर भी अनुरोध जारी था, ऐसे समय महिला हठात् सविस्मय चीत्कार कर उठीं, "यह क्या अद्भुत व्यापार! डाक्टर, आपके पीछे वह कौन खड़े हैं। कौन वह?" अमेरिकन महिला उस समय डाक्टर के पीछे एक दीर्घकाय, जटा-जूट-मण्डित भारतीय महापुरुष की अलौकिक मूर्त्ति का दर्शन कर रही थीं। पीठ पीछे आविर्भूत होने से डाक्टर इस मूर्त्ति को नहीं देख पा रहे थे। किन्तु रोगिनी मुहूर्त्त भर में बोल उठीं, "डाक्टर! मैंने किन्तु अपने रोग की औषधि पा ली है।" यह तो एक महाविस्मयकारी काण्ड था। डाक्टर बसु ने प्रत्यक्ष देखा कि कोई जैसे पलक मारते न मारते

उनके सम्मुख दण्डायमान रोगिनी की मुट्ठी में एक भारतीय औषधि रख गया है।

अमरीकी महिला ने अपने इस अप्राकृत दर्शन का जो विवरण दिया, उससे डाक्टर बसु का विस्मय चरम सीमा को पहुँच गना। दृष्ट महापुरुष की वर्णना हू-बहू लोकनाथ ब्रह्मचारी बाबा से मिल जाती थी। चिकित्साविद् निशिकान्त बसु लोकनाथ के परम भक्त बारदी ग्राम के नाग महाशयों के सम्बन्धी थे। कुछ दिन बाद भारत लौट-कर वह बारदी आये और सबके समक्ष में इस अद्‌भुत तथ्य का उद्‌घाटन किया।

लोकनाथजी की योग-विभूति का विस्मयकर प्रकाश—असामान्य सिद्ध पुरुष के नाते उनका स्वाभाविक धर्म-सा था। कातर-प्रार्थना और आर्त्त आवेदन से वह मुहूर्त्त भर में प्रकट हो उठते। उनकी यह करुणा कितने शत-सहस्र आर्त्त और रोगग्रस्त नर नारियों को बारदी खींच लायी।

पूर्णचन्द्र घोष महाशय के व्याधि-निरामय की घटना इसी श्रेणी की कृपा का निदर्शन था। उत्कट महारोग को भोगते-भोगते एक समय उन्हें प्राणी का भी संशय होने लगा। अन्त में बादरी जाकर ब्रह्मचारी बाबा का आश्रय-लाभ करने पर वह सम्पूर्ण रूप से रोग-मुक्त हुए।

परवर्ती काल में पूर्ण बाबू कुछ दिन ढाका में बूढ़ी गंगा के तीर पर खुली जगह में सारे शरीर पर मिट्टी मल-कर बैठे रहते। इनके एक घनिष्ट बन्धु एक दिन इस स्थान से होकर कहाँ जा रहे थे। समस्त शरीर में माटी लेपकर इस तरह किम्भूत किमाकार सजे हुए घोष महाशय को बैठे देख उन्होंने रहस्य की भंगिमा से उन्हें कहा, "क्यों जी, डिपुटी बाबू, तुम्हारी ऐसी दुर्दशा क्यों ?"

पूर्ण बाबू ने अश्रु-रुद्ध कण्ठ से उत्तर दिया, "भाई, मेरी दारुण महाव्याधि लोकनाथ बाबा की कृपा से एक बार ही दूर हो गई है।

मैंने फिर से जीवन पाया है। ब्रह्मचारी बाबा ने मुझे निर्देश दिया है कि कई दिनों तक बूढ़ी गंगा की माटी लेपकर तुम्हें रहना होगा। ऐसा नहीं करने से इस रोग के पुनराक्रमण की आशंका रह ही जाती। इसीलिए मैं माटी का लेप लगाता हूँ और इसे लेपकर जो प्रकाश्य स्थान में बैठा हूँ, उसका उद्देश्य है—अविश्वासी श्रद्धाहीन पाखण्डियों के निकट ब्रह्मचारी बाबा के माहात्म्य की घोषणा करना। वे हतभागे जानें, अभी भी भारत में इस तरह के शक्तिधर महापुरुष वर्त्तमान हैं। किन्तु वे लोग केवल श्रद्धावानों के सम्मुख ही अपने को प्रकट करते हैं।"

जीव के ऊपर लोकनाथ का करुणा-वर्षण और व्याधि-मोचन के प्रसंग में एक बार शिष्य ब्रह्मानन्द भारती महाशय ने उनसे बहुत-से प्रश्न किये थे। उनका उत्तर बड़ा ही तात्पर्य-पूर्ण था। लोकनाथ बाबा से पूछा गया, "बाबा. तुम रोगियों का रोग अपने ऊपर ले लेते हो, यह तो देखा नहीं; फिर ये रोगी आरोग्य-लाभ कैसे करते हैं ?"

व्याधि-ग्रस्तों पर मेरी दया होने से मेरी शक्ति द्वारा उनके रोग दूर हो जाते हैं।

"तुम्हारी दया है किस तरह ?"

"मुझे तुष्ट करने से, मेरी इच्छा और प्रेम जगाने से।"

"तुम क्या करने से सत्य रूप में तुष्ट होते हो ? फिर तुम्हारा प्रेम ही कैसे जगाया जाय ?" उत्तर केवल इतना ही था, "यह तो जानता नहीं।"

लोकनाथ का करुणाघन रूप किन्तु एक विभ्रान्तिकर आवरण से आवृत था। उनकी नीरव तप: क्लिष्ट मूर्त्ति के व्यवधान और मर्मभेदी वाक्य-बाण के ढाल को भेदकर जो एक बार उनके घनिष्ट सान्निध्य में जा पाता उसे महापुरुष के अन्तर-स्नेह-रस में अवगाहन की बाधा न होती। किन्तु बहिरंग जीवन की ऊसर वालुका राशि को हटाकर

बहुत कम लोग ही उनके अन्तर्निहित फल्गु-स्रोत का सन्धान पा सके थे। लोकनाथ के महाजीवन में कठोर और कोमल का विस्मयकारी सम्मिश्रण था।

विजय कृष्ण गोस्वामी के एक विशिष्ट शिष्य एक वार वारदी आये। ब्रह्मचारी बाबा इस भद्रपुरुष के निकट उनके गुरुदेव की वहुत निन्दा करने लगे। गोस्वामी जी के प्रिय शिष्य यह सुनकर क्षिप्तप्राय हो गये। इसके प्रत्युत्तर में ब्रह्मचारी बाबा को नाना कटूक्ति कहते-कहते वह उत्तेजित भाव में उस दिन आश्रम त्याग कर बाहर चले गये। लोकनाथ किन्तु यहाँ एक चतुर अभिनय ही कर रहे थे। कुछ क्षण बाद ही गोस्वामी जी के उस शिष्य को बुलवाकर उन्होंने नाना भाव से उसे परितुष्ट किया।

इसके कुछ दिन बाद प्रभुपाद विजयकृष्ण एकबार बारदी आये। उपर्युक्त घटना का उल्लेख कर लोकनाथ वे तब सहास्य उनसे कहा था, 'जीवनकृष्ण, देखा तुम्हारे शिष्य तुम्हें सच्चे हृदय से प्यार करते हैं। गोस्वामी विजयकृष्ण को ब्रह्मचारी स्नेह से 'जीवनकृष्ण' कह पुकारते। इस महापुरुष की कल्याण दृष्टि गोस्वामी पाद के प्रति सतत प्रसारित रहती। अनेक बार यह देखा गया था। किन्तु उस दिन परिहास छल से उस शिष्य के निकट उनकी निन्दा करके उन्होंने कैसा अनोखा काण्ड खड़ा कर दिया था। दूसरी घटना श्री रामकृष्ण के शिष्य दुर्गाचरण को केन्द्र कर घटी। साधु दुर्गाचरण नाग महाशय देव भोग के अधिवासी थे एवं बारदी ग्राम के निकट ही अवस्थान करते थे। एक दिन इस बहुख्यात महापुरुष का दर्शन करने वह उनके आश्रम में आये। नाग महाशय दैन्य और निरभिमानता की प्रतिमूर्ति थे। नितान्त कंगाल के वेश में ही वे चलते फिरते। शरीर एक जीर्ण चादर से आवृत रहता। परिधेय वस्त्र अत्यन्त मलिन और वेश अविन्यस्त तथा अपरिच्छन्न रहते। इस वेश में नाग महाशय ब्रह्मचारी के आश्रम में उपस्थित हुए।

उनके आते ही लोकनाथ ने हँसकर पूछा "क्यों रे, तुम्हारा ऐसा वेश क्यों है ? केश, कपड़ा आदि परिष्कृत रहने से क्या धर्म नहीं होता ?"

साधु नाग महाशय एकदम चुप साधे बैठे रहे। ब्रह्मचारी सहज ही छोड़ने वाले नहीं थे। दुबारा प्रश्न किया, "तुम्हारा गुरु कौन है ?" साधु नाग महाशय ने सविनय उत्तर दिया, "जो, श्री रामकृष्ण परमहंस देव" किन्तु यह बतला देने से ही रक्षा कहाँ ? लोकनाथ फिर श्लेषात्मक सुर से उन्हें कहने लगे, "तुम्हारे गुरु ने क्या तुम्हें इस तरह ही रहने को कहा है ?" नाग महाशय नीरव ही खड़े रहे। ब्रह्मचारी बाबा का परिहास किन्तु यहीं शेष नहीं हुआ। नितान्त उपहासात्मक भंगिमा से वह बोलने लगे, "यदि ऐसा ही है तो जैसा गुरु वैसा ही उसका शिष्य तैयार हुआ है।"

गुरु-सर्वस्व नाग महाशय के लिए यह निन्दा-परिहास अब सहन-सीमा के पार था। यह यहाँ एक भी शब्द का उच्चारण न कर वह अविलम्ब आश्रम त्याग कर चले गये। कहना निष्प्रयोजन है कि लोकनाथ के समान महासिद्ध संन्यासी के निकट श्री रामकृष्ण का परिचय अविदित नहीं था। साधु नाग महाशय का साधनोत्कर्ष भी उनसे अज्ञात नहीं था। मन और मुख का यह वैपरीत्य प्रकट कर क्या वह विभ्रान्ति की सृष्टि नहीं कर बैठे। यही था कठोर-दर्शन, अथच परम कारुणिक लोकनाथ की मानवीय-लीला की एक विचित्र भंगिमा।

बहिरंग कथा वार्त्ता और वाह्य आचरण के द्वारा लोकनाथ को समझना बहुत ही कठिन था। उनके दुहरे अर्थ बोधक वाक्यों का सच्चा तात्पर्य न समझ पाने के कारण कभी-कभी गोलमाल हो जाता।

लोकनाथ को प्रायः ही बोलते सुना जाता "विभूति को मैं प्रस्राव की तरह मानता हूँ।" अथच इसी योग-विभूति की कितनी ही

लीला उनके अध्यात्म जीवन के स्तर-स्तर में अपरूप महिमा से समन्वित हो विकसित हुई थी। मानव-कल्याण-जन्य इस करुणाघन महापुरुष के अन्तर में जब कभी कोई आलोड़न उठा है—योगविभूति जैसे नितान्त किंकरी के समान उनका आदेश-पाल कर धन्य होती।

एक बार लोकनाथ के इसी तरह के एक रहस्यपूर्ण और विभ्रान्तिकर वाक्य के फलस्वरूप बारदी ग्राम मे प्रवल उत्तेजना की सृष्टि हुई। यह कहानी बहुत विचित्र है। ब्रह्मचारी बाबा के आश्रम में शत-शत लोग आना-जाना कर रहे हैं। रोगी, प्रार्थी एवं मुमुक्षु जनता की भीड़ का जैसे अन्त नहीं। इसी समय एक दिन स्थानीय कर्मकारगण मृदंग करताल एवं बतासा भरा भांड इत्यादि लेकर उपस्थित हुए। उन्होंने लोकनाथ के कुटीर के निकट आकर सोत्साह कहा, आज गोसाईं के आश्रम में वे हरिनाम की लूट करने आये हैं। किन्तु, यह बात सुनकर लोकनाथ अकस्मात् रूक्ष स्वर में बोल उठे, "ओ रे, जाओ-जाओ, यहाँ से चटपट भाग पड़ो। यहाँ तुमलोग का हरि नहीं। जहां हरि रहता हो वहीं जाकर हुल्लड़ करो—और हरिनाम लुटाओ।"

कीर्तनिया दल इसपर रुष्ट हो नाना तरह की बातें कहने लगा! ब्रह्मचारी भी क्रुद्ध हो उच्च कण्ठ से उन्हें कहने लगे, "तुम लोगों के हरि के मुख में मैं पेशाव करता हूँ।" गोसाईं की इस तरह की कटूक्ति सुनकर कर्मकार दल उत्तेजित हो आश्रम त्याग कर चला गया।

कर्मकार दल का मोड़ल नवीन कर्मकार ब्रह्मचारी बाबा का एक परम भक्तजन था। उस दिन वह वहाँ उपस्थित नहीं था। यह घटना अगले दिन उसके कानों में गई। बन्धु-बान्धवों को अनेक तरह से समझा-बुझाकर वह आश्रम में उपस्थित हुआ। गोसाईं के पास से वह घटना का सच्चा विवरण जानना चाहता था। उनके समान महासिद्ध योगी पुरुष के मुख से

इस प्रकार की दायित्वहीन उक्ति क्यों निकली ? इसका सच्चा रहस्य जानने के लिए नवीन ने ब्रह्मचारी बाबा से अनुरोध किया।

किन्तु लोकनाथ निर्विकार भाव से बोलने लगे, "देख, सब साला भंडों का दल उस दिन हों-हा करने आया था। यह कपट-आचरण मैंने उनलोगों को यहाँ करने नहीं दिया। इसके अतिरिक्त, वे लोग मेरी बात अमान्य कर बहस करने लगे। इसीलिए तो मैंने कहा—तुमलोगों के हरि के मुख में मैं पेसाव करता हूँ।"

उसके बाद लोकनाथ ने स्मित हास्य से कहा, 'यह बात सुन वे सब क्रुद्ध हो आश्रम से चले गये। किन्तु सत्य में क्रोध करने का कुछ था क्या ? तुम सब विचार कर देखो, मैंने भी शास्त्र के विरुद्ध नहीं कहा था। पुराण में लिखा है, हरि ने हाँ कर यशोदा को अपने मुख में सारा ब्रह्माण्ड दिखा दिया। मैं जब ब्रह्माण्ड का ही एक व्यक्ति हूँ और प्रस्राव भी इस ब्रह्माण्ड में ही करता हूँ, तब हरि के मुख में प्रस्राव करता हूँ, यह कहने में दोष क्या हुआ बता तो ?" ब्रह्मचारी के कहने की भंगिमा से नवीन कर्मकार और उसके अनुवर्तियों के मन का खेद दूर हुआ। सबों ने उपलब्धि की कि अध्यात्म-राज्य के उच्चतर स्तर से अनन्य साधारण दृष्टि-भंगी लेकर ही महापुरुष द्वयर्थ बोधक बातें किया करते हैं। साधारण के पक्ष में यह सहज बोधगम्य किस तरह हो सकता हैं ?

और भी एक अनुरूप घटना को लेकर ब्रह्मचारी बाबा के आश्रम में उत्तेजना की झंझा बह गई। लोकनाथ एकदिन आश्रम में बहुजन परिवृत बैठे हुए थे। ऐसे समय में पुरी के जगन्नाथ देव का एक पण्डा वहाँ आ पहुँचा। उसके हाथ में था नीलाचलनाथ का महाप्रसाद।

ब्रह्मचारी बाबा को खिलाने के लिए पण्डा उनकी ओर अग्रसर हुआ। ब्रह्मचारी किन्तु अकस्मात् उच्चस्वर में बोल उठे, "ठहरो, ठहरो मैं

तो मुसलमान हूँ।" पण्डा हक्का बक्का हो जहाँ का तहाँ खड़ा रहा। उपर्युक्त बात सुनकर उपस्थित सभी लोग हतवाक् रह गये—सभी की सप्रश्न दृष्टि लोकनाथ के मुख पर निबद्ध हो गई।

पण्डा को कुछ पैसा देकर विदा किया गया। ब्रह्मचारी बाबा चतुर हँसी हँसकर कहने लगे, "तुम सब अवाक् हो गये हो न! मैं तो 'मुसल्लम ईमान-मुसलमान' हूँ। अर्थात् मेरा सोलह आना 'ईमान' या धर्म सुरक्षित है। इसीसे और अधिक 'ईमान' पाने के लिये प्रसाद-भक्षण का मेरा प्रयोजन नहीं।" ब्रह्मचारी बाबा की अरबी भाषा की व्युत्पत्ति देख कई लोगों ने इस विषय में उनसे प्रश्न किया। उन्होंने उत्तर दिया, "मैं और मेरे गुरु (आचार्य भगवान गांगुली महाशय) दोनों इकठ्ठे ही परिव्राजन—काल में काबुल पहुँचे। वहाँ मुल्ला सादी के घर पर रहकर हमने कुछ दिन कुरान का पाठ किया था।" महम्मदीय धर्म में सिद्धिलाभ का कौन कौन पथ निर्दिष्ट है, साधक-प्रवर लोकनाथ उसे जानने के लिए भी एक समय सचेष्ट हुए थे। सर्व धर्म समन्वय और आध्यात्मिक अनुसंधान की उदारता की दृष्टि से वह थे श्री रामकृष्ण के ही एक पूर्व-साधक।

अपनी साधन—सफलता और आत्म साक्षात्कार का वर्णन लोकनाथ अपनी स्वकीय वैशिष्ट्य पूर्ण भंगिमा से कर गये हैं। उन्होंने इस सम्पर्क में कहा है, "और मैं शतवत्सर से भी ज्यादा पहाड़-पर्वतो में घूमा हूँ। इस शरीर के ऊपर कितनी बर्फ जल होकर बह गई है, किन्तु तुमलोगों के ईश्वर से मेरा कहीं भी मिलन या साक्षात्कार नहीं हुआ—मैंने देखा है अपने को।" यह उक्ति आत्म ज्ञानियो की परम अनुभूति का ही एक निदर्शन है।

अध्यात्म चेतना के तुंग शिखर से अवतरण कर लोकनाथ ब्रह्मचारी ने अपने को जनारण्य में मिला दिया है। इस कठोर-दर्शन, शुष्क आत्म-ज्ञानी के हृदय में इसी से प्रेम और सहानुभूति की जो अन्तः संचारी धारा गुप्त रूप से प्रवाहित होती, उसका पता बसुतों को नहीं था।

केवल इतना देखा जाता, कि लोकमंगल जन्य दयार्द्र हो उठते हो उनका करुणाघन रूप लोक समाज के समक्ष खुलता। केवल मानव ही नहीं, मानवेतर जीवों के लिए भी उनके विराट् हृदय में करुणा का भी अभाव न था। और इस करुणा के स्रोत को वह आश्रितों के हृदय में भी तरंगित कर देने में समर्थ होते।

एक बार एक मुमुक्षु साधन-अभिच्छु बादरी ग्राम जाकर लोकनाथ के चरण तल में गिर पड़ा। इस महापुरुष का आश्रय लाभकर वह कृतार्थ होना चाहता था। उसकी तीव्र आर्त्ति और अनुनय-विनय का कोई फल न निकला। ब्रह्मचारी बाबा वज्र-गंभीर कण्ठ में बोल उठे "ओरे, तू अपनी स्त्री ही को जब प्रेम नहीं कर सकता-फिर मुझसे किस तरह प्रेम करेगा? जा जा, अभी ही यहाँ से उठकर चला जा।" पीछे पता चला, आगन्तुक व्यक्ति अध्यात्म-पथ पर चलने को उद्विग्न होने पर भी घर में अपनी स्त्री के साथ बहुत असद् व्यवहार करता था। इसीलिए महायोगी लोकनाथ के पद-प्रान्त में इस व्यक्ति को उस दिन आश्रय नहीं मिला।

आश्रय में सभी श्रेणी के लोग समागत होते। इनमें से किसी का साधारण मानवता बोध आत्मत्व बोध भी नहीं था। इन सब विषयसक्त व्यक्तियों को अप्रिय सत्यभासी ब्रह्मचारी के नाना वाक्य-बाण सहन करने पड़ते। ब्रह्मचारी बाबा एकदिन अपने कुटीर में भक्त जनों से घिरे बैठे थे। हठात् वे नेपथ्यस्थित किसी अदृश्य व्यक्ति को लक्ष्य कर स्वगत ही भर्त्सना करने लगे। समवेत जन मंडली इसका अर्थ समझ न पाकर केवल एक दूसरे की ओर सप्रश्न दृष्टि-निक्षेप करने लगी। कुछ क्षणों में एक अपरिचित ब्राह्मण आश्रम में आकर उपस्थित हुआ। वारदी में वह जीवन में भी कभी आया नही। इस आगन्तुक को देखते ही लोकनाथ हठात् क्रोधोद्दीप्त हो गये। महापुरुष की कटूक्ति और तिरस्कार इसके ऊपर अजस्र धारा में वर्षित होने लगा।

किसी भी अभ्यागत के लिए इस तरह का रोष और गाली-गुप्ता असह्य था। आगन्तुक ब्राह्मण इसी से कुछ क्षणों में ही नितान्त क्षुण्ण मन से गोसाइं के आश्रम से विदा हुआ। उस समय आश्रम में उपस्थित अन्यान्य लोग भी इस व्यापार से व्यथित हो गये। सत्य ही तो, गोसाईं का यह कैसा मनमाना और हृदय हीन व्यवहार था ! दूर देशागत इस ब्राह्मण के प्रति ऐसा निष्ठुर व्यवहार किये बिना क्या काम नहीं चलता ?

किन्तु कुछ क्षणों में ही लोगों के मनका भार हलका हो गया। ब्रह्मचारी बाबा ने स्वयं ही अपने इस दुर्ज्ञेय व्यवहार का रहस्योद्‌घाटन किया, कहा, कहा, "क्या तुम सबों ने मन में दुःख पाया है ? जानते हो, इस ब्राह्मण की एक विवाह योग्य लड़की है। वरपक्ष से रुपया लेकर वह इस लड़की का विवाह करना चाहता है। वह केवल रुपयों की गिनती बढ़ाना चाहता है—लड़की सुपात्र के हाथों पड़ेगी या कुपात्र के हाथों, इसकी कोई चिन्ता इसे नहीं। साला जैसे नरमांस विक्रयकारी कसाई है। इसीसे तो इसे मैंने आश्रम से भगा दिया।"

कई कौतूहली व्यक्तियों ने इसी समय दौड़कर इस ब्राह्मण को जा पकड़ा। अनुसंधान से पता चला कि ब्रह्मचारी बाबा को उक्ति सर्वांश में सत्य थी। महापुरुष ने इसब्राह्मण की कन्या के मंगलकांक्षी हो आज इस निष्ठुर भाव से इसकी भर्त्सना की। ब्राह्मण ने अपनी कन्या के विवाह के लिए विभिन्न वरपक्षों के निकट सौदे की रकम आठ सौ रुपये कर दी थी। वह और भी बढ़ सकती है या नहीं, यही जानने को यह अति विषयी व्यक्ति आज बारदी आया था। लोकनाथ के तिरस्कार के फल से आज कन्या के कल्याण की ओर इसकी दृष्टि गयी। अनुतप्त ब्राह्मण ने साश्रु सबके निकट यह स्वीकार किया।

मानवेतर प्राणी भी लोकनाथ की महानुभूति और कृपा पाते। ढाका-मीरपुर स्कूल के एक पंडित महाशय एक दिन ब्रह्मचारी बाबा का चरण-दर्शन करने आये। किन्तु साक्षात्कार के समय देखा गया कि लोकनाथ जैसे इस आगन्तुक के प्रति नितान्त विरूप और कुपित हो बैठे हों। पंडित

महाशय के नाना अनुनय-विनय करने पर वह हठात् बोल उठे, "कौवे सब तुम्हारे घर से बाहर फेंक दिये गये, भात खाने आये थे। उन्हें छोटा समझ भगाकर तू मेरे पास क्यों आया है? कौवों का शब्द तुम्हारे कानों को नितान्त विकृत और कर्कश लगता है न? किन्तु तुम्हारे समान विषयी लोगों का शब्द तुमलोगों की कथावर्त्ता भी तो मेरे निकट ऐसे ही असह्य लगती है। किन्तु मैं क्या तुमलोगों को कभी इस तरह भगाता हूँ?"

एकबार किसी भक्त ब्राह्मण ने अपने पितृ-श्राद्ध में लोकनाथ को निमंत्रित किया। ब्राह्मण की आन्तरिक अभिलाषा थी कि इस बहाने इस महापुरुष की पवित्र पदरज उनके घर में पड़े। किन्तु, लोकनाथ ब्रह्मचारी वैषयिक और सामाजिक अनुष्ठानों में अधिक नहीं जाते। किन्तु उस दिन इस ब्राह्मण का अनुरध टालना कठिन हुआ। इसी से बाध्य हो उन्हें कहना पड़ा "अच्छा, जाऊँगा।"

इधर श्राद्ध-दिवस में लोकनाथ को अनुपस्थित देख भक्त के मन पर बहुत आघात लगा। दूसरे दिन बारदी के आश्रम में उपस्थित हो वह दुःख के साथ कहने लगे, बाबा, मैंने बड़ी आशा की थी, परन्तु आप गये नहीं, अपना वचन भी नहीं निबाहा।"

लोकनाथ ने गंभीर स्वर में कहा, "मैं तो गया था। तुमने ही मुझे निकाल दिया।"

"मैंने आपको निकाल दिया? यह क्या अद्भुत और अविश्वास्य बात बाबा!"

"ठीक ही तुमने मुझे भगा दिया। तुम्हारे दूध-दही के घर में एक कुत्ता दो-दो बार आहार के लिए घुसा था, याद है? तू ने उन दोनों बार ही मुझे लाठी से मारकर भगा दिया। मैं तो ठीक ही गया था किन्तु तुम्हारे भगा देने पर क्या करता, बोलो तो?

१२९७ साल की वात है। इसके प्राय: सत्ताईस वर्ष पूर्व १२७० साल में लोकनाथ ब्रह्मपुत्र के सन्निकटस्थ इस बारदी में उपनीत हुए थे। जनजीवन के बीच आसन लगाकर इस महा शक्तिधर योगी ने बहुत वर्ष काट दिये। इस बार उनके लीला-संवरण का समय आ पहुँचा है।

आश्रम-कुटीर में ब्रह्मचारी ने इस समय स्वयं ही एकदिन इसका संकेत किया। अन्तरंग भक्तों के साथ वार्त्तालाप कर रहे थे। अकस्मात् क्या जाने क्या विचारकर महापुरुष कहने लगे, "देह तो जैसे एक पंछी का खोंता···मुझे सब लोग मनुष्य मान बैठे हैं···भवरोगी कहीं देखा नहीं।" एक भक्त महिला सबिस्मय बोल उठीं, क्या कहा बाबा, आपको सब मनुष्यभाव से देखते हैं?" किसी विस्मृत मुहूर्त्त में महापुरुष के मन का द्वार जैसे थोड़ा-सा खुल गया हो। संग-संग ही आत्म-संवित् प्राप्त हो, चौंककर कहा, "ओह! देख लिया? जा:, मुझसे भूल हो गई थी। देह जो है, यह स्मरण ही नहीं रहा।" इस आत्म-विस्मृति के द्वारा ही ब्रह्मचारी ने जैसे अपने महाप्रयाण का आभास मात्र उसदिन दे दिया।

देह त्याग करने का पथ भी ब्रह्मचारी बाबा ने स्वयं ही प्रस्तुत कर लिया। बारदी के एक व्यक्ति यक्ष्मा रोग के आक्रमण से मृतक समान हो रहे थे। लोकनाथ ने यह दु:सह रोग भार अपने शरीर पर उठा लिया। धीरे-धीरे यक्ष्मा के साथ वे जीवन का शेप समय बिताने लगे।

महायोगी ने अपने शरीर की समाधि के दिन को निश्चित कर दिया था। यह था १२९७ साल का १८ वां ज्येष्ठ। देह-त्याग के बाद किस प्रथा से उनका संस्कार होगा इस प्रश्न की भी मीमांसा करना वह नहीं भूले। लोकनाथ ब्रह्मचारी के एक अन्तरंग शिष्य

श्रीरजनी चक्रवर्त्ती ने लिखा है, "लीला सम्वरण के आठ दिन पूर्व उपस्थित भक्तों से ब्रह्मचारी ने जिज्ञासा की," बोलो तो देखूं, चार प्रकार के संस्कारों में किस उपाय से शरीर शीघ्र लय पाता है ?" भक्त गण ने उत्तर में कहा "अग्नि द्वारा ही शरीर सत्वर लय को प्राप्त होता है।" इसके प्रत्युत्तर में ब्रह्मचारी ने कहा था "मेरा देह—पात होने पर तुमलोग इसे अग्नि द्वारा दग्ध करना।"

१८ वें ज्येष्ठ का प्रभात। ब्रह्मचारी बाबा भोजन-पर्व शीघ्र समाप्त करने के लिए आश्रमस्थ व्यक्तियों को बार-बार तकादा देने लगे। भक्तगण में सबका आहार हो गया है या नहीं, यह जान लेने पर, मध्याह्न के कुछ पहले महायोगी अपने ध्यानासन पर जाकर उपविष्ट हुए—धीरे-धीरे ब्रह्म-रन्ध्र-पथ से प्राणवायु निकल गयी। सहस्र सहस्र भक्त और आश्रित जनगण साश्रु नयन उस दिन अपने प्रिय बाबा के शेष कृत्य सम्पादन काल में समवेत हुए थे। आश्रम के दक्षिण पार्श्व में घृत और चन्दन काष्ठ के सहयोग से महापुरुष की पवित्र देह भस्मीभूत हुई।

यह महायोगी लोकनाथ के मृत शरीर मात्र का ही लीलावसान था। लोकोत्तर पुरुष लोकनाथ की अलौकिक लीला का स्रोत भी क्या इस अन्तर्धान के फल से उस दिन सदा के लिए विलुप्त हो गया ? कृपालु महापुरुष ने अप्राकृत चिन्मय सत्ता की कृपा भी चिरकाल के लिए संहरण करली ?

बारदी में शरीर-त्याग करने के बाद भी किन्तु, ब्रह्मचारी अपने परम प्रिय 'जीवन-कृष्ण' को भूले नहीं। ठीक इसी विशेष क्षण में प्रभुपाद विजय-कृष्ण गोस्वामी श्री वृन्दावन में ध्यानमग्न बैठे थे। लोकनाथ इसी समय सूक्ष्म देह में उन्हें दर्शन दे अपनी नरलीला समाप्ति की सूचना दे आये। ध्यानासन से उठते ही विजयकृष्ण ने अपने भक्तों को ब्रह्मचारी बाबा के महा-प्रयाण का संवाद दिया।

कुछ काल बाद की कथा है। कुमिल्ला के विचारालय से एक उत्तेजनापूर्ण खून के मामले का फैसला हुआ था। आसामी निवारणचन्द्रराय निम्न अदालत से प्राणदण्डाज्ञा प्राप्त कर कारागार में बन्दी हुए थे। हाईकोर्ट में उनका मामला तब विचाराधीन था। अपील सुनने का दिन निकट आ गया। आसामी के अंतर में उद्वेग की सीमा नहीं। आसन्न मृत्यु-दण्ड की विभीषिका से वह छटपट कर रहे हैं। किन्तु बीच बीच में वह विपद-तारण बारदी के ब्रह्मचारी के पवित्र नाम का स्मरण करना भूले नहीं।

इसी समय निवारण बाबू ने एक दिन देखा, एक जटाजूट समन्वित दीर्घकाय महापुरुष अर्गला-बद्ध कारागार के लौह-द्वार को भेद कर उनकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। अदूरस्थ प्रहरीगण ने जैसे इस मूर्ति को एकदम ही नहीं देखा। नितान्त निश्चिन्त मन से वे घूमते रहे। अलौकिक पुरुष के निकट आकर खड़े होने पर निवारण बाबू ने भीत कण्ठ से जिज्ञासा की, "प्रभु, आप कौन हैं ? उनके इस प्रश्न का उत्तर न दे आगन्तुक ने गंभीर कंठ से कहा, "मैं आज तुम्हारे मुकदमा का फैसला लिखा आया हूँ, तू छूट गया है।"

निवारण बाबू को जैसे वाक्य-स्फूर्त्ति ही रुक गई हो। उसी तरह उन्होंने पूछा, किन्तु, आप कौन ?"

"मुझे पहचानता नहीं ? मैं बारदी का ब्रह्मचारी हूँ।" निवारण बाबू उच्च स्वर में चीत्कार करने लगे, धरो धरो, यह गया।" प्रहरी गण तब तड़ित वेग से दौड़ते हुए आये। खोजकर देखा गया, कोई कहीं नहीं—अलौकिक मूर्ति तत्क्षण ही जैसे कहीं विलीन हो गई।

निवारण बाबू के निकट दूसरे दिन तार पहुँचा—उनकी प्राण-

दण्ड की सजा रद्द कर दी गई है एवं वह अभियोग से छुटकारा पा गये। कुछ दिन बाद यह सज्जन बारदी आये। ब्रह्मचारी बाबा के आश्रमस्थ तैल चित्र को देखते ही वह आवेग भरे कण्ठ से बोलने लगे, यह तो व ही महापुरुष हैं जो हाजत में घुसकर मुझे कृपादान दे आये थे।" लोकनाथ की मर-देह लीला पहले ही समाप्त हो गई है। किन्तु सूक्ष्म-लोकचारी विदेही लोकनाथ के अलौकिक लीलानाट्य के ऊपर उस दिन भी यवनिका निपतित नहीं हुई।

—:o:—

श्री भगवान दास बाबाजी

उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण में अम्बिका कालना के श्री श्री नाम ब्रह्म विग्रह का माहात्म्य दिशा-दिशा में प्रचारित हो रहा था। प्रसिद्ध वैष्णव साधक भगवान दास बाबाजी ने इस श्री मूर्ति की सेवा का केवल प्रवर्तन ही नहीं किया, अपितु अपने भक्ति-बल से इसे जाग्रत और जीवन्त भी कर दिया है। कालना के इस मंदिर-प्रांगण में भक्त और वैष्णव जन की भीड़ का जैसे कभी अन्त ही नहीं होता।

ठाकुर का बाल भोग उस दिन अभी-अभी समाप्त हुआ है। कांसे का घंटा-रव विलीन-प्राय हो रहा है। बाबाजी महाराज ने अपनी झोली और माला ले निकटस्थ भजन-कुटीर में प्रवेश किया। कुछ क्षणों के ही जप और श्री नाम ब्रह्म के अनुध्यान के बाद वह भावावेश में डूब गये। महासाधक के दोनो नेत्र अर्द्ध-निमीलित हैं। हाथ की जप-माला स्वयं-सक्रिय यंत्र की भांति घूम-घूमकर न जाने कब ठहर गई है।

ऐसे समय में बाबाजी महाराज के कुटीर में एक विशेष दर्शनार्थी ने प्रवेश किया। वह इस अंचल के प्रतापान्वित जमीन्दार वर्द्धमान के महाराज हैं। कहाँ से क्या हुआ—बाबाजी महाराज अपने हाथ की माला आसन पर रखकर हठात् चीत्कार कर उठे, "ओ रे! मारो मारो, निकाल दो, निकाल दो।" दर्शनार्थी महाराजा निराश और विषाद से हतोत्साह हो पड़े। सिद्ध महापुरुष के भजन-कुटीर में प्रणाम करने आकर यह कैसी विपत्ति मोल ले बैठे! मन में हुआ,

शायद विषयी लोगों के संस्पर्श से अपने को दूर रखने के लिए ही उन्होंने यह कोप प्रदर्शन किया है। किन्तु इसके बाद सिद्ध भगवान दासजी हठात् एकदम ही नीरव हो गये। दोनों नयन पूर्ववत् ही मुंदे रहे। शरीर पूर्णतः निस्पन्द हो गया। वाह्य-ज्ञान से रहित वैष्णव महापुरुष की ओर देखते हुए वर्द्धमानाधिपति उस समय सोच रहे हैं—बाबाजी को होश लौट आये—फिर उनके प्रति इस आकस्मिक क्रोध का हेतु पूछा जाय।

थोड़ी देर में भगवान दास बाबाजी का वाह्यज्ञान लौट आया। जपमाला उठाकर उन्होंने सामने देखा। विशिष्ट अतिथि पर नजर पड़ते ही वह व्यग्र हो पूछने लगे, "बाबा, कब आपका आना हुआ ? श्री ठाकुर ने आनन्द से तो रखा है ? श्री श्री नाम ब्रह्म का प्रसाद यहाँ पाया है तो ?"

महाराज आश्चर्य में डूब गये। जो बाबाजी महाराज कुछ देर पहले तीव्र चीत्कार कर उन्हें निकालने को उद्यत थे, इतनी ही देर में उनके भाव में यह कैसा रूपान्तर ? इतने कटु वाक्यों के प्रयोग के बाद फिर इतना समादर क्यों ? अतएव साहस कर महाराज ने बाबाजी से पूछा; "बाबा कुटीर में घुसते ही आप इस तरह क्रुद्ध हो मुझे मार-कर निकाल देना क्यों चाहते थे। मैं विषयी हूँ ठीक, किन्तु श्री श्री नाम ब्रह्म का दर्शनार्थी तो हूँ। बाबा आपने किस कारण से ऐसे कटु वाक्य मुझे कहे ?"

"यह क्या जी ! सर्वत्राभ्यागतो गुरुः।—अभ्यागत मात्र ही वैष्णवों के निकट परम आराध्य हैं। उन्हें कोई कटु बात कहने से तो श्री भगवान का ही असम्मान होता है। आपको कब मैंने कटु बातें कहीं ?"

"जी, आपके चरण-दर्शन करने आने के साथ ही जो, 'निकाल दो' कहकर आप मेरे प्रति रोष प्रकट करने लगे।"

सिद्ध भगवान दास बाबाजी बहुत लज्जित हो पड़े। कोमल

सहानुभूति-पूर्ण कंठ से कहने लगे, "नहीं बाबा, आप मन में जरा भी दुःख न करें। मैंने आपको लक्ष्य कर वह सब कुछ नहीं कहा। आप कब आये यह भी इन स्थूल चक्षुओं से मैंने नहीं देखा! उस समय श्री वृन्दावन धाम में गोविन्द-मंदिर के तुलसी-चबूतरा के ऊपर चढ़कर एक बकरी तुलसी-पत्रों को नोंच-नोंच कर खा रही थी। प्रभु की सेवा में विघ्न होगा यह सोचकर मैं उस समय उसे भगा रहा था। इस बकरी को लक्ष्य कर ही मेरी यह गाली गलौज थी।"

यह सुनकर महाराजा का विस्मय चरमसीमा को पहुँच गया। वर्द्धमान-काल्ना के भजन-कुटीर में बैठे हुए ये वैष्णव महापुरुष किस तरह स्थूल देह से वृन्दावन धाम जा पहुँचे और बकरी को डाँटकर भगा दिया। यह बात किसी तरह भी उनकी बुद्धि में नहीं समा रही थी। तुरत पाकेट घड़ी बाहर कर उन्होंने ठीक समय देख लिया। तदनुपरान्त बाबाजी के साथ कुछ क्षण आलाप कर उन्हें प्रणाम किया और विदा ली।

वर्द्धमान के महाराजा विचारने लगे, गोविन्द मन्दिर मैं इस समय इस तरह की घटना घटी है या नहीं इसका पता लगाना जरूरी है। उसी दिन उन्होंने अपने वृन्दावन-निवासी एक मित्र को तार भेजा। इसके उत्तर में पता चला कि उनके द्वारा उल्लिखित समय में गोविन्द-मंदिर के तुलसी-चबूतरा पर लगे हुए तुलसी के नवीन पौधे को ठीक ही एक बकरी खा रही थी। परन्तु काल्ना निवासी भगवान दास बाबाजी अकस्मात् उसी समय मंदिर-प्रांगण में उपस्थित हो गये और चिल्ला-चिल्ला कर लाठी हाथ से उसे भगा दिया। भजनावेश के बीच में ही शक्ति धर बाबाजी महाराज स्थूल देह में उसी समय वृन्दावन में भी उपस्थित थे— इसमें इसके बाद किसी को सन्देह करने का अवकाश न रहा। इस अलौकिक घटना की इस तरह जानकारी प्राप्त कर महाराज और स्थानीय जनता अत्यन्त विस्मयान्वित हो गई।

जिस महापुरुष के जीवन में ऐसी अपूर्व भजन-सिद्धि संभव हुई वे जीवन के पूर्व भाग में उड़ीसा के किसी अप्रख्यात गाँव के एक नगण्य बालक थे। श्री चैतन्य देव की प्रेम-भक्ति के प्रवाह ने उड़ीसा के जन-जीवन को कितने वर्षों तक अभिषिचित किया था, कितने सार्थकनामा वैष्णव साधकों का वहाँ आविर्भाव सम्भव कराया था। उत्तरकाल में, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में, इसकी ही एक धारा का अवलम्बन कर मुमुक्षु बालक भगवान दास का आध्यात्म-जीवन अंकुरित हो उठा। वे एक कंगाल वैष्णव के वेश में श्री वृन्दावनधाम चल पड़े।

विख्यात वैष्णव आचार्य सिद्ध कृष्णदास बाबाजी उन दिनों गोवर्द्धन पर भजन में निरत रहते। उत्कल देशीय इस महावैष्णव के चरण-प्रान्त में आश्रय ग्रहण करने उस समय नाना देश-देशान्तरों से गौड़ीय वैष्णव आ रहे थे। उड़ीसा-वासी तरुण वैष्णव भगवान दास ने भी उस दिन इन्हीं महापुरुष के चरणों में आत्मसमर्पण कर उनके हाथों 'भेक' ग्रहण किया।

इसके बाद गुरु के आश्रम में गोवर्द्धन में रहकर बहुत दिनों तक निगूढ़ साधना की। साथ-साथ विविध भक्ति-शास्त्रों का भी वह अध्ययन करते रहते। गुरु कृष्णदास बाबाजी के आदेशानुसार यह तरुण साधक पीछे चलकर वर्द्धमान के अम्बिका—कालना में आकर वास करने लगे। वहीं वैष्णव—साधना द्वारा प्रसिद्ध श्री नाम ब्रह्म 'विग्रह की सेवा' प्रकट हुई।

यहीं उत्कलीय वैष्णव काल-क्रम से गौड़ीय भक्त और साधक समाज में एक महा समर्थ आचार्य-रूप में प्रसिद्ध हुए और पवित्र वैष्णव भूमि कालना में धीरे-धीरे अपनी स्निग्ध छाया का विस्तार किया।

रागानुगा साधना का जो निगूढ़ तत्व भगवान दास बाबाजी का जाना हुआ था, दीर्घ परीक्षा किये बिना सहज ही वह इसे भजन-

कारी शिष्यों को नहीं बताते। इसके अतिरिक्त, इस साधना की जो सिद्धि उन्होंने प्राप्त की थी उसे अपनी सत्ता के गंभीर स्तर में बिना प्रयास ही वह संगोपित रख सकते थे। ऐसा ही था उनका भजन-सामर्थ्य। उच्छ्वास और भावावेग-वर्जित सदा गंभीर-मूर्ति इस वैष्णव ने समकालीन भक्त समाज में परम श्रद्धा का स्थान प्राप्त कर लिया था।

श्री मंदिर की भोगारति शेष होने पर बाबाजी महाराज के लिए महा-प्रसाद लाया जाता। किन्तु पहले वे इसे स्पर्श न करते। एक पुराने विषधर साँप की प्रतीक्षा में कुछ समय बिताते। कहाँ से यह विषधर सर्प उनके भजन-कुटीर में आ जाता, यह कोई नहीं जानता था। यह आश्चर्य का विषय था कि उसके इस प्रसाद के कुछ अंश ग्रहण न करने तक बाबाजी महाराज एक कण भी मुँह में नहीं डालते।

एक दिन सिद्ध भगवान दास के एक भक्त ने इस सर्प को लाठी पर उठाकर सहन के सिरे पर फेंक दिया। इसे सुनकर बाबाजी महाराज अत्यन्त व्यथित हुए। विषाद-खिन्न हृदय से वह इस भक्त को कहने लगे, जानते हो, वह होते हैं मेरे नाम ब्रह्म के बड़े भाई—अनन्त देव! और तुमने आज उनके साथ ही ऐसा निष्ठुर व्यवहार किया। चले जाओ, फिर इस आश्रम में तुम प्रवेश न करना।" बहुत दिनों तक बाबाजी महाराज के अन्तर में इस घटना की करुण स्मृति जागती रही और इस दुष्कृतिकारी के प्रति उनका असन्तोष भी सहज ही नहीं मिटा।

यह भजन-सिद्ध महा साधक एकान्त निष्ठा के साथ सतत अपने इष्ट देव की आराधना में संलग्न रहते—गंभीर रात्रि पर्यन्त उनका जप तप अव्याहत गति से चलता रहता। किसी किसी दिन भजन का सम्यक् स्फुरण न होने से भगवान दास बाबाजी कोई आहार ही ग्रहण न करते। कभी-कभी तीन-चार

दिन भी कट जाते । दूसरी ओर भजन के फल से दिव्य आनन्द और रसावेश का उपभोग करने पर बीच बीच में ब.लक के समान आहार की खोज में चंचल हो पड़ते । किसी-किसी दिन देखा जाता कि गंभीर रात्रि में वह भोजन-सामग्री के लिए नितान्त व्यस्त हो पड़े हैं। दौड़कर उसी समय बाजार से नाना प्रकार का मिष्टान्न खरीदकर लाया जाता, तभी किसी तरह वह शान्त होते । आनन्द उत्फुल्ल हो सिद्ध बाबा श्री विग्रह के चरणामृत का छींटा दे बाजार से लायी गयी भोजन-सामग्री को शुद्ध कर भोजन करते ।

भगवान दास बाबाजी के जीव प्रेम के नाना अद्भुत दृश्य उपस्थित होते रहते । काल्ना के आश्रम में उनकी एक प्रिय पालतू बिल्ली थी । प्रतिदिन ही यह प्रसादान्न का अंश ग्रहण किये बिना नहीं छोड़ती । भजनाविष्ट सिद्ध बाबा जिस दिन प्रसादान्न भोजन में विलम्ब करते, उसदिन प्रतिदिन के अभ्यासानुसार यह बिल्ली उनके चारो ओर चिल्लाती हुई चक्कर काटती । बाबाजी महाराज की थाली का ढक्कन हटते ही यह बिल्ली खूब प्रसन्न हो अपना हिस्सा उदरस्थ कर हट जाती । अवशिष्ट आहार सिद्ध बाबा अपनी सुविध.नुसार पीछे ग्रहण करते ।

बाबाजी महाराज की शुद्धा भक्ति और निरभिमानता अतुलनीय थी । एकबार प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्व.मी सिद्ध भगवान दास बाबाजी का दर्शन करने काल्ना आये । गोस्वामीजी तब ब्रह्म समाज के एक विशिष्ट आच.र्य थे । विजयकृष्ण का परिचय पाते ही बाबाजी महाराज उनके चरणों पर साष्टांग प्रणत हुए । गोस्वामी महाशय उनके परमाराध्य श्री अद्वैत के वंशोद्भूत जो थे । विपद् ग्रस्त विजय कृष्ण शत चेष्टा करके भी उस दिन भगवान दास बाबाजी को निरस्त नहीं कर सके ।

गोस्वामीजी सफर से थके और प्यासे आये थे । आश्रम के एक सेवक से इस कारण इन्होंने पीने का जल माँगा । भगवानदास बाबाजी तुरत

स्वयं दौड़कर बाहर चले गये और अपने व्यवहार के कमन्डलु को खूब अच्छी तरह धो माँजकर उसमें प्रभुपाद के लिए जल ले आये। संग संग गोस्वामी प.द के लिए बहुत यत्न से नानाविध मिष्टान्न-प्रसाद की भी व्यवस्था की गई।

सिद्ध बाबा के इस आचरण को देख विजय कृष्ण तो अवाक् हो रहे। स्वभाव-सिद्ध सरल भाषा में वह कह बैठे, "बाबा, मैं किन्तु ब्राह्म हूँ, मुझे अपने कमण्डलु में जल पीने के लिए न दें। ब्राह्म होने के अलावा मैं जाति भेद भी नहीं मानता—यत्रतत्र जिसका तिसका छुआ भात खाता घूमता रहता हूँ।"

दैन्य और निरभिमानता की प्रतिमूर्त्ति भगवानदास बाबाजी हाथ जोड़कर गोसाईं जी के सामने खड़े हो गये और स्मित-हास्य के साथ कहने लगे, "प्रभु, जाति-बुद्धि और भेद-बुद्धि रहते क्या कभी भक्ति देवी की कृपा होती है? आप इस अधम की और परीक्षा न करें। कृपा कर पानी पीएँ।" सिद्ध बाबाजी किन्तु इतने पर ही रूकनेवाले व्यक्ति न थे। प्रभुपाद के जल पीकर कमण्डलु नीचे रखते ही इन्होंने बड़ी भक्ति से उसे माथे से लगाया और अव-शिष्ट जल को गले से नीचे उतार लिया।

दोनों के इस मिलन के समय आश्रम कुटीर में उस दिन और भी कई अभ्यागत उपस्थित थे। इन में से एक व्यक्ति अपनी जगह पर बैठे-बैठे हठात् तीखे भाव से आलोचना कर बैठे, "देखता हूँ कि गोस्वामी महाशय ने, ब्राह्मण-सन्तान होकर भी यज्ञोपवीत का त्याग कर दिया है।" भगवानदास बाबाजी उन्हें बाधा दे विनती भरे कंठ से बोले "बाबा ऐसी बात कभी मुँह से न निकालना। जानते हो, मेरे अद्वैत प्रभु की देह में भी कभी जनेऊ नहीं रहता था। इसके सिवा जरा देखो तो मेरे श्री अद्वैत की सन्तान की कैसी महिमा है। ब्रह्म-समाज में प्रवेश किया है ठीक, किन्तु वहाँ भी आचार्य होकर ही बैठे हैं।"

आलोचक व्यक्ति ने इसपर विद्रूप में कहा, "कैसे आचार्य हैं, यह तो दिखाई ही पड़ रहा है। कोट-जूता पहनने वाले आधुनिक आचार्य।" भक्ति सिद्ध भगवानदास बाबाजी की आँखों में इस बार आँसू भर आये। व्यथा के साथ वह इस भद्र व्यक्ति को कहने लगे, "ऐसा कहना महा अपराध है, बाबा! अपने प्रभु को अच्छी तरह सजधज कर रखना तो हमलोगों का ही कर्त्तव्य है; परन्तु हमलोग ऐसे अभागे हैं कि कुछ भी नहीं कर पाते। इतने पर भी उन्होंने अपने प्रयोजन के अनुसार कुछ संग्रह कर लिया है तो उसे देख जो हमलोग थोड़ा आनन्दित होते, यह सौभाग्य भी हमारा नहीं।" समालोचक का उद्धत सिर उसी क्षण लज्जा से अवनत हो गया!

भगवान दास बाबाजी महाराज की भजन-निष्ठा की ख्याति केवल कालना में ही नहीं, उस समय समग्र प्रदेश के कोने-कोने में फैल चुकी थी। उत्कल देश से आये हुए यह वैष्णव महापुरुष बंगाल के जन-जीवन के साथ नितान्त घनिष्ट-भाव से हिलमिल गये थे। केवल इतना ही नहीं, भजन-सिद्धि और नेतृत्व-शक्ति के बल से गौड़ीय समाज के एक श्रेष्ठ आचार्य के रूप में भी वह इस देश में समादृत होने लगे। रागानुगा भजन के निगूढ़ धारापथ का अनुगमन कर ही सिद्ध भगवान दास बाबाजी की साधना अग्रसर हो रही थी। किन्तु इस निष्किंचन भाव-गंभीर वैष्णव के वाह्यावरण को भेद कर उनके इस मधुर स्वरूप के दर्शन का सौभाग्य इने-गिने लोगों को ही होता। मधुर रस से पूर्ण भजन के भावोच्छ्वास को सुसंयत कर रखने की शक्ति बाबाजी महाराज के जीवन में अत्यन्त सहज सी हो गई थी। यही थी उनके साधन जीवन की चरम विशिष्टता।

किन्तु कंगाल वैष्णव होने से क्या हुआ, भगवान दास बाबाजी की प्रतिष्ठा उनके श्री विग्रह का माहात्म्य दूर-दूरान्त से शत-शत भक्तों को आकृष्ट करा

ले आता। उनके स्थापित श्री नाम ब्रह्म थे एक महाजागृत विग्रह एवं इसी श्री मूर्त्ति को केन्द्रकर बहुत से भक्तों के आनन्दोत्सव और भजनावेश निःसरित होते। भक्तों के हृदय में नियमपूर्वक इनकी सेवा-पूजा करने के उत्साह में कभी कमी नहीं होती।

एकबार आश्रम से श्री नाम ब्रह्म के कितने मूल्यवान आभूषणों की चोरी हो गई। विग्रह के ब्राह्मण पुजारी ने ही यह दुष्कार्य कर आश्रम से पलायन किया। इसे लेकर काल्ना के सामाजिक जीवन में उस समय एक तूफान-सा खड़ा हो गया। उत्तेजित भक्तगण पुलिस की सहायता से चोरी गये स्वर्णालंकारों का उद्धार करना चाहते थे। किन्तु भगवान दास बाबाजी इसमें जरा भी सहमत न थे। इन लोगों को रोककर वह स्मित हास्य से कहने लगे, "आ हा ! तुमलोग इतने परेशान क्यों हो रहे हो ? हो सकता है, श्री नाम ब्रह्म की इस समय अलंकार पहनने की इच्छा नहीं। इसीलिए उन्होंने पुजारी को ये सब ले जाने दिया है। अच्छा, अभी कुछ दिन ऐसे ही रहें न !

इसके बाद कई मास निकल गये हैं। एकाएक एक दिन प्रातः काल लोगों ने आश्चर्य से देखा कि वही पलातक ब्राह्मण-पुजारी आश्रम में आकर उपस्थित है। एक पोटली में बाँधकर विग्रह के सभी अलंकार वह वापस लाया है। बाबाजी महाराज के सम्मुख उसे रख कर भयार्त्त ब्राह्मण उच्च स्वर से रोने लगा। उसने स्वीकार किया, "लोभ में पड़कर ही श्री नाम ब्रह्मा के इन सभी गहनों को लेकर मैं भागा था। किन्तु, इन्हें तोड़ने के लिए किसी तरह मन राजी न हुआ। अनुताप और प्राण की अशान्ति से इतने दिनों तक मैंने भयंकर कष्ट पाया है। इसलिए इन्हें लौटा लाया हूँ। बाबा आप मुझे क्षमा करें।"

सिद्ध बाबा ने इस अनुतप्त, क्रन्दनरत ब्राह्मण को आश्वस्त किया। इसके बाद जगदीश बाबा प्रभृत भक्तों और सेवकों को बुलाकर कहा, "यह देखो

ठाकुर का नया खेल ! श्री नाम ब्रह्म को फिर अलंकार पहनने की इच्छा हुई। तभी तो स्वयं ही फिर उन सबों को मँगा लिया है। छिछोरा-छिछोरा। चिर दिन का छिछोरा। कब उसकी क्या इच्छा होगी, जरा भी स्थिरता नहीं। जाओ अभी यह सब ले जाओ—फिर सब गहना पहना दो !" कहना अनावश्यक है कि दुष्कृतिकारी मंदिर-पुजारी फिर अपने पुरातन पद पर नियोजित हुआ।

सिद्ध बाबाजी के महान् जीवन में अलौकिक शक्ति का प्रकाश दिन प्रति दिन देखा जाता किन्तु साधारणतः वह स्वयं इन्हें सतर्क भाव से संगोपित ही रखना चाहते। भक्तों और शिष्यों को भी अपने-अपने जीवन में अकपट भजन-निष्ठा और स्वाभाविक शुद्धाचारी जीवन के आदर्श को रूपायित करने पर ही वह ज्यादा जोर देते। शिष्यों की ओर से किसी लौकिक कर्त्तव्य या सामाजिक आचार का उल्लंघन वह कभी पसंद नहीं करते। भाव के घर से चोरी करने वाले दुर्बल साधक को सिद्ध बाबा का कठोर शासन और निर्मम आघात अनिवार्य रूप से सहन करना पड़ता।

एक बार आश्रम के एक विष्णुदास नामक शिष्य ज्वर तथा अन्य व्याधियों से आक्रांत हुए। रोग बढ़ता ही जा रहा था। भगवान दास बाबाजी ने इसी से रोगी को बुलाकर कहा, "ओरे विष्णुदास, तुम्हारा ज्वर तो जा नहीं रहा है, डाक्टर को दिखाकर कोई औषधि खाओ न ?"

स्वभावतः विष्णुदास ने सविनय उत्तर दिया, जी, औषध-टौषध क्यों खाऊँ ? श्री नाम ब्रह्म की कृपा से ही अच्छा हो जाऊँगा ?

बाबाजी महाराज क्रोधोदीप्त हो बोल उठे, "हां, तू अभी ही जैसे बड़ा सिद्ध पुरुष हो गया है ! और श्री नाम ब्रह्म को तुम्हारे लिए डाक्टर बनना पड़ेगा। रोग हुआ है—औषधि खाओ, तभी तो रोग छूटेगा ? यह सब

प्रायश्चित के अन्तर्गत है—इसे जान रखो। जो सब कर्त्तव्य तुम्हारे करने के हैं, उनका भार श्री नाम ब्रह्म के ऊपर क्यों देगा, बता तो सुनूं ? "विष्णुदास जी को गुरुदेव के निर्देशानुसार अविलम्ब वैद्य की औषधि खानी पड़ी एवं बहुत जल्द वह स्वस्थ हो गये।

समय-समय पर सिद्ध बाबाजी को बड़ा विचित्र और बालकोचित झोंक उठता। एक बार उनके मन में एक विचित्र भाव-तरंग उठी कि वह श्री नाम ब्रह्म के आंगन के सामने तालाब खुदायेंगे और उसके बाद जल में एक मंच बांधकर श्री विग्रह के सामने ध्यान जप में निविष्ट होंगे।

आदेश जारी हुआ, "कल प्रातःकाल से मजदूर लगाकर अविलम्ब एक पोखर खोदो।" भक्त और शिष्य उसी समय कार्य-तत्पर हो गये। बहुसंख्या में मजदूर नियोजित कर चौबीस घन्टों के भीतर आश्रम में एक छोटा-सा पोखर खोदकर तैयार कर दिया गया। बांस का एक ऊँचा मंच भी बनने में देरी न हुई।

यह सब देख-सुनकर बाबा जी महाराज छोटे बच्चों की तरह आनन्द-विभोर से हो गये। परम उत्साह से उन्होंने इस नव-रचित बांस के मंच पर चढ़कर भजन आरंभ किया। किन्तु एक आकस्मिक घटना से उनकी सारी परिकल्पना उलट पलट गई। सिद्ध बाबा जी महाराज ने कई दिनों तक इसी पर बैठ कर भजन किया। हठात् एक दिन उन्होंने लक्ष्य किया कि एक बछड़ा पांव फिसलने से जलमें गिर गया है। वह सोचने लगे, अंत में क्या इस स्थान पर गो-बध होगा ? भगवान दास बाबाजी ने उसी समय जोरों का शोर-गुल आरंभ कर दिया। उनके चीत्कार से भक्तों की भीड़ जमा हो गई एवं सबों ने मिलकर इस बछड़े को जल से बाहर निकाला। किसी तरह उसदिन उस जीव की प्राण-रक्षा हुई।

जो विचित्र मनतरंग बाबाजी के मनमें उठी थी, वह हठात् ठंढी पड़ गई।

मृत-कल्प गो-वत्स की इस दुर्दशा ने समस्त व्यवस्था को पलट दिया। जगदीश बावा, प्राणकृष्ण बावा प्रभृति भक्तों को बुलाकर सिद्ध बाबाजी ने उसी क्षण आदेश दिया, "ओरे, अव मैं इस पोखर पर बैठकर भजन नहीं करूँगा। अभी ही इसे तुमलोग भर दो, अंत में क्या मुझे गो-वध के पाप में लिप्त होना है ?" जिस तेजी से तालाव खोदा गया उसी तेजी से भर भी दिया गया।

आश्रम-सेवक रसोई बनाने के लिए लकड़ी खरीद करते। बाजार में इसका मूल्य तीन आना प्रति वोझा था। किन्तु एक लकड़ी बेचनेवाली स्थानीय बुढ़िया को लेकर बड़ा झंझट होता। भगवान दास बाबाजी एक दिन लकड़ी के वोझा के लिए उसे तीन आना देते देख रुककर खड़े हो गये। बहुत से प्रश्नकर उन्होंने जाना कि इस वृद्धा को अपने घर में कई प्राणियों का पालन करना पड़ता है, अथच अन्न का कोई प्रबन्ध नहीं। यह सुनते ही बाबाजी महाराज अग्नि शर्मा हो उठे, "यह कैसी बात ? तीन आनों से इसका संसार कैसे चलेगा ? इसे इतने लोगों का पालन करना पड़ता है—इसे दो गुणा दाम देना होगा।"

सिद्ध भगवान दास के समसामयिक नवद्वीप धाम के चैतन्यदास बाबा जी की भी खूब प्रसिद्धि थी। इन दोनों महापुरुषों के मिलन और तज्जन्य आनन्दोत्सव में अपरूप रस प्रवाह छलक पड़ता। प्रेमलीला और कृत्रिम कोप-प्रकाश के माध्यम से ये दोनों व्यक्ति एक मनोज्ञ प्रेम-नाटक कर देते।

भाव-गांभीर्य की प्रतिमूर्त्ति, सिद्ध भगवान दास किन्तु वहिरंग जीवन में अनेक दिशाओं में चैतन्य दास बाबाजी से भिन्न भंगिमा (दृष्टिकोण) से ही अपना रहन-सहन चलाते। चैतन्य दास बाबाजी के सखीवेश, रसानुभूति के उबाल और उन्माद के प्रति कृत्रिम कटाक्ष करते हुए भगवान दास बाबाजी को अक्सर व्यंग करते सुना जाता, "छिछोर, छिछोर,—पूरा पूरा निर्लज्ज, ओ छिछोरे !" फिर भी

इन्हीं चैतन्य दास बाबा जी के साथ सिद्ध बाबा के बंधुत्व और अंतरंगता की सीमा न थी।

एकबार भगवानदास बाबा जी महाराज काल्ना से नवद्वीप आये। प्रधान उद्देश्य था, श्रीमान् महाप्रभु के मंदिर में सदा जाग्रत मोहन मूर्त्ति का दर्शन करना। इस उपलक्ष से चैतन्यदास बाबाजी के साथ भी भेंट हो जायगी, यह भी वह जानते थे, क्योंकि चैतन्य दास बाबा जी उस समय महाप्रभु मंदिर के एक निर्जन कुटीर में अपनी रागानुगा साधना में एकान्त भाव से मग्न रहते।

भगवानदास बाबाजी ने श्री मंदिर जाकर देखा, गौर-प्रेमिक, सदा भावोन्मत्त चैतन्य दास आँगन में झाड़ू दे रहे हैं। किन्तु बहु भक्तजन परिवृत भगवानदास बाबाजी को देखते ही चैतन्य दासजी ने एक अद्भुत आचरण किया। हाथ का झाड़ू वह उठाये वह दौड़ते आये और भगवान दासजी को उद्देश्य कर कोप भरे स्वर में कहने लगे, "मैं समझता हूँ, तू मेरे प्राण-वल्लभ को भुलाकर ले जाने आज आया है। इसी क्षण बाहर निकल जाओ—नहीं तो झाड़ू से मारकर देह तोड़ दूँगा।" उपस्थित वैष्णव-मंडली तो विस्मय से हतवाक् हो रही। नवद्वीप आये हुए माननीय अतिथि, सिद्ध भगवानदास बाबाजी के प्रति यह कैसा अद्भुत अपमान-जनक व्यवहार? सभी बहुत क्षुब्ध हो उठे।

भगवानदास बाबाजी किन्तु अचंचल भाव से आँगन में खड़े हुए मृदु-मधुर हँसी हँस रहे थे। इसके बाद चैतन्य दासजी के भाव से विभावित हो वह भी कहने लगे, अजी, तुम मेरे ऊपर व्यर्थ ही इतना कोप क्यों करते हो? मैं तो नहीं चाहता कि तुम्हारे प्राणवल्लभ नदिया त्याग करें, किन्तु वह जो स्वयं तुम्हारे पीछे में चोरी-चोरी प्राय: काल्ना चले जाते हैं! बेहतर हो तुम उनके ऊपर ही जरा और ज्यादा नजर रखा करो।"

चैतन्यदास बाबाजी तब अभिमान-हत हो मन्दिर में घुसे और सशब्द

द्वार को बंद कर दिया। बाहर खड़ी जनता के कानों में उस समय केवल शोक से मुह्यमान महाप्रेमिक चैतन्य दासकी मर्मभेदी आर्त्ति और क्रंदन की आवाज आने लगी।

कुछ देर बाद स्वस्थ चैतन्य दास बाबाजी मंदिर के बाहर आये। इस बार वह अपने परम सुहृद भगवानदास का हाथ पकड़कर मंदिर के भीतर ले गये। दो महा प्रेमियों के आनन्द-नर्तन से वहाँ प्रेम की वन्या प्रवाहित हो गई।

सिद्ध बाबा भगवानदास के आचार-आचरण में रसावेश की चंचलता बहुत कम देखी जाती। रागानुगा भजन के वह एक विशिष्ट साधक थे ठीक, किन्तु इसकी प्रेमोच्छल रसधारा को उनके बहिरंग जीवन से जब-तब उछल पड़ते बहुत कम ही लोगों ने देखा। इस अन्तर्मुखीन प्रेम-प्रवाह को भगवान दास अपने भाग्यवान शिष्यों के साधन-जीवन में सहज ही संचारित कर दे सकते थे। किन्तु निगूढ़ प्रेम-रस की इस धारा को धारण करना सभी के लिए सहज-साध्य नहीं था। इसीसे केवल कुछ चुने हुए अंतरंग शिष्य ही उनके निकट से इस परम वस्तु की प्राप्ति कर सके। वैष्णव साधना के बहिरंग सार में भी सिद्ध बाबाजी का अवदान कम नहीं था। भजन और सेवा के आदर्श को अपरूप महिमा से भरकर यह समर्थ आचार्य सारे प्रदेश में विस्तारित कर गये। परिणत वयस में नित्य लीला में प्रविष्ट न होने पर्यन्त उनके इस व्रत में किसी दिन त्रुटि न हुई।

बालानन्द ब्रह्मचारी

बालानन्द ब्रह्मचारी

"पीताम्बर, पीताम्बर !" माता क्रोध भरे स्वर में जोर-जोर से चिल्ला कर बुला रही है, किन्तु इस उद्दण्ड बालक को कौन सम्हाले ? माता नर्मदा-बाई अपने इस पुत्र को लेकर बड़ी परेशान रहती है। पति की मृत्यु के बाद बड़े दु:ख-कष्ट के साथ अपने इस पुत्र को देख भाल करती हुई उसे वह मनुष्य बना रही है। किन्तु फिर भी लड़का इतना नटखट है कि उसके चलते उसे दम मारने की फुरसत नहीं मिलती।

उज्जैन के सारस्वत ब्राह्मण परिवार में इस बालक का जन्म हुआ है, शास्त्र-पाठ और पुरोहित कर्म उसके कुल की वृत्ति है। घर के पास ही एक पण्डितजी ने विद्यालय खोल रखा है। इस विद्यालय में बालक को भरती करा दिया गया है, किन्तु कभी किसी ने उसे भूल कर भी पुस्तक का पृष्ठ उलटते नहीं देखा।

और इसके लिए पीताम्बर को समय ही कहाँ मिलता था ? शिप्रा नदी की जलधारा के जहाँ-जहाँ मोड़ थे वहाँ और गोरखनाथ की गुफाओं में वह चक्कर लगाता रहता। कभी महाकाल के कुंड में और कभी संदीपनि मुनि के जंगल-झाड़ से भरे हुए आश्रम में मनमाना घूमता रहता। कोई टूटा-फूटा पुराना महल जहाँ भूतों का निवास समझ कर भय से पास फटकने का कोई साहस नहीं करता, वहाँ पीताम्बर लगातार कई रातें बिता कर सुबह को घर लौटता। इस उद्दण्ड और दु:साहसी बालक को लेकर सचमुच नर्मदाबाई बड़ी चिन्तित रहा करती थी।

एक दिन माता का क्रोध चरम सीमा पर पहुँच गया। नटखट बालक को कहीं से पकड़ कर वह ले आयी और कुछ क्षणों तक उसे खूब डाँटती-फटकारती रही, फिर उत्तेजित स्वर में कहने लगी, "दो-चार घर यजमान और दो-एक बीघा जमीन, बस, जीविका का यही साधन है। फिर भी इसकी कोई देख-भाल करने वाला नहीं। तू बड़ा अभागा है, यदि अभागा नहीं होता तो बचपन में ही अपने पिता का नहीं खो बैठता। अब तो एक मात्र भरोसा तुम्हीं पर है। मगर मेरा दुर्भाग्य, तुम न तो घर—गृहस्ती का कोई काम देखोगे और न वंश-परंपरा से पढ़ने-लिखने और शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने का जो क्रम चला आ रहा है उसका पालन करोगे। और बताओ तो, यह सब नहीं करोगे तो क्या साधु बनोगे?"

पीताम्बर इतनी देर तक चुपचाप उदासीन भाव से माँ की झिड़कियों को सुनता रहा। किन्तु माता के अन्तिम वाक्य ने उसके मन में एक हलचल पैदा कर दी। "तुम क्या साधु बनोगे?'—इस वाक्य में एक विचित्र जादू था। बालक के अन्तर्लोक की कुंजी को उस दिन मानों किसी ने घुमा दिया जिससे एक विस्मृत लोक का अर्ध-प्रकाशित दृश्य-पट उन्मुक्त हो गया। पूर्व जन्म का सात्विक संस्कार मन में उदित हो उठा और एक नये जीवन का आस्वाद ग्रहण करने के लिए उसका मन ललचाने लगा। पीताम्बर माता के सामने से उसी क्षण न मालूम कहाँ गायब हो गया।

इसके बाद बालक एक विचित्र काण्ड कर बैठा। उसने अपने सारे पहनने के कपड़े जला डाले, देह में भस्म धारण कर लिया और कौपीन पहन कर माता के सामने आ उपस्थिति हुआ, "बोला, माँ, माँ, देखो, सचमुच मैं कैसा साधु बन गया हूँ।" पागल लड़के की यह करतूत देखकर माँ के लिए हँसी रोक रखना कठिन हो गया।

मगर बालक पीताम्बर का उस दिन का यह साधु-वेश मात्र खेल-तमाशा तक ही नहीं रह गया। माता के मुँह से असावधानी

के क्षण में जो वाक्य निकल गया था वह अन्तर में बराबर गूँजता ही रह गया। इसके कई दिनों के बाद की घटना। शुभ दिन देख कर माता ने बालक का उपनयन संस्कार किया। इसके तीन-चार दिनों के बाद ही बालक ने सदा के लिए घर-द्वार छोड़ दिया। कोई भी लौकिक बन्धन या संसार का माया-मोह उस दिन उसे रोक कर नहीं रख सका। उस समय उसकी उम्र सिर्फ नौ साल की थी। एकदम अबोध बालक न मालूम कहाँ चला गया। जीवन का एक मात्र आशा-केन्द्र, नयन-मणि इस पुत्र के वियोग में माँ की आँखों के तले अन्धकार छा गया।

द्वादश ज्योतिलिङ्गों में एक महाकाल का विग्रह इस उज्जयिनी नगर के एक उपान्त में प्रतिष्ठित है। पुत्र को खोकर नर्मदाबाई इस मन्दिर के आँगन में लगातार कई दिनों तक देवता की गुहार करती रही। तपोनिष्ठ शुद्धात्मा साधिका की आकुल प्रार्थना महाकाल के श्रवण-गोचर हुए बिना नहीं रही।

लगभग चालीस वर्ष बाद का एक दृश्य। देवघर से कुछेक दूर पर तपोवन पहाड़ है। दिन ढलने पर है। झुंड के झुंड पक्षी आकाश-मार्ग से उड़ते हुए अपने घोंसलों की ओर लौट रहे हैं। वृद्धा नर्मदाबाई पहाड़ के शिखर पर खड़ी होकर आकुल कंठ से पुकार रही हैं, "पीताम्बर, पीताम्बर—बालानन्द।"

यह कौन-सी मर्मभेदी पुकार है? एक अधेड़ सुदर्शन संन्यासी जल्दी-जल्दी चलकर सामने आ उपस्थित हुए। मुखमण्डल पर बढ़ी हुई दाढ़ी-मूँछ और सिर पर दीर्घ जटाजाल। क्षण भर में ही न मालूम कौन-सी घटना घटित हो गयी, संन्यासी वृद्धा के चरणों में नत हो गये। स्नेहमधुर कंठ से बोले—'माँ'।

चौबीस वर्षों के बाद जननी के कानों में छाती जुड़ानेवाली यह पुकार एक बार फिर सुनायी पड़ी। संन्यासी की ठुड्डी पर हाथ रख-कर उनकी ओर टकटकी बांधकर देखते हुई कहने लगी—यही तो उसका

पीताम्बर है ! यही तो उसका गृहत्यागी उदासी पुत्र-इन दिनों का विख्यात योगी-बालानन्द ब्रह्मचारी। माता-पुत्र के मिलन से निस्तब्ध गिरि-शिखर पर उस दिन आनन्द की एक लहर दौड़ गयी। पुलकाश्रु से भींगी हुई नर्मदावाई अपने इस खोये रत्न के उद्धार की कहानी सुनाने लगी—

ध्यान धरणा और शिवार्चा में उज्जैन में उसके दिन व्यतीत हो रहे थे। शुद्ध सत्वसाधिका को एक दिन ऐसा अनुभव हुआ कि उसका अन्तिम समय अब सन्निकट है। मन में यह साध जगी कि अन्तिम साँस छोड़ने के पूर्व एकबार वह अपने जीवन-सर्वस्व पुत्र पीताम्बर को देख पाती। इष्ट देवने उसकी यह मनोकामना पूरी कर दी।

एक दिन वह शिवजी के चरणों में अपनी मनो-कामना निवेदित करती हुई रो रही थी। प्रभु उसके सम्मुख ज्योतिर्मय मूर्ति धारण करके प्रकट हुए। बोलने लगे, "बेटी, तुम्हारी प्रार्थना शीघ्र पूरी होगी। वैद्यनाथधाम के समीप तपोवन पहाड़ पर बैठ कर तुम्हारा पुत्र पीताम्बर इस समय तपस्यारत है। उसका इस समय का नाम है, बालानन्द। शीघ्र तुम वहाँ जाओ-खोये हुये पुत्र को फिर पा जाओगी।"

थोड़ी बहुत जो कुछ जमीन थी उसे वेच कर नर्मदावाई तीर्थ-यात्रियों के साथ उज्जैन से चल पड़ी। इस के बाद अनेक स्थानों का पर्यटन करती हुई पुत्र के साथ आज उसका यह मिलन हुआ है।

जननी का यह संकल्प था कि इष्ट-देव यदि उसकी अभिलाषा पूरी करेंगे, प्रियपुत्र पीताम्बर को यदि यह देख पायेगी, तो सवालाख वेलपत्र लेकर वह देवाधि देव महेश्वर की पूजा करेगी। बालानन्दजी ने बड़े उत्साह के साथ सबकुछ का प्रबन्ध कर दिया। पूजा समाप्त हो जाने पर कुछ समय तक वहाँ पुत्र की सेवा परिचर्या ग्रहण करने के बाद नर्मदावाई परम धाम को सिधार गयीं।

"पीताम्बर ! पीताम्बर।" कहकर स्नेह-भरे कंठ से बालानन्द जी को पुकारने वाला अब कोई नहीं रह गया।

उनीसवी शताब्दी के दूसरे चरण की बात है। बहुत वर्ष पहले माता का त्याग करके वे अध्यात्म-साधना के मार्ग पर निकल पड़े। उस समय उनकी अवस्था मात्र नौ वर्ष की थी। कठोर तपश्चर्या विचित्र अभिज्ञता एवं अनुभूतियों के मध्य वे अपने साधन जीवन के एक-एक स्तर को पार करने लगे। उज्जैन छोड़ने के उस विस्मृत-प्राय पुण्य-दिवस की ओर बालानन्द जी ने दृष्टिपात किया। साधन-परिक्रमा की स्मृतियाँ एक-एक कर संन्यासी के मन में एकत्र होने लगी।

पीताम्बर का उपनयन संस्कार हुए अभी मात्र कतिपय दिन व्यतीत हुए हैं। इसी बीच उसने गृहत्याग का दृढ़ संकल्प कर डाला। माता एवं आत्मीय जनों को बिना जताये एक दिन बालक मार्ग में निकल पड़ा।

कहाँ और किधर जायगा कुछ ठिकाना नहीं। मुमुक्षु बालक एकाग्रमन से मार्ग तय करता हुआ चला जा रहा है। उसके चलने का ढंग और उदासीन भाव देख कर एक व्यक्ति उसके सामने आ उपस्थित हुआ। उपनयन के समय में जो सब स्वर्णभूषण दिये गये थे—कुण्डल, वलय, हार आदि वे सब उस समय भी वह धारण किये हुए था। वह व्यक्ति जो सामने आया था चालाक था, और चाहे जिस कारण से हो उसे यह समझने में देर नहीं लगी कि यह बालक घर छोड़ कर निकला है। भय दिखाकर वह बोला, "बच्चा, तुम जा तो रहे हो बहुत दूर-देशान्त, किन्तु ये सब आभूषण पहने रहोगे तो चोर, डाकू तुम्हारा पीछा करेंगे। जान जाने की भी आशङ्का बनी रहेगी अच्छा हो कि ये सब चीजें मेरे पास धरोहर के रूप में रख दो, लौटने पर फिर ले लेना।

पीताम्बर ने निर्विकार भाव से अपने शरीर पर से आभूषण उतार दिये। उनकी निरुद्देश यात्रा पुनः आरम्भ हुई।

सौभाग्य से मार्ग में बालक को एक साधु से भेंट हो गयी। वह नर्मदा-परिक्रमा के यात्री थे। पीताम्बर इनके साथ लग गये। नर्मदा नदी के किनारे-किनारे भ्रमण करते हुए दोनों एक बार गगोंनाथ में ब्रह्मानन्द महाराज के आश्रम में आ उपस्थित हुए।

बड़ौदा शहर से चालीस मील दूर नर्मदा के किनारे स्वयम्भूलिङ्ग श्रीगंगोंनाथ जी विराजित हैं। इन्हीं की बगल में महायोगी ब्रह्मानन्द महाराज ने अपना आसन जमाया था। सामने अखण्ड धुनी और अखण्ड दीप प्रज्वलित हो रहे हैं। महापुरुष के चरणों में बैठते ही बालक पीताम्बर का जन्म-जन्मान्तर का संस्कार उस दिन मानों जाग्रत हो उठा। व्याकुल भाव से उसने निवेदन किया कि ब्रह्मानन्द महाराज उसे अपनी शरण में ले लें।

बालक का आगमन और दीक्षा के लिए प्रार्थना योगीवर से अज्ञात नहीं थी। प्रसन्न मधुर हास्य से उन्होंने कहा, "बच्चा, यह तो बहुत अच्छी बात है। श्रावणी पूर्णिमा का शुभ दिन आ रहा है, उसी दिन में तुम को दीक्षा दूँगा। किन्तु इससे पहले तुम गाँवों में जाकर भिक्षा संग्रह कर लाओ। दीक्षा के दिन ग्रामवासियों और नर्मदा की परिक्रमा करनेवाले साधुओं को भोजन कराये बिना किस तरह काम चल सकता है?"

महापुरुष के चरणों में आश्रय मिलेगा, यह बालक के लिए परम सौभाग्य की बात थी। उसने सुन रखा था कि अब तक ब्रह्मानन्द महाराज ने किसी व्यक्ति को अपना शिष्य नहीं बनाया है, इसलिए उनकी आश्वासन वाणी सुनकर उसे असीम आनन्द हुआ। साथ ही साथ यह भी चिन्ता हुई कि दीक्षा के दिन ब्रह्मानन्दजी ने बहुत लोगों को खिलाने की बात कही है, किन्तु, उसमें यह सामर्थ्य कहाँ है?

बालक के मनोभाव को समझने में ब्रह्मानन्द जी को देर नहीं लगी। हँसते हुए उन्होंने अपनी भिक्षा की झोली की ओर अँगुली से इशारा

किया और कहा, "बच्चा, तुम तो जानते नहीं कि मेरी इस झोली के अन्दर ऋद्धि सिद्धि दोनों ही हैं।"

सचमुच बात ऐसी ही थी। उनकी झोली की अलोकिक शक्ति अत्यन्त आश्चर्यजनक थी। बहुत लोगों का विश्वास था, इस झोली की बदौलत ही गंगोनाथ आश्रम के निवासियों और अभ्यागत साधु-संतो के भोजन की व्यवस्था सहज ही हो जाती है।

दीक्षार्थी पीताम्बर ने इसके बाद गाँव-गाँव में घूमकर भिक्षा माँगना शुरू किया। नवीन बालक के सुन्दर, सुडौल रूप एवं त्यागपूर्ण वैराग्य को देखकर सबलोग मोहित हुए बिना नहीं रहते। साधारण मानव सी से लेकर बड़े-बड़े धनीमानी व्यक्ति प्रचुर परिमाण में आटा, मैदा, घी भारों में ब्रह्मानन्दजी महाराज के इस प्रथम शिष्य के दीक्षा-अनुष्ठान में भेजने लगे। महात्मा की झोली का प्रताप अब पीताम्बर को मालूम होने लगा।

निर्दिष्ट शुभ लग्न में ब्रह्मानन्द महाराज ने बालक को नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा दी—उसका नया नामकरण हुआ बालानन्द। ज्योतिर्मठ के आनन्द उपाधिधारी साधुकुल में वह अन्तर्भुक्त हुआ।

अब गुरु-दक्षिणा की बारी आयी। बालानन्द ने प्रश्न किया, कौन-सी वस्तु मुझे गुरुदेव के चरणों में निवेदित करनी होगी। ब्रह्मानन्दजी बोले, "वत्स, सद्गुरु सब प्रकार की कामना, वासना से परे होते हैं, उन्हें तुम कौन-सी लौकिक वस्तु देकर प्रसन्न कर सकते हो? जान रखो, प्रकृत गुरुदक्षिणा ऋद्धि में नहीं सिद्धि में है। मेरे द्वारा प्रदत बीज मंत्र का साधन करके जो सिद्धि तुम प्राप्त करोगे, उसे ही तुम मेरे प्रति निवेदित कर देना, मैं उसे सँजो कर रखूँगा। यही तुम्हारी वास्तविक गुरुदक्षिणा होगी। इसीसे मैं प्रसन्न होऊँगा।

नवीन ब्रह्मचारी अब साधन-भजन में तल्लीन हुए। शक्तिधर गुरु के स्वरूप को समझना कठिन है, फिर भी इस महापुरुष का

सान्निध्य प्राप्त करके और उनकी योग-विभूति की लीलाएँ देख कर उनकी श्रद्धा एवं कोतूहल अपने गुरु के प्रति बहुत बढ़ गया। समग्र पश्चिम भारत में विशेषतः बड़ोदा, अहमदाबाद और बम्बई अंचल में इन सिद्ध महापुरुष की ख्याति एवं प्रतिष्ठा विशेष रूप में फैली हुई थी। नर्मदा की परिक्रमा करने वाले साधुओं की दृष्ट में भी इनकी मर्यादा कम नहीं थी।

गंगोनाथ आश्रम में साधु-संतों और अतिथियों की सेवा और उन्हें अन्न-दान का क्रम लगा ही रहता था। प्रतिवर्ष वहाँ दो एक यज्ञानुष्ठान समारोह-पूर्वक संपन्न होते थे। इसके सिवा दुर्भिक्ष एवं अन्न-कष्ट के समय आश्रम का द्वार दीन दरिद्रजनों के लिए सर्वदा उन्मुक्त रहता था। जो सब वस्तुएँ आवश्यक होती थी उन सबकी आपूर्ति ब्रह्मानन्द जी के गुण-मुग्ध भक्त-जन किया करते थे। योग-सिद्ध शक्तिधर महापुरुष की ऋद्धि एवं सिद्धि की कितनी ही विलक्षण कहानियां उस अंचल में बराबर सुनी जाती थीं।

एक बार धूमधाम के साथ भंडारा चल रहा था। भोजन समाप्त होने पर था जब कि सहसा कई सौ अभ्यागत वहाँ आ पहुँचे। आश्रम के भंडारी उन्हें देखकर घबड़ा गये और उनके लिए खिचड़ी का गाला तैयार कराने लगे। ब्रह्मानन्द महाराज को जब यह मालूम हुआ वे आग-बबूला हो उठे। भंडार के अधिकारी को बुलाकर कहा, "मुझे लगता है तुम बंगाली का लड़का है, कम खाने वाला। क्यों इतना कम अन्न देते हो? तुम पूरा-पूरा दो, कुछ फिक्र मत करो।" इतना कहकर उन्होंने अपने हाथ से मुट्ठो बाँध कर दिखाया कि गाला कितना बड़ा होगा। सब लोगों ने परम आश्चर्य के साथ देखा कि उनके कर-स्पर्श के बाद कितने लोगों को खिलाने पर भी भंडार मे प्रचुर खाद्य सामग्री बच गयी थी।

अंचल में दुर्भिक्ष होने पर ब्रह्मानन्द महाराज स्वयं झोला लेकर

बाहर निकलते थे। सर्वसाधारण की दृष्टि में उनकी यह झोली अन्न-पूर्णा माई का सिद्ध झोला था। सब लोग बड़े उत्साह के साथ उसमें रुपया, पैसा खाद्य-सामग्री आदि डाल दिया करते थे। महाराज के आश्रम में खिचड़ी के जो गाले तैयार होते थे उनसे आसपास के आठ दस गावों के भूखे जनों को भर पेट भोजन मिल पाता था।

बड़ोदा के गायकवाड़ और उनकी महारानी ब्रह्मानन्द जी के बड़े भक्त थे। सदानन्दमय ब्रह्मानन्द जी किसी-किसी राज प्रासाद में पहुँच कर वहाँ हास्य-कौतुक का समाँ बाँध देते। एक बार गायकवाड़ शिवाजी राव को उन्होंने हँसी में कहा, "महाराज, सुना है कि आपके पास एक चांदी की तोप है जिसका गोला लगभग एक मील की दूरी तक निशाना लगाता है।"

गायकवाड़ ने कहा, हाँ बाबा, आपने ठीक ही सुना है। गोला एक मील तक जाता है।

"आपका गोला मात्र एक मील तक जाता है, और मेरा गोला जाता है दस-दस कोस! और सुनिये, आपका गोला चाँदी की तोप का गोला है, और मेरा गोला खिचड़ी, जो लोग वहाँ उपस्थित थे वे ब्रह्मानन्द जी की इस कौतुक-प्रियता पर ठठा कर हँस पड़े।

बड़ोदा की महारानी यमुनाबाई ने एकबार उन्हें अपने महल में आमंत्रित किया। नव-दीक्षित बालानन्द जी भी उनके साथ चले। मार्ग में एक परिचित ग्रामीण भक्त मिल गया। बहुत दिनों से उसे महाराज जी के दर्शन नहीं हुए थे। इसलिए उसने बाबा जी की बड़ी आवभगत की और उनके झोले में भर कर साग-सब्जी डाल दी। महल में पहुँचते ही महारानी मजाक में कहने लगी "आज हमलोगों का भाग्य सचमुच अच्छा है। देखती हूँ महाराज का झोला एक बारगी भरा हुआ है। हमें बहुत कुछ उपादेय वस्तुएँ खाने को मिलेंगी।"

"अवश्य, अवश्य ! बहुत प्रसाद तुम्हें मिलेगा, बोलो, किसको क्या चाहिये।"

"महाराज, अँगूर खाने की बड़ी इच्छा हो रही है, झोले से उसे निकाल कर दीजिए।"

यमुनावाई ने सोचा था, अँगूर का यह मौसम नहीं है, देखूँ, महाराज उसे अपने झोले से निकालते हैं या नहीं, ब्रह्मानन्द महाराज ने उसी क्षण अँगूर का एक गुच्छा झोले से निकाल कर उसके सामने रख दिया। हँसते हुए बोले, "माई के लिए अँगूर तो ठीक ही मिल गया।" शिष्य बालानन्द जी ने आते समय अपनी आँखों से देखा था, बाबा के भक्त ने उनके झोले में केवल साग-सब्जी डाल दी थी। इसके सिवा इस मौसम में तो अँगूर की बात तो सोची भी नहीं जा सकती थी। झोले से इस दुष्प्राप्य फल को निकलते देखकर उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही !

हास-परिहास और आनन्द-कौतुक की ओट में ब्रह्मानन्द महाराज अपनी असामान्य योग-शक्ति को छिपाये रहते थे। इसलिए अनेक साधक भी उनके वास्तविक स्वरूप को परखने में समर्थ नहीं होते थे। इस शक्तिधर योगी के आशीर्वाद एवं कृपा प्राप्त करके बहुत से मुमुक्षुजनों ने अपने जीवन को सार्थक बना डाला।

किशोर बालानन्द को उस समय नर्मदा की परिक्रमा समाप्त करने की धुन लगी हुई थी। गंगानाथ आश्रम में लगभग सात-आठ महीने तक रहने के बाद वे फिर नर्मदा के तट से होकर आगे बढ़ने लगे।

इस यात्रा में ही गौरीशंकर महाराज से उनकी भेंट हुई। वे प्रायः प्रति वर्ष नर्मदा की परिक्रमा करते हुए विचरण किया करते थे। इनका योग-सामर्थ्य सब समय में प्रकट होता रहता था। ऋद्धि और सिद्धि इन महापुरुष के करतल-गत थी। केवल इतना ही नहीं इनके साथ अजस्र शिष्य, भक्त एवं अनुरागीजन लगे रहते थे।

सदाव्रत और भंडारा साथ-साथ चलते थे —'दीयतां भुज्यतां' शब्द से नदीतट मुखरित हो उठता था। योगी ब्रह्मानन्द के साथ इस महापुरुष की घनिष्ठ मैत्री थी। किशोर बालानन्द को उनका दीक्षित शिष्य जानकर बड़े समादर के साथ उनको आश्रम प्रदान किया। यह शक्तिधर योगी बालानन्द ब्रह्मचारी के शिक्षा-गुरु थे। इनके साथ उन्होंने लगभग सात-आठ वर्ष व्यतीत किये।

इसके बाद बालानन्द जी के जीवन में दीर्घपर्यटन का अध्याय शुरू हुआ। आधी शती से अधिक तक वे भारत के असंख्य तीर्थों और जनपदों में बिचरण करते रहे। बीच-बीच में दीक्षा-गुरु ब्रह्मानन्द जी के चरणों में उपस्थित होते रहते थे। सिद्ध महापुरुष के समीप योग-साधना की विभिन्न निगूढ़ पद्धतियों को सीखने का उन्हें सुयोग प्राप्त हुआ। गुरू के शरीर- त्याग के समय तक गंगोनाथ आना-जाना उनका इसी प्रकार जारी रहा।

नर्मदा की परिक्रमा बालानन्दजी के जीवन का एक पवित्रतम व्रत था। इस व्रत के उद्यापन में उन्हें बहुत कष्ट स्वीकार करने पड़े, इसके लिए अपने जीवन को भी बार-बार विपन्न करना पड़ा। एक बार नर्मदा के किनारे मंडला नामक स्थान में बालानन्दजी पहुँचे। उनके साथ एक उदासी साधु थे दोनों के हाथ में एक-एक माला और वस्त्र-कम्बल की गठरी थी। उस समय इस अंचल में प्रायः चोरी डकैतियाँ हुआ करती थीं, इसलिए कमिश्नर साहब स्वयं तहकीकात के लिए आये हुए थे। अपने बँगले के पास इन दो नव युवक साधुओं को देखते ही उन्होंने उन्हें पकड़वा कर अपने सामने मँगवाया। उन्हें सन्देह हुआ कि ये सब अल्पवयस्क साधु ही मौका पाकर चोरी डकैती करते हैं और लापता हो जाते हैं।

साधुओं के झोलों में दो छोटी-छोटी खंतियाँ और कुठार पाये गये। साहब आँखें लाल-पीला करके बोले, "अब साबित हो गया, तुम्हीं लोग इन सब अस्त्रों से सेंध काटते हो और चोरी-डकैती करते हो।

बालानन्द समझाने लगे, "साहब, इन खंतियों से हम कंदमूल मिट्टी के अन्दर से खोदकर निकालते हैं, और कुठार की जरूरत होती है झोपड़ी बनाने में।" किन्तु उनकी यह कैफियत सुनता कौन है ? साहब के हुक्म से चपरासी साधुओं के झोलों की एक-एक चीज को बाहर निकालकर देखने लगे। छान बीन करने पर देखा गया एक छोटी सी गठरी में कुछ गाँजा और संखिया विष बँधे हुए थे।

साहब गरज कर बोले, "तुम लोग केवल चोरी-डकेती ही नहीं करते खूनी डाकू भी हो। इतनी अधिक मात्रा में संखिया विष रखते क्यों हो ? अवश्य ही इसे गुप्त रूप से खिला कर नर-हत्या करते हो। अच्छा, तुम में से प्रत्येक को तीन-तीन वर्ष कैद की सजायगी।"

बालानन्द बहुत तरह से समझाने लगे, गाँजा और संखिया की रमता-साधुओं को प्राय: आवश्यकता होती है। विशेषकर घोर जाड़े की रात में नर्मदा तट के खुले स्थान में इसके बिना काम ही नहीं चलता. शीत निवारण में संखिया बड़ा उपयोगी होती है। किन्तु साहब किसी तरह भी इसे मानने के लिए राजी नहीं हुए। धमकी देते हुए बोले, "साधु, संखिया-विष को मेरे सामने खाकर दिखाना होगा, ऐसा नहीं करने पर पूरे तीन साल तक कैद की सजा भुगतनी ही पड़ेगी।"

बालानन्द ने विचार किया, कैद की सजा भुगतने की अपेक्षा विष खाना अच्छा है। यदि प्राण चले ही जायँगे, तो ही क्या बिगड़ेगा ? कैदखाने में जोर जुल्म सहते हुए मृतवत् तो नहीं रहना पड़ेगा। गाँठ में काफी मात्रा में विष था। साहब के सामने खड़े होकर सारा विष वे एक बार में ही खा गये।

बालानन्द ने सोचा इस विष की क्रिया से उनकी मृत्यु अनिवार्य है। साहब के बंगले की सीमा के बाहर एक वृक्ष तले बैठ कर संगी साधुओं से कहने लगे; "भाई, मेरे कंठ और तालू सूख रहे हैं, आँखों

के आगे अँधेरा छा रहा है। जल्द ही मेरा देहान्त हो जायगा। तुम से एक अनुरोध है, देहत्याग के बाद इसे नर्मदा के जल में प्रवाहित कर देना, इसके बाद तुम चले जाना।"

बालानन्द का बाह्य ज्ञान क्रमशः लुप्त होने लगा, किन्तु इसी समय सहसा उनके अन्तर में नर्मदा माई की ज्योतिमयी मूर्त्ति उद्भासित हो उठी। अभय दान देकर देवी क्षण भर में ही अन्तर्धान हो गयी। कुछ क्षणों के बाद उनका चेतना-शून्य शरीर पृथ्वी पर लोट गया।

इसी समय साहब के बँगले पर एक हलचल मच गयी। कुछ ही समय पहले उनका पुत्र शिकार से लौटा था। अपने साथियों के साथ बैठ कर वह चाय पी रहा था, इसी समय एकाएक उसे उलटियाँ होने लगीं। डाक्टर के पहुँचने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी।

कमिश्नर के पुत्र के अस्वस्थ होने का समाचार सुनकर एक सज्जन उनसे मिलने आये। साधु को वहाँ अचेतन अवस्था में लेटे देखकर वे चौंक उठे। पूछने पर पता चला कि साहब ने उन्हें रोक रखा है और संखिया विष खाकर वे मृत-तुल्य हो गये हैं। साहब को उन्होंने समझाया, सर्व त्यागी साधु को इस प्रकार कष्ट देकर आपने अच्छा नहीं किया। चिकित्सा द्वारा इन्हें स्वस्थ करके शीघ्र छोड़ दिया जाय। इसके बाद डाक्टरी दवा द्वारा उन्हें उलटी करायी गयी और क्रमशः वे होश में आ गये। उक्त सज्जन के घर में बालानन्दजी कई दिनों तक विश्राम करते रहे। पूर्ण स्वस्थ हो जाने पर उन्होंने पुनः नर्मदा की परिक्रमा आरम्भ की।

बहुत दिनों के बाद इस साहब के साथ नदी-तीरस्थ एक वन में उनकी भेंट हुई। उस समय वे खंती से कंदमूल उखाड़ रहे थे। सामना होते ही साहब पहचान गये, यही उस दिन के संखिया विष खाने वाले साधु हैं। बालानन्द ने हँस कर कहा, "साहब, अब तो देख रहे हो, खंती से हम सेंध नहीं

काटते—वन जंगल में भोजन के लिए कंदमूल खोदकर निकालते हैं।

साहब के मनोभाव में परिवर्त्तन हो चुका था। वे लज्जित होकर हँसने लगे। बालानन्द जी को द्रव्य देना चाहा। मंद मुसकान के साथ उन्होंने निषेध कर दिया और कहा, "साहब, हमलोग वन जंगल में घूमने वाले साधक हैं,—हमारा पैसा लेकर क्या करेंगे! रुपया लेने की इच्छा ही नहीं होती—और इलाके में बिक्री की कोई चीज मिलती भी तो नहीं है।"

साहब ने अपना टोप उतार कर साधु के प्रति आदर भाव दिखलाया और वहाँ से चल दिये।

नर्मदा की परिक्रमा करने वाले साधुओं का विश्वास था इस मार्ग के वन-जंगलों में सब जगह नर्मदा माई की करुणा और अलौकिक शक्ति फैली हुई है, देवी सर्वदा भक्त साधुओं की खोज-खबर लेती रहती है। परिव्राजक बाला-नन्द के जीवन में यह नर्मदा परिक्रमा एक विशिष्ट अध्याय था। आरम्भ में गौरी शंकरजी की जमात के साथ और बाद में अन्यान्य साधुओं के साथ भ्रमण करके उन्होंने बहु विचित्र अनुभव प्राप्त किये। दैवी शक्ति के नाना प्रकाश ने भी उनके साधक-जीवन को प्रभावित किया।

एकबार बालानन्द जी कई साधुओं के साथ नदी-तटवर्त्ती एक जंगल से होकर जा रहे थे। संध्या का अंधकार घनीभूत हो रहा था। दिन भर चलते रहने के कारण यात्री दल थककर चूर-चूर हो गया था, भूख-प्यास से हिलना-डोलना भी दूभर हो रहा था। सहसा उन्होंने देखा, वृक्ष के नीचे एक भील स्त्री अपनी गाय को लिये खड़ी है। बालानन्द जी उसके सामने जाकर कहने लगे, "माई, हम सब भूख-प्यास से मृत-तुल्य हो रहे हैं, रात में इस पेड़ के नीचे विश्राम करने का निश्चय किया है। यहाँ का रास्ता हमें मालूम नहीं है। हमारे लिए तुम शीघ्र अपने गाँव से कुछ खाने की चीजें ले आओ जिससे हमारी प्राण-रक्षा हो।"

भील स्त्री ने हँसते हुए कहा, "बच्चा, तुमलोग चिन्ता न करो। मेरी इस गाय के दूध से ही तुमलोगों की भूख प्यास मिट जायगी। बर्तन लेकर एक-एक कर खड़े रहो, मैं दूध दूहे देती हूँ, जितनी इच्छा हो दुग्ध पान करो।"

जलपात्र के रूप में एक तूँबा के सिवा और कुछ नहीं था। भीलनी उसमें भर-भर कर दूध दे रही है और साधुगण एक-एक कर आकण्ठ दुग्धपान कर रहे हैं। सबने छक कर दूध पी लेने के बाद देखा कि भीलनी गाय के साथ जंगल में न मालूम कहाँ गायब हो गयी।

दूसरे ही क्षण साधुओं को चेतना हुई। उनकी संख्या कम नहीं थी। इतने लोगों की भूख-प्यास किस तरह इस गाय के दूध से शान्त हो गयी? यह सचमुच बड़े आश्चर्य का विषय है! इसके सिवा इस सघन जंगल में खड़ी वह भीलनी कौन थी? किसके लिए वह दुधार गाय के साथ रात में इस जंगल के बीच अपेक्षा कर रही थी? आसपास में कहीं कोई गाँव दिखायी नहीं पड़ता था। वह स्त्री कहाँ चली गयी? सब ने यह समझा कि भीलनी के रूप में स्वयं नर्मदा माई ने आज इस रूप में उनलोगों पर कृपा की है।

परिक्रमा-काल में बालानन्द महाराज ने और कई बार नर्मदा माई के अलौकिक आविर्भाव को प्रत्यक्ष किया। देवी के वरद हस्त ने एकाधिक बार गहन वन में उनकी प्राण-रक्षा की।

एक बार बालानन्द जी कामाख्या तीर्थ में पहुँचे। देवी-मूर्त्ति का दर्शन करने के बाद कई दिन उन्होंने पहाड़ के ऊपर साधन-भजन में व्यतीत किये। इसके बाद आस-पास के अञ्चल में पर्यटन करते समय वे एकाएक हैजे की बीमारी से पीड़ित हो गये। रोग का प्रकोप देखकर उन्होंने समझा इसबार उनका बचना कठिन है। शरीर बिलकुल अवसन्न हो चुका था। अपने अन्तर को परमात्मा के ध्यान में निविष्ट करके वे निश्चल रूप में पड़े रहे। सहसा उन्हें

दीख पड़ी एक दिव्य कुमारी मूर्ति जो उनके सम्मुख उपस्थित होकर उनसे कहने लगी, "गोसाईं, तुम चिन्ता मत करो। तुम मरोगे नहीं, बच जाओगे, किन्तु शीघ्र यहाँ से चले जाओ।" देवी के निर्देश के बाद फिर इस देवी-मूर्ति को किसी ने देखा नहीं। इसके बाद बालानन्द गाढ़ी नींद में सो गये।

दूसरे दिन नींद टूटने पर उन्होंने देखा, उनका घातक रोग रात भर में ही एकबारगी दूर हो गया है। भूख और प्यास से वे बेचैन हो रहे हैं। दुर्बल शरीर लेकर किसी तरह ठहर-ठहर कर चलते हुए समीप के एक कुएँ के के सामने पहुँचे। अनुरोध करने पर वहाँ जो लोग उपस्थिति थे सबने उनके सिर पर जल ढाल दिया, शरीर शीतल हुआ। भूख से पेट जल रहा था, किन्तु किसी का दिआ हुआ अन्न खा नहीं सकते। एक व्यक्ति को उनके ऊपर दया आ गयी, उसने ईंट के चूल्हे पर उनके लोटे में खिचड़ी चढ़ा दी। खिचड़ी पक जाने पर उन्होंने अपने हाथ से उसे उतारा और भोजन समाप्त किया। हैजा से पीड़ित होने पर दूसरे ही दिन उन्हें शीतल जल से स्नान और खिचड़ी खाते देखकर आस-पास के लोग शंकित हो उठे। किन्तु बालानन्द जी इसके बाद पूर्ण स्वस्थ हो गये।

कामाख्या से लौट कर बालानन्दजी ने तारकेश्वर तथा अन्यान्य तीर्थ स्थानों का भ्रमण किया। एक बार हुगली जिला में भ्रमण करते हुए उन्होंने सुना कि जलेश्वर एक जाग्रत एवं प्राचीन शिव लिंग हैं, जलेश्वर-शिव के नाम से वे परिचित हैं।

जंगल का रास्ता तै करके जब वे मन्दिर में पहुँचे उस समय संध्या बीत चुकी थी। मन्दिर अत्यन्त प्राचीन था। जलधरी के ऊपर अर्धहस्त परिमाण का एक शिवलिंग वहाँ विराजित था। उसके ऊपर पास में ही कुछ ऊँचे स्थान पर पंचमुण्डी का आसन था।

मन्दिर से सटे हुए कुयें के जल से हाथ-पाँव धोकर बालानन्द जी

ने मन्दिर में प्रवेश किया। कुछ समय तक वे जपध्यान में लगे रहे। इसके बाद उन्हें एक विचित्र अनुभव हुआ। उन्हें ऐसा लगा कि मन्दिर की चारों ओर की दीवारों के बीच वे दबते जा रहे हैं—शून्य में हा-हाकार करती हुई एक अदृश्य शक्ति मानों बवंडर उठा रही है। सहसा एक देववाणी सुनायी पड़ी, 'अरे, तुम पंचमुंडी के आसन पर अघोर मंत्र का जप करो।''

बालानन्द ने निविष्ट चित्त से जप आरम्भ किया। जप करते-करते भोर हो गया। दूसरे दिन उन्हें मन्दिर से बाहर होते देख कर गाँव के लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे लोग आपस में बातचीत करने लगे, यह अवश्य ही कोई शक्तिमान साधक है, अन्यथा किसी अन्य के लिए इस मन्दिर में रात्रि व्यतीत करना संभव नहीं है।

एक बार बालानन्दजी उत्तराखण्ड में भ्रमण कर रहे थे। इसी समय एक अद्भुत प्रकार के अन्तरिक्षचारी साधक के साथ उनकी भेंट हुई। बालानन्दजी के शिष्य श्रीहेमचन्द्रबन्द्योपाध्याय ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—"काँगड़ा उपत्यका के भाकसुत स्थान में जाकर गुरुदेव कुछ दिनों तक गोमती स्वामी के निकट वास कर रहे थे। वहाँ दोनों अपने-अपने आसन पर बैठे हुए थे जबकि एक महात्मा ने वहाँ उपस्थित होकर उन्हें दर्शन दिये। कुछ क्षणों तक बातचीत करने के बाद साधु वहाँ से चल दिये। कुछ ही दूर जाने के बाद वे 'जय गुरुदेव, जय गुरुदेव' कहकर ताली पीटने लगे। यह सुनकर गुरुदेव और गोमती स्वामी बाहर आये और उक्त साधु को देखने लगे। दोनों ने देखा वह 'जय गुरुदेव, जय गुरुदेव' बोल रहे हैं और ताली पीट रहे हैं, और इसी समय उनके दोनों पाँव भूमि से कुछ ऊपर उठ रहे हैं।

"ऐसा करते-करते वे शून्यमार्ग से आकाशगामी होकर एक उच्च पर्वत-शिखर की ओर उड़ने लगे और कुछ क्षणों के बाद वहाँ से अदृश्य

हो गये। वह दृश्य देखकर गुरुदेव चमत्कृत हो गये। और उक्त महात्मा के साथ भली-भांति परिचय नहीं प्राप्त कर सके इसके लिये दुःखित हुए। अपने-अपने आसन पर लौट आने के बाद गुरुदेव गोमती स्वामी से इस विषय में पूछ-ताछ की। स्वामीजी ने कहा उक्त साधु के साथ उनका विशेष परिचय नहीं, किन्तु और भी दो एकबार उन्होंने साधु को नीचे आते और आकाशगामी होते देखा है। ऊपर किस शिखर पर वे वास करते हैं, वहाँ किस तरह रहते हैं और बीच-बीच में नीचे क्यों उतरते हैं, यह सब उन्होंने उनसे नहीं पूछा।"

बाद में इस खेचर सिद्धि के सम्बन्ध में चर्चा होने पर गोमती स्वामी ने कहा, इस प्रकार की योगसिद्धि दो प्रकार से प्राप्त की जा सकती है—एक योग-प्रभाव के बल से और दूसरा द्रव्य-बल से। योग-विभूति विषयक शास्त्र में इसका उल्लेख पाया जाता है। द्रव्य शक्ति के विषय में वे जानते थे कि पारा मिलाकर 'गुटिक' कोई साधु तैयार करते हैं। उक्त साधु ने किस प्रकार खेचरत्व प्राप्त किया यह वे नहीं जान सके।

शक्तिधर योगी ब्रह्मानन्दजी ने जो दीक्षाबीज बालानन्द के जीवन में वपन किया था, बाद में चलकर वह सार्थक हुआ और एक असामान्यसिद्ध योगी के रूप में भारत के योगी-समाज में वे कीर्त्तित हुए। उनकी इस सफलता के मूल में एक ओर जहाँ गुरु ब्रह्मानन्दजी की कृपा थी दूसरी ओर विशिष्ठ महापुरुषों के उपदेश एवं सहयोग थे।

बालानन्द ब्रह्मचारी परवर्त्तीकाल में अपने शिष्यों को उपदेश दिया करते थे, 'मक्षिका बन जाय'—अर्थात् जहाँ जो कुछ अध्यात्म-अमृत का संचय देखो, वहाँ से अपने भांडार को समृद्ध कर लो, अध्यात्म-मार्ग के इस आदर्श का उन्होंने अपने जीवन में भी अनुसरण किया।

ब्रह्मानन्दजी और गौरीशंकर महाराज के अतिरिक्त बालानन्दजी का जीवन और भी कई महापुरुषों द्वारा प्रभावित हुआ था। नर्मदा तीर के मार्कण्डेय महाराज से उन्होंने हठयोग की समस्त दुरूह क्रियाओं का अभ्यास किया था। इसी प्रकार काशी ध्रुवेश्वर मठ के मण्डलेश्वर रामगिरिजी से उन्होंने वेदान्त के विभिन्न सूक्ष्म तत्त्वों को अधिगत किया था। उत्तराखण्ड के त्रियुगीनारायण में रहने वाले महात्मा मनसागिरि के समीप कुछ समय तक वास करते हुए बालानन्दजी ने नाना निगूढ़ मंत्रों का रहस्य हृदयङ्गम किया। योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी की कृपा से उनके साधन-जीवन का एक विशिष्ट अध्याय उन्मोचित हो गया था। उच्चतर योग-साधना की विशिष्ट क्रियाओं को इनसे सीख कर इन्होंने अपने को कृतार्थ किया था।

इसके बाद से सिद्ध साधक बालानन्द ब्रह्मचारी के जीवन में गुरुसत्ता का एक महिमामय प्रकाश देखा जाने लगा। बहुत-से संन्यासी एवं साधक इन योगी गुरु से साधन निर्देश प्राप्त करके धन्य हुए। प्रथम दीक्षित शिष्य रामचरण वन्द्योपाध्याय को आश्रय देने के बाद उनकी कृपाधारा चतुर्दिक् विस्तारित होने लगी। रामबाबू के साथ बालानन्द महाराज का साक्षात् एवं दीक्षा-दान की कहानी भी बड़ी मनोरम है।

कामाख्या से लौटकर वे बंगाल के विभिन्न अंचलों में भ्रमण कर रहे थे। इसी समय एक दिन वे रानाघाट पहुँचे। रामचरणबाबू वहाँ के एस० डी० ओ० थे। उनके व्यावहारिक जीवन में साहबी ठाठबाट थी। धर्मजीवन के प्रति स्वाभाविक झुकाव न होने पर भी रामबाबू सज्जन एवं कर्त्तव्यनिष्ठ थे।

इसी समय वे एक विपत्ति में पड़ गये। रानाघाट के निकट एक ट्रेन दुर्घटना हुई जिस में बहुत-से लोग हताहत हुए। एस० डी० ओ० रामबाबू ने इस दुर्घटना में अपने कर्त्तव्य का यथोचित रूप

में पालन नहीं किया यह अभियोग उनपर लगाया गया और उनके विरुद्ध समाचार-पत्रों में तीव्र आन्दोलन होने लगा। सरकार ने वाध्य होकर उनसे कैफियत तलब की। उनकी नौकरी पर इसका असर पड़ेगा ऐसी आशंका भी बहुत लोग करने लगे। रामबाबू का समस्त परिवार उस समय किसी अनिष्ट की आशंका से विषण्ण हो रहा था।

रामचरणबाबू की माता बड़ी भक्तिमती थी। एक दिन वह अपने इष्टदेव के चरणों में अपने पुत्र की मंगल-कामना कर रही थी, इसी समय सहसा उनके अन्तर से कोई बोल उठा, 'भय मत करो। ईश्वर-प्रतिम एक साधक तुम्हारे घर पर आये हुए हैं, इस बार विपद् के बादल दूर हो जायेंगे।'

क्षणभर बाद ही वृद्धा ने खिड़की से झाँककर देखा, जटाजूट-मण्डित एक दिव्य-कान्ति साधु उनके बंगले के द्वार देश में प्रवेश कर रहे हैं। साधु ने रामचरणबाबू से कहा, मुझे एक बघछाला चाहिये, स्थानीय लोगों से मालूम हुआ है, आप एक अच्छे शिकारी हैं, इसीलिए मैं यहाँ आया हूँ। उनकी दिव्य कान्ति देखकर रामचरणबाबू का मन पसीज गया। दो एक बघछाला उन्हें दिखाया, किन्तु साधु को पसंद नहीं हुआ, इस लिए उन्होंने ग्रहण नहीं किया।

साधु का साधारण दर्शन मात्र हुआ था। किन्तु रामचरण बाबू का जन्म-जन्मान्तर का सात्त्विक संस्कार मानों इसके साथ ही जाग उठा। रात में घोर निद्रा में बार-बार इस साधु का ही स्वप्न देखने लगे, अन्तर से कोई बार-बार पुकार कर कह रहा है, "अरे, इस साधु के द्वारा ही तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा, इन्हीं के चरणों का आश्रय ग्रहण करो।"

रामबाबू सपरिवार महात्मा के शरणापन्न हुए। उनके आशीर्वाद से रेल दुर्घटना सम्बन्धी विपत्ति एक बारगी टल गयी। रामबाबू और

उनकी धर्म पत्नी के विशेष अनुरोध करने पर बालानन्दजी ने दोनों को दीक्षा प्रदान की।

गुरु के प्रति रामचरणबाबू की भक्ति क्रमशः दृढ़ एकनिष्ठा में परिणत हो गयी। उनका समग्र जीवन गुरुमय हो उठा। एकबार उनकी पीठ में एक दूषित फोड़ा हो गया जिसका अस्त्रोपचार किया गया। अस्त्रोपचार में रामबाबू ने क्लोरो फार्म का प्रयोग करने नहीं दिया। सर्जन जिस समय अस्त्रोपचार कर रहा था वे एकान्त भाव से गुरु महाराज के चरणों का ध्यान कर रहे थे। आश्चर्य की बात उन्होंने अस्त्रोपचार के साथ पीड़ा का अनुभव नहीं किया।

इस घटना के कुछ ही समय बाद बालानन्दजी महाराज का एक पत्र रामचरण बाबू को मिला। उस समय वे गिरनार पहाड़ पर बैठकर तपस्या कर रहे थे। एक दिन ध्यानस्थ अवस्था में रामबाबू के अस्त्रोपचार का दृश्य छाया-चित्र की तरह बार-बार उनके समक्ष प्रतिभासित होने लगा। उन्होंने देखा शिष्य की पीठ में छुरी चलायी जा रही है, किन्तु न तो वह पीड़ा का अनुभव कर रहा है और न कातर हो रहा है। गुरु की ओर स्थिर भाव से दृष्टि निबद्ध किये हुए है। महाराज के आशीर्वाद-युक्त पत्र को पाकर रामचरण बाबू अत्यन्त प्रसन्न हुए।

बालानन्दजी के एक प्रवीण शिष्य थे जिनका नाम था दयानिधि झा। देवघर में महाराज के करणीबाद आश्रम स्थापित होने पर यह शिष्य अपने पुत्र के साथ वहीं वास करने लगे। एक रात को एक विषधर सर्प ने उनके पुत्र को डँस लिया जिससे उसकी अवस्था संकटापन्न हो गयी। किन्तु दयानिधि झा को तनिक भी विचलित होते नहीं देखा गया। गुरु के चरणों में प्रणाम निवेदित करके वे निर्विकार भाव से जप करने लग गये।

इसी समय ध्यानावस्था में एक अलौकिक दृश्य देखकर वे चकित हो गये। उन्होंने देखा यमदूत की तरह कतिपय विकराल मूर्त्तियाँ आश्रम

में प्रवेश करना चाहती हैं और बालानन्दजी महाराज हाथ में त्रिशूल लिये हुए उन्हें भगा रहे हैं। दयानिधि झा का पुत्र आश्चर्यजनक रूप में बच गया।

देवघर के समीप तपोवन पहाड़ पर बालानन्दजी महाराज एक समय घोर तपस्या में रत थे। अध्यात्म-साधना में ज्यों-ज्यों प्रगति होती गयी त्यों-त्यों उनका योगी-जीवन सार्थक होता गया। बालानन्दजी के इस समय के साधना-जीवन की कितनी ही रोचक कहानियाँ प्रचलित हैं। हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय ने इस सम्बन्ध में लिखा है :—"एक दिन वे गुफा के अन्दर एकांत में आसन पर बैठे हुए थे। कबतक ध्यानावस्था में रहे स्मरण नहीं है। किन्तु जब उनकी आँखें खुली उन्होंने देखा एक विचित्र रंग का सर्प अपने विशाल फण को फैलाये हुए सामने है। सर्प की एक विशेषता यह थी कि मनुष्य की मूँछ की तरह कितने ही लम्बे-लम्बे रोम उसके मुँह में थे। सर्प को देख कर महाराजजी कुछ भी नहीं डरे। उनके मन में यह धारणा हुई कि यह कदापि सर्प नहीं हो सकता, सर्प के वेश में कोई महात्मा उनकी परीक्षा ले रहे हैं। ऐसा विचार मन में होते ही महाराज ने त्राटक मुद्रा का अवलम्बन करते हुए सर्प की दृष्टि के साथ अपनी दृष्टि को निबद्ध किया। ऐसा करते ही सर्प ने अपना फण संकुचित कर लिया और धीरे-धीरे खिड़की के रास्ते बाहर निकल गया।

"दूसरी घटना इस प्रकार है। महाराज निम्न स्थान में धुनी के पास रात में अकेले सोये हुए हैं। शीत काल होने से उनके शरीर पर एक कम्बल था। रात में चार बजे उन्हें ऐसा लगा कि किसीने उनके पाँव पर से कम्बल खींच कर उसे फेंक दिया है। इसके साथ ही वे जग पड़े। देखा, सचमुच कम्बल धुनी के नीचे पड़ा हुआ है। इसी समय उन्हें मालूम हुआ कि कोई उनके सामने खड़ा है और उन्हें पड़ाड़ के ऊपर चलने का इशारा कर रहा है। महाराज बिलकुल नहीं डरे और न कुछ पूछा। कुछ आवेश में आकर ऊपर चलने लगे। इस प्रकार चलते हुए

वे ऊपर गुफा तक जा पहुँचे। दिन में गुफा में ताला लगा दिया था। वह उन्हें अच्छी तरह स्मरण था। किन्तु वहाँ जाकर देखा गुफा का द्वार खुला हुआ है। जो उन्हें बुलाकर लाया था, उसे गुफा में प्रवेश करते देखा। महाराज ने स्वप्नाविष्ट की तरह गुफा में प्रवेश किया।

"गुफा अतिशय अन्धकारपूर्ण था। इसलिए बुलाकर लाने वाले को वे देख नहीं सके। गुफा के अन्दर एक निर्दिष्ट स्थान में महाराज की दियासलाई और बत्ती रखी थी, अँधेरे में टटोलने लगे; इसी समय एक परम उज्ज्वल स्निग्ध प्रकाश बिजली के प्रकाश की तरह सहसा जल उठा। प्रकाश इतना स्वच्छ था कि मेज पर रखी हुई सुई भी देखी जा सकती थी। किन्तु उक्त आह्वानकारी को कहीं देखा नहीं गया। महाराज को यह चिन्ता होने लगी कि वे उस समय जाग्रत हैं या स्वप्नाविष्ट। ऐसा सोचते ही वे समाधिस्थ हो गये।

"सबसे नीचे की धुनी के पास महाराज को न देख कर पहले तो सब लोगो ने समझा कि महाराज संभवतः कहीं घूमने गये हैं। अधिक समय बीत जाने पर भी जव वे नहीं लौटे तब सब लोग ऊपर की गुफा में गये। उस समय दिन का दोपहर था। किन्तु वहाँ पहुँचने पर देखा गया महाराज उस समय भी ध्यानस्थ थे। सब के पुकारने पर उनका ध्यान टूटा और उन्होंने रात का विवरण कह सुनाया था।"

तपोवन पहाड़ के इस तपोमय जीवन में ही जननी नर्मदाबाई के साथ बालानन्द जी का साक्षात् हुआ था। देवाधिदेव महेश्वर का आदेश पाकर चालीस वर्षों के बाद पुनः माता-पुत्र का मिलन हुआ। जननी की सेवा परिचर्या एवं अन्तिम कृत्य संपादन के साथ-साथ बालानन्द महाराज के व्यावहारिक जीवन के समस्त कर्म एवं कर्त्तव्यों का अन्त हो गया।

रामचरण वसु के देहान्त के बाद उनकी पत्नी ने गुरु महाराज को एक आश्रम में प्रतिष्ठित करने की इच्छा प्रकट की। इस भक्ति-मती शिष्या के अतिशय आग्रह एवं आर्थिक सहायता से करणीबाद आश्रम स्थापित हुआ। इसके बाद इस आश्रम में रह कर ही योगीश्वर ने अपनी करुणाधारा से न मालूम कितने दुःखतापदग्ध जनों को शीतलता प्रदान की। उनके दो संन्यासी शिष्य मौजगिरि और पूर्णानन्द स्वामी यहाँ आकर वास करने लग गये थे। कृष्ण वन्द्योपाध्याय, प्राणगोपाल मुखोध्याय प्रभृति भक्त साधकों के आगमन होने पर धीरे-धीरे शिक्षित समाज में स्वामीजी का प्रभाव एवं प्रतिपत्ति बढ़ने लगी।

शिष्यों को अध्यात्म-साधना के लिए प्रस्तुत करने के विषय में स्वामी जी सदा सतर्क रहा करते थे। उनका कहना था—

चारों परीक्षा में जब शिष्य उतरे।
तभी गुरु उसको पक्का ठहरे॥

ये चार परीक्षाएँ थीं—घर्षण, तापन, छेदन और ताड़न। गुरुदेव मानों एक सुदक्ष स्वर्णकार थे जो शिष्यों के जीवन को लेकर सुन्दर अलङ्कार निर्मित करते थे। पहले कसौटी पर रगड़ कर जाँच कर लेते थे कि धातु असली सोना है, या कोई नकली वस्तु। इसके बाद तापन त्याग, तितिक्षा की अग्नि परीक्षा द्वारा यह जाना जाता था कि खराब धातु की मिलावट और गन्दगी कहाँ तक दूर हुई है। सब मैल सहज ही दूर नहीं होता, इसलिए कभी-कभी छेदन की जरूरत होती है। इसके बाद विशुद्ध सोना की परीक्षा के लिए हथौड़े की चोट या ताड़न की आवश्यकता होती है।

अपने जीवन में बालानन्द जी महाराज जिस कृच्छ्रव्रत, तपस्या एवं इष्टनिष्ठा का अनुसरण करते थे वह इस युग के साधारण मनुष्यों के लिए सहज साध्य नहीं है यह वे जानते थे। इसीलिए संन्यासी एवं ब्रह्मचारी शिष्यों के लिए कठोरता के पक्षपाती होने पर भी मुमुक्षु गृहस्थों के लिए वे

सहज-साध्य मार्ग की ही बात किया करते थे । अपार स्नेह एवं सहानुभूति के बीच अपने भक्तों एवं शिष्यों के साधन-जीवन में सहायता पहुँचाने के लिए उनका कल्याण-हस्त सदा प्रस्तुत रहता था ।

बालानन्द जी कलकत्ते के पास बरानगर में आकर कुछ दिनों से बास कर रहे हैं । इस समय उनके दर्शनों के लिए भक्त एवं मुक्तिकामी जन व्याकुल भाव से अपेक्षा करते थे । उनके वास-स्थान के समीप सदा भीड़ लगी रहती थी । एक दिन महाराजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर ने अपना एक प्रतिनिधि भेज कर निवेदन किया कि यदि बालानन्द जी कृपा करके उनके भवन में एक बार पदार्पण करें तो वे अपने को परम कृतार्थ समझेंगे ।

बालानन्द जी ने परिहास करते हुए कहा "यतीन्द्रमोहन 'महाराज' हैं यह मैंने सुना है । इधर बहुत से लोग मुझे भी 'महाराज' कह कर सम्बोधन करते हैं । एक महाराज यदि दूसरे महाराज के पास आये तो इसमें निन्दा की कौन-सी बात होगी ? महाराज यतीन्द्र मोहन यदि एकबार स्वयं यहाँ आते तो अच्छा होता ।"

उपर्युक्त कुछ बातें कह कर बालानन्द जी ने एक सिद्ध महापुरुष की कहानी सबलोगों को यह सुनायी । नगर के राजमार्ग पर आसन बिछा कर महात्मा एक दिन बैठे हुए थे । इसी समय ही हल्ला मच गया । बहुत लोगों को साथ लेकर अञ्चल के अधिपति उक्त मार्ग से होकर कहीं जाने वाले हैं । संन्यासी मार्ग के मध्य में बैठे हुए थे । अग्रगामी सैन्य दल ने संन्यासी को सावधान कर दिया—यहाँ इस तरह नहीं बैठ सकते, राजा आ रहे हैं ।

साधु ने आँखें खोलकर संक्षिप्त रूप में केवल इतना ही कहा "राजा को कह दो, यहाँ एक महाराज बैठे हुए हैं ।"

बड़ी मुश्किल हुई। संन्यासी वहाँ से हटने का नाम ही नहीं लेते। डरते हुए लोगों ने राजा को इसकी खबर दी। पालकी से उतर कर राजा उसी क्षण संन्यासी की ओर बढ़ने लगे।

संन्यासी को प्रणाम करके कहा, "सुना है, सरकार भी महाराजा हैं। किन्तु महाराजा की फौज कहाँ है ?"

"फौज की क्या जरूरत है। कोई भी मेरा शत्रु नहीं है।" राजा ने हँसकर कहा, "अच्छी बात है, किन्तु खजाना कहाँ है ?"

"कोई खर्च ही नहीं है, तो फिर खजाने की क्या जरूरत ? मेरे लिए तो 'स्वदेशः भुवनत्रयम्'—मेरा राजत्व त्रिभुवन में विस्तृत है, तो फिर मैं महाराजा नहीं तो और क्या हूँ ?"

राजा ने महात्मा के कथन के मर्म को समझा। उन्हें साष्टांग प्रणाम करके मार्ग के एक तरफ से होकर चले गये।

बालानन्द ब्रह्मचारी जी की कहानी समाप्त हुई। महाराजा यतीन्द्र मोहन ने जिस व्यक्ति को अपनी ओर से भेजा था उसने लौट कर आरम्भ से अन्त तक सारी बातें महाराजा को कह सुनायीं। सब कुछ सुनकर महाराजा कुछ लज्जित हुए बिना नहीं रहे। इसके बाद वे स्वयं भक्ति-पूर्ण हृदय से बालानन्द महाराज के चरणों में उपस्थित हुए।

यतीन्द्र मोहन ने बालानन्द ब्रह्मचारी से प्रश्न किया, मेरे जैसे संसारी व्यक्ति का क्या कर्त्तव्य है ? नाना प्रकार के बन्धन-जाल में आबद्ध रहकर वास्तविक अध्यात्म-उन्नति के लिए वे किस मार्ग पर अग्रसर होंगे ?

बालानन्द जी ने कहा—"महाराज, आप अब उलट जाइये।"

उनके इस कथन का मर्म न समझकर जिज्ञासुभाव से महाराजा उनकी ओर देखते रहे। बालानन्द जी उसके भाव को समझ कर बोले, "महाराजा, इस समय आपके पास जो कुछ है सब यों ही रहेगा, केवल

अपनी बुद्धि एवं दृष्टिकोण में परिवर्त्तन लाना होगा। 'सब मेरा' इस मनोभाव को बदलकर कहना होगा—'सब तेरा'—अर्थात् अपने अहंबोध के स्थान पर भगवान को स्थापित करना होगा। आप मालिक हैं—यह बोधत्याग कर अपने को मनेजर समझना होगा। किसी भाई को यदि यह बात समझानी होती, तो मैं उससे कहता—भाई, अब दाई बन जाइये।"

१९०६ ई० की घटना। बालानन्दजी गुरुधाम गंगोनाथ आश्रम में आये हुए हैं। गुरुजी ब्रह्मानन्द महाराज ने इस समय पूर्ण समारोह के साथ महारुद्र यज्ञ एवं महामृत्युञ्जय यज्ञ का अनुष्ठान किया। एक दिन हँसी में उन्होंने बालानन्दजी से कहा, "बाला, अब मैं इस मर्त्य शरीर का त्याग करूँगा।" "यह क्या बात गुरुजी,—आप स्वेच्छा से और भी बहुत दिनों तक इस शरीर को धारण किये रख सकते हैं।

संक्षेप में उत्तर मिला, "और नहीं, यह बहुत पुराना हो गया।"

माघ महीने के एक पुण्यदिवस में बहुत सवेरे नर्मदा के वर पुत्र महायोगी ब्रह्मानन्द महाराज अपने कुटीर में ध्यानस्थ हुए। उनका यह ध्यान फिर भंग नहीं हुआ। आश्रम के एक किनारे नर्मदा के तट पर बैठकर बालानन्दजी जप कर रहे थे। सहसा उन्होंने देखा, ब्रह्मानन्द महाराज जहाँ आसन लगाकर बैठा करते थे उससे सटी हुई कुटिया अचानक धू-धू करके जल उठी। दूसरे ही क्षण उन्होंने देखा एक अग्नि-शिखा उस स्थान से अकस्मात् ऊपर उठ कर दूर आकाश में विलीन हो गयी। उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी कि योगीवर की ज्योतिःसत्ता चिरकाल के लिए देह का त्याग करके चली गयी।

गुरुदेव के शरीर-त्याग के बाद अब वहाँ बालानन्दजी रहना नहीं चाहते थे। महायोगी ब्रह्मानन्दजी के वे प्रथम शिष्य थे। गंगोनाथ की गद्दी वृद्ध

महाराज उन्हें ही दे गये थे, किन्तु गुरुभाई केशवानन्दजी को इस गद्दी पर स्थापित करके वे देवघर लौट आये।

इसके बाद बहुत दिन बीत चले। करणीबाद आश्रम के प्रसार और श्रीवृद्धि के साथ-साथ योगीवर के भक्त शिष्यों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हो चली थी। उस समय आनन्द एवं कल्याण के पूर्ण कलश के रूप में महापुरुष बालानन्दजी बैद्यनाथधाम में वास कर रहे थे। क्रमशः उनकी जीवन-लीला का अन्तिम दृश्य आ उपस्थित हुआ।

१९९४ सं० के २६ ज्येष्ठ को मध्य रात्रि में योगीवर परमात्मा में लीन हो गये। नौ वर्ष की अवस्था में उज्जयिनी के महाकाल—ज्योतिर्लिंग के पादपीठ से जिस महाजीवन की अभियात्रा आरंभ हुई थी, बैद्यनाथ ज्योतिर्लिंग की परम सत्ता में उसी की समाप्ति हो गयी।
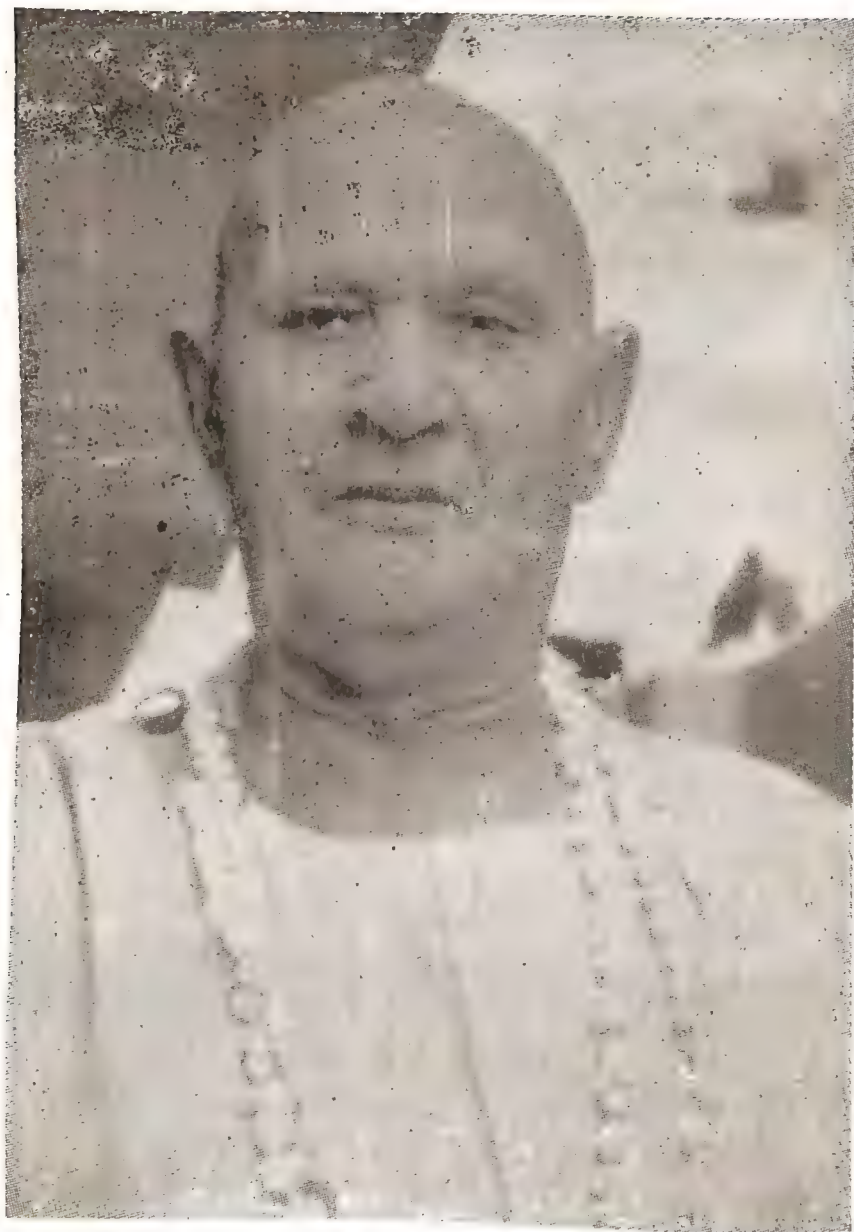
हंसबाबा अवधूत

हंसबाबा अवधूत

उस दिन शिवरात्रि का पर्व था। आश्रम में दिनभर चल रहा था ध्यान-भजन और शास्त्र-पुराणों का पारायण। रात भी अब बहुत बीत चुकी थी। अभी-अभी ब्रह्मसूत्र का पाठ और उसकी व्याख्या का क्रम पूरा हुआ है। अब स्वामी अनुभवदेव साधन-कुटी में जाकर ध्यानासन पर बैठेंगे।

इसी समय एक बालक आगे बढ़ा और उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम निवेदन किया। बालक बड़ा ही भव्यमूर्ति था, जैसे आग का ज्वलंत पिंड हो। अनुभवदेव पुलकित हो उठे। मधुर कंठ से बोले, "बेटा, रात बहुत बीत चुकी है। चारों ओर घन-घोर अँधेरा है। अब भी तुम घर क्यों नहीं लौटते? जानते होगे कि आश्रम के आस-पास जो जंगल है उसमें कभी-कभी बाघ भी पाया गया है। अच्छा कहो तो, तुम्हारा घर कहाँ पर है? मैं किसी को तुम्हारे साथ कर दूँ।"

"महाराज, उसकी जरूरत नहीं है। मैं तो सब दिनके लिए घर-वार छोड़कर यहाँ चला आया हूँ। आपके आश्रम में ही रहने की चाहना है।" बालक ने व्यग्र कंठ से उत्तर दिया।

महात्मा की भौंह कुछ सिकुड़ आई। "बोले, घर छोड़कर निकल आये हो! बेटा, क्या तुम माँ-बाप से झगड़ आये हो? तुम्हें पढ़ना-लिखना अच्छा नहीं लगता? क्या हुआ है, कुछ खुलकर कहो तो।"

"महाराज, यह सब कुछ नहीं है। कोई झगड़ा-झड़प करके मैंने घर नहीं छोड़ा है। मैं आया हूँ अपने मनका कुछ संकल्प लेकर। मैं साधु

बनूँगा। शिवजी के चरण में अपने को सदा के लिए उत्सर्ग कर दूँगा। आप मुझ पर कृपा करें, अपनी शरण में आश्रय दें।

अपलक नेत्रों से स्वामी अनुभवदेव इस बालक की ओर कुछ देर एकटक निहारते रह गये। समझ गये, पूर्वजन्म का सात्त्विक संस्कार उसका प्रबल है और वही संस्कार आज उसे घर से बाहर निकाल ले आया है, और आध्यात्मिक प्रेरणा भर गया है। इस बालक को सहज में नहीं मोड़ा जा सकता।

मुसकिराकर महात्मा उससे पूछने लगे, "बेटा, तुम्हारी उमर कितनी है ?

"बारह साल की।"

इस कच्ची उमर में ही संन्यासी होने की बात तुम्हारे मन में कैसे आई, सच-सच बताओ तो ? घर का आराम, माँ-बाप की स्नेह-ममता, संगी-साथियों के साथ खेल-घूर —यह सब छोड़कर इस दुर्गम मार्ग पर तुमने पाँव बढ़ाने की क्यों सोची ? इसके सिवा, बेटा, तुमको यह धारणा नहीं होगी कि मैं गुरु के हिसाब से कितनी कठोरता का बर्ताव करता हूँ।"

"महाराज, मैं तो निरा एक मामूली बालक ठहरा। आपकी महिमा क्या जानूँ ? तो भी मैंने आपकी अनेक बातें सुन रखी हैं। इस बीच मेरे घर पर अतिथि-रूप में एक प्रवीण संन्यासी आये थे। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने बार-बार यह बात कही कि 'अमृतसर के वेदान्ती साधु अनुभवदेव की कहीं कोई तुलना नहीं। सम्पूर्ण पंजाब के लिए वह गौरवालंकार हैं।' संन्यासी की बात सुनकर मेरे मन में आपका नाम चिरकाल के लिए खचित हो गया। उसके बाद शरीर पर जो ही कपड़ा पहन रखा उसी को लेकर पैदल ही आपके चरण में आश्रय पाने के लिए सीधे यहीं चला आया।

"देखो बेटा, साधु के जीवन का एक ही लक्ष्य रहता है, और वह है ईश्वर की प्राप्ति और इस लक्ष्य को पाने के लिए, जितने भी सुख

होते हैं सभी का विसर्जन कर देना पड़ता है। देहबोध, अहंबोध सभी को निर्मूल उखाड़ फेंकना होता है। तपस्या की भट्टी में देह-मन अपना जो कुछ है सभी को गला देना पड़ता है और तभी उस परम रस में अपने को मिला देने का अधिकार मिलता है। तुम बच्चे हो। इन सब बातों को अभी समझ नहीं पाओगे। किन्तु असल बात यह है कि जब शरीर के तमाम सुख-आराम को छोड़ सको तभी सच्चे साधु हो सकते हो।"

गृहत्यागी बालक को किसी प्रकार टालना संभव नहीं हो सका। जीवन की सारी सुख-सुविधा को तिलांजलि देकर, परम सुख और परम शांति के अन्वेषण में उसने आश्रम-जीवन को ग्रहण किया। चरम कृच्छ्र साधना, स्वाध्याय और योग-तप के माध्यम से वह अन्त में एक महावेदांती संन्यासी के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। हंसदेव अवधूत के नाम से समग्र भारत के अध्यात्म-समाज में परिचित हुए। संथाल परगना के जसीडीह में स्थित कैलाश पहाड़ पर इस सिद्ध पुरुष का आश्रम स्थापित हुआ। शत-शत मुमुक्षगण इनका आश्रय लाभ कर धन्य हुए।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग में, सिपाही-युद्ध के प्राय: समकाल में पंजाब की एक छोटी सी बस्ती में हंस बाबा का आविर्भाव हुआ। एक उच्च ब्राह्मण-वंश में इन्होंने जन्म ग्रहण किया। माँ-बाप दोनों की प्रवृति बड़ी सात्विक थी। यद्यपि आर्थिक स्थिति उतनी अच्छी नहीं थी फिर भी अतिथि एवं साधु-संतों की सेवा में हंसबाबा के माता-पिता का अत्यन्त उत्साह रहता। घर में प्राय: बराबर ही साधु-संत आया करते। उनलोगों के निकट बैठकर बालक हंसदेव एकमन होकर तीर्थ-यात्रा की विचित्र कहानियाँ, प्राचीन साधक लोगों की महिमा और उनकी सिद्धाई की बातें सुनते रहते। उसका मन-विहंग की तरह अज्ञात कल्पना-लोक के आकाश में पंख फैलाये उड़ान भरता रहता।

उन दिनों इन सब तीर्थ परिक्रमा करने वाले साधुओं के द्वारा समाज के स्तर-स्तर में अपार कल्याण का संचार होता रहता। ग्रामवासी लोग भी सरल प्रकृति के, भक्तिपरायण और अतिथिसेवी होते थे। साधु-संतों के गाँव में पहुँचते ही, उनव भोजन एवं सेवा की व्यवस्था में, जैसी जिनकी शक्ति होती लेकर आ जुटते।

बाद के दिनों में बातचीत के सिलसिले में हंसबाबा कभी-कभी बोल उठते, "देखो, पिछले जमाने में हमलोगों का ग्राम-जीवन आजकल के जैसा नहीं था। अपनी ही समस्या को केन्द्रित करके समाज का जीवन नहीं चलता था। देश में खाद्य-सामग्री प्रचुर थी। वे सभी भौतिकता से अधिक आध्यात्मिकता का ध्यान रखते थे। साधु सेवा और परोपकार वृत्ति की ही प्रधानता थी, उसी की सर्वोपरि मान्यता थी। पंजाब के हर गाँव में एक सुन्दर नियम प्रचलित था। गाँव के गृहस्थ लोग अपने दैनिक प्रयोजन के अतिरिक्त तीन अंश और रोटियाँ प्रस्तुत करते। पहला साधुओं के लिए; दूसरा अतिथि-अभ्यागत के लिए और तीसरा खाना धर्मशाला में अभ्यागत व्यक्तियों के लिए तैयार रख छोड़ा जाता। ऐसे ही वातावरण में हमलोगों की पैदाइश हुई थी। इसलिए बचपन से ही सात्विक भावना की ओर झुकाव होना स्वाभाविक था।"

गाँव के मध्य केन्द्र-स्थल में एक वृहदाकार बड़गद के पेड़ के नीचे बीच-बीच में नागा संन्यासियों की छावनी लगती रहती। एक अज्ञात आकर्षण से हंसदेव इन नग्न, संसार-विरक्त साधुओं के निकट खिंच आता। बड़े उत्साह और लगन से उन लोगों की गाँजे, चरस की चिलम भरने लगता। गाँव में घर-घर जाकर वहाँ से दल-पूड़ियाँ, साग-भाँजी, हलुए आदि ला-ला कर परितोष—पूर्वक उन लोगों को खिलाता-पिलाता। सर्वत्यागी, ईश्वरीय पथ के पथिक इन साधकों की ओर दृष्टि लगाये रहता और फिर घर-द्वार, बन्धु-स्वजन, खेल-धूप के साथी किसी की सुधि उसे नहीं रहती।

ऐसे ही अवसर में एक बार उसने किसी संन्यासी के निकट अमृतसर के ब्रह्मज्ञानी महापुरुष अनुभवदेव की चर्चा सुनी। दूसरे ही दिन, सब की आँख बचाकर उनकी खोज में बाहर निकल पड़ा। उसके बाद लम्बी राह तय करता हुआ वह इस आश्रम में उपस्थित हुआ था। भाग्य के जोर से महात्मा के चरण का आश्रय भी उसे प्राप्त हो गया।

नवागत बालक को अनुभवदेव ने अपने आश्रम में रख लिया। यहाँ अनेक प्रकार के उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने पड़ते थे। विग्रह-मूर्ति का पूजन-अर्चन, अतिथि अभ्यागतों की सेवा आदि काम तो थे ही, उसके अलावे आश्रम में जो बहुत से लोग रहते थे उनके लिए भोजन की तैयारी भी करनी पड़ती। आश्रम में सैकड़ों गाय-भैंस थीं, उनकी देखभाल भी कम कष्टकर नहीं थी।

ब्रह्म-मुहूर्त से ही नवीन ब्रह्मचारी का दैनिक कार्य आरंभ होता था। ध्यान-जप एवं स्वाध्याय संपन्न कर वह गाय चराने के लिए बाहर निकल पड़ता। वहाँ से लौटकर फिर रसोई की तैयारी में लग जाता। फिर परोसने का क्रम चलता और बर्तन-भाँडे साफ करने पड़ते। रात में साधन-भजन और आश्रम के काम पूरे कर जब सोने के लिए जाता तो अंग-अंग टूटता-सा मालूम होता। इस प्रकार की थी उस साधक की दैनिक चर्या।

इस प्रकार कितने वर्ष बीत गये। एक दिन इस नवीन ब्रह्मचारी को पास बुलाकर आचार्य ने कहा, "वत्स, आश्रम के काम में इतने दिनों तक तुमने जो प्राणपात परिश्रम किया उससे मुझे बहुत संतोष मिला है। अब से तुम वेदान्त का पाठ ग्रहण करोगे। पंडित काला सिंह इस अंचल के वेदांतियों में अग्रगण्य हैं और मेरे अत्यन्त अनुगत व्यक्ति हैं। मैं पत्र लिखकर उनसे अनुरोध करता हूँ, वह तुम्हें ज्ञान-दर्शन की उच्चतर शिक्षा देंगे। तुम उन्हें शिक्षा-गुरु के रूप में बरण करो, ज्ञानमार्गीय साधना की भित्ति को और अधिक सुदृढ़ कर लो।"

उक्त स्वनामधन्य पंडित के निकट जाकर हंसबाबा ने वर्षों पाठ ग्रहण किया। असाधारण मेधा और प्रतिभा के बल से वेदान्त के जटिल तत्वों को हृदयंगम करने में समर्थ हुए।

इसी बीच हठात् एक दिन महात्मा अनुभवदेव का तिरोधान हो गया। इस नवीन ब्रह्मचारी के हृदय में शोक वज्राघात सा लगा। अधीर होकर सोचने लगे, आध्यात्मिक जीवन की जिस साधना को एकांत भाव से अंगीकार किया था, आज उसके लिए मार्ग प्रदर्शन कौन करेगा ? मुमुक्षा की आग अंतर में धधक रही थी, कौन उस पर अमृत-वारि का सिंचन करेगा ? उन्माद-जैसा हो गया, वह बाहर निकल पड़े और अनेक मठों, मंदिरों और तीर्थ-स्थानों में बहुत दिनों तक भटकते रहे।

उसके बाद उस दिन एक निर्वाणी अखाड़े में उन्हें हीरानन्द अवधूत के दर्शन मिले। इन्हीं महात्मा की कृपा से संन्यास-दीक्षा उन्हें प्राप्त हुई। संन्यास लेने पर उनका नाम पड़ा हंसदेव अवधूत, किन्तु पीछे चलकर जन-समाज में वह हंसबाबा के नाम से प्रसिद्ध हुए।

महात्मा हीरानन्द थे एक प्रसिद्ध आत्मज्ञानी साधक, त्याग और वैराग्य के वह मूर्तिमान विग्रह थे। नवीन शिष्य हंसबाबा से उन्होंने कहा, "बेटा; यह बड़े आनंद की रही कि तुमने इतने दिनों तक निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया है, अब तुम निवृत्ति मार्ग पर आरूढ हुए हो। इस बार बारह वर्षों के लिए तुम परिव्राजक रूप में बाहर घूमने निकलो। किन्तु इस समय तुम्हें दो नियमों का पालन करना होगा। कभी गृहस्थ के यहाँ रात्रि-वास नहीं करना और अयाचकता का व्रत पालन करते रहना। किसी अवस्था में किसी से कुछ याचना मत करना। परमात्मा की कृपा से आप ही आप जो कुछ भोजन मिल जाय उसीसे अपना निर्वाह करते रहना।

"प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य है। प्राण-पण से इस आदेश के पालन की चेष्टा में रहूँगा।"

"बेटा, इसे सर्वदा स्मरण रखना कि तुम्हारी परम-प्राप्ति वैराग्य-साधन पर ही निर्भर है। चरम कृच्छ्व्रत का अवलंबन किये रहो, और देह बुद्धि को विसर्जित करने के लिए सर्वस्व की बाजी लगा दो। आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारी इतने दिनों की साधना सफल होकर रहेगी, आत्मज्ञान से तुम्हारी हृदय-कंदरा उद्भासित हो उठेगी।"

गुरु के वचन हंसबाबा के हृदय में खचित हो गये। परिव्राजक जीवन में उन्होंने बड़ी निष्ठा के साथ निर्दिष्ट नियमों का पालन किया। उन दिनों कौपीनधारी, तितिक्षामय इस संन्यासी के हाथ में एक कमंडलु तक नहीं पाया गया। मिट्टी के जिस वर्तन में वह पानी पीते दूसरे दिन उसका भी व्यवहार करते उन्हें नहीं देखा जाता।

हिमालय की अधित्यका में जाकर उन्होंने अनेक बार प्रचंड शीत को सहन किया। इस समय की कृच्छ्साधना के प्रसंग वह कहा करते—"हमारे गुरु महाराज अत्यन्त कृपालु थे। देहबोध को विनष्ट करने के लिए उन्होने मुझे चरम कोटि की जाँच में रखा। अपने कृपा-बल से वह अनेक विपर्यय के बीच से मुझे पार कर देते थे। कौपीन मात्र धारण करके मैंने उत्तरा-खंड में अनेक बार भ्रमण किया। एक-एक दिन हिम-प्रवाह तीव्र हो उठता। बाहर में रहना असंभव हो जाता। उस समय साधना के लिए प्रचंड उत्साह उमड़ता रहता, किसी ओर भ्रूक्षेप तक नहीं करता। किसी दिन तो ऐसा होता कि पेड़ के नीचे पत्रों के ढेर पर सोना होता, और सिरहाने मिट्टी के पात्र में पाने का जो जल रखा रहता वह रात में जमकर बिलकुल बर्फ बन जाता। किन्तु यह कड़ाके की ठंडक मेरी नींद में कभी कोई बाधा नहीं

पहुँचाती। मास-मास भर बर्फीले पहाड़ पर वास करने के कारण शरीर के चमड़े बिलकुल चिमरे और बदरंग हो गये थे। समतल पर रहने वाले लोगों को हठात् मुझे देखकर स्वाभाविक मनुष्य कहने में भी हिचक होती।"

गुरु की आज्ञा से हंसबाबा बारह साल तक वैराग्यमय परिव्राजक का जीवन बिताते रहे। बिना माँगे जब जो कुछ भिक्षान्न मिलता उसी से जीवन धारण करते रहे। वर्ष-वर्ष बीत गये पर एक दिन के लिए भी उन्होंने अपने हाथ से अन्न-पाक नहीं किया, भोजन बनाकर कभी खाया नहीं।

'हरिहर' की आवाज लगाकर हंसबाबा गृहस्थ के घर प्रतिदिन एक बार उपस्थित होते। कभी भोजन-सामग्री मिल भी जाती और कभी-कभी भर्त्सना और व्यंग्योक्ति मिलती रहती। किन्तु उस तितिक्षावान् संन्यासी के निकट निन्दा और स्तुति दोनों बराबर थीं। सांसारिक किसी आचार या आचरण की ओर वह आँख उठाकर नहीं देखते। विश्व के सारे के सारे पदार्थ उनकी दृष्टि में थे विनाशशील, प्रपंच और माया मात्र।

जंगल और पहाड़ पर परिव्राजन के समय उन्हें अनेक बार हिंस्र जन्तुओं के सामने गुजरना पड़ता था। किन्तु इस तपोनिष्ठ साधक के प्राणों की रक्षा अलौकिक भाव से संपन्न होती रहती।

उस बार कुमायूँ में नंदा देवी पहाड़ पर वह पर्यटन कर रहे थे। जंगल के बीच में उन्होंने एक जन-शून्य पर्णकुटी देखी। मालूम पड़ा कोई साधु किसी समय इसे बनाकर कुछ दिन यहाँ रह कर फिर खाली कर गया है। बड़े आनन्द के साथ इस कुटी में हंसबाबा बहुत दिनों तक यहाँ रम गये। यहीं आसन जमाकर निरन्तर ध्यान में डूबे रहते।

माघ महीने की जाड़ हाड़ तक को कँपा देता। फिर भी हंस-

बाबा अर्धनग्न अवस्था में ध्यानाविष्ट रहते। गर्मी की आग उगलने वाली चिलचिलाती धूप, वर्षा की झड़ी एवं झंझा सिर पर होकर कब निकल जाती इस पर उनका रंच मात्र भी ध्यान नहीं जाता। सभी अवस्थाओं में वे आसक्ति-हीन और प्रसन्न-मूर्ति बने रहते।

इस अवधि के वैराग्यमय जीवन और तपस्या के प्रसंग में पीछे चलकर जब कभी उनके समीप कुछ चर्चा छिड़ती तो वह कहते, "उस समय मेरी—'गुजर गई गुजरान, क्या झोपड़ी क्या मैदान, वाली अवस्था थी।' प्रायः मेरी रात कटती नक्षत्र-खचित महाकाश की उदार छाया में। पेड़ के तले सूखे पत्रों की सेज पर सोकर कितनी रातें गुजरी इसका कोई हिसाब नहीं। हिंस्र जीव-जंतुओं का उपद्रव जहाँ अधिक रहता वहाँ पेड़ की डाल पर सोकर रात बितानी पड़ती। नीचे घास-फूस की धूनी जलती रहती; दिन पर दिन इसी प्रकार गुरु-निर्दिष्ट साधन और ब्रह्माभ्यास का अनुष्ठान मैं किये जाता।"

हिमालय से लेकर सागर पर्यन्त भारत के जितने भी प्रधान तीर्थ हैं, हंसबाबा ने उन सबों की तीन बार प्रदक्षिणा की। एकबार पर्यटन करते-करते वह भारत की सीमा पार कर अफगानिस्तान जा पहुँचे। काबुल से कुछ दूर हट कर एक निर्जन पहाड़ी अञ्चल में उनका चित्त रम गया। यहाँ लगभग डेढ़ साल तक उन्होंने ध्यान-भजन में समय लगाया।

इस हिन्दू योगी की ख्याति वहाँ शीघ्र ही चारो ओर फैल गई। दूर देहातों से आ-आ कर अफगानी लोग उनके दर्शन के लिए जुटने लगे। अखरोट, बादाम, किसमिस आदि बड़ी श्रद्धा से वहाँ के लोग भेंट चढ़ाने लगे। और वहाँ के दुःख में पड़े ग्रामवासी लोग इनकी करुणाधारा से तृप्त होते। कोई योगी के पास बीमारी छुड़ाने का दुआ माँगने आता तो कोई और दुःख-तकलीफ से रिहा चाहता। उनलोगों की मुराद पूरी भी होती। किन्तु जन-संपर्क को बढ़ते जाने के कारण हंसबाबा के साधन भजन में विघ्न पड़ने लगा।

फलतः एक दिन वह हठात् उस स्थान को छोड़कर निकल आये।

लम्बी राह तय करने के बाद फिर वह हिमालय आ गये। नागाधिराज हिमालय और पवित्र नर्मदा का किनारा हँसबाबा के लिए बड़े ही प्रिय स्थान थे। इन दोनों स्थानों में अधिक काल उन्हें गंभीर तपस्या में लीन रहते देखा जाता।

उस बार कुछ दिन तक तराई अञ्चल में वह परिव्राजन कर रहे थे। इस स्थान में बाघ का बड़ा उपद्रव था। उस दिन ध्यान-भजन के बाद हंसबाबा ने जब खिड़की खोली तो देखा कि एक नरभक्षी बाघ आँगन में आकर बैठा है। उसे मनुष गंध लग चुकी थी, इसलिए चुपचाप बैठकर प्रतीक्षा कर रहा है कि कब उसका शिकार घर से बाहर निकल कर आँगन में पाँव रखता है।

घर के जंगले के पास एक साधु है जिसके हाथ में कोई हथियार नहीं और बाहर आँखें गुड़रता बैठा है हिंस बाघ। वह एक अद्भुत दृश्य है।

हंसबाबा ने सोचा, जिस परमात्मा का ध्यान उनके अन्तर में चल रहा है, इस बाघ की प्राण-शक्ति में भी उसी का अनुकर्षण जारी है। फिर दोनों में भेद-भाव कहाँ? मन में विचार आते ही उन्होंने सहसा कुटीर का द्वार खोल दिया। सामने बैठा था वह विकराल बाघ अपनी शान में, उसकी दोनों आँखों से जैसे चिनगारियाँ निकल रही है।

हंसबाबा आगे बढ़कर दोनों हाथ जोड़ लिए और कहा, "महात्मन्, हमारे और आप के भीतर तो वास्तव में कोई भेद नहीं है। एक ही परमात्मा दो भिन्न शरीरों में स्पन्दित हो रहे हैं। फिर हम दोनों के बीच वैर-भावना रहे, इसक तो कोई कारण नहीं?"

मानवीय भाषा में कहे गये इस उच्च दार्शनिक तत्थ को बाघ ने समझ पाया या नहीं, कौन कह सकता है ? पर देखा गया कि नर-मांस का लोभ छोड़ कर तत्क्षण एक शान्त शिष्ट पालतू घरेलू शशु के समान वह उस स्थान से धीरे-धीरे चल दिया।

और एक बार की बात है। संन्यासियों की एक छोटी जमात के साथ हंसबाबा मध्य प्रदेश के घने जंगल से होकर रास्ता तय कर रहे थे। हठात् एक बड़े आकार-प्रकार का बाघ दिखाई पड़ा। वन भूमि को कंपित करते हुए वह बार-बार गर्जन करता और रोष भरी आँखों से घूर रहा था।

इस समय दल का एक वृद्ध संन्यासी बिलकुल निडर होकर वेफिक्री के साथ बाघ के सामने जाकर खड़ा हो गया और कहा, "भाई रे, शान्त रहना। यह देख, तेरे खाने के लिए मैंने अपने को तेरे आगे उत्सर्ग कर दिया है। मैं बूढ़ा हो चला, अब कितने दिन जीने के शेष रह गये हैं ? मुझे ग्रहण कर ले और मेरे इन संगी साथियों को छोड़ दे।"

न मालूम कैसे बाघ ने सहज प्राप्त इस शिकार को ग्रहण नहीं किया। उसका रोष में आकर गुर्राना धीरे-धीरे मंद पड़ गया। कुछ क्षणों के बाद उस वृद्ध संन्यासी की ओर एक नजर देखकर, माथा झुकाये जंगल की ओर कहीं चला गया।

ईश्वरीय कृपा और आत्मसमर्पण की दीप्ति से उज्ज्वल हंसबाबा के परि-व्राजन-जीवन की यह एक उल्लेखनीय घटना है।

उस बार वह संन्यासियों को साथ लेकर घूमने-फिरने कामाख्या पहाड़ पर पहुँचे। दिन भर लम्बी राह तय करनी पड़ी थी और उस पर यह पहाड़ी की चढ़ाई। सभी के अंग-अंग टूट रहे थे। फिर भी रात्रि को देवी के दर्शन कर लेने के बाद लौटकर ही जो थोड़ा फलमूल मिला उसीसे उनलोगों

का भोजन संपन्न हुआ। उसके बाद पेड़ के नीचे वे सब जा लेटे।

उस दिन की एक कौतूहलपूर्ण घटना का वर्णन हंसबाबा अपने भक्तों के आगे बड़ी सरसता से करते—

'हमलोग वहाँ सो नहीं पाये थे तभी हिंस्र बाघ वहाँ आकर खड़ा हो गया।'

उन दिनों इस इलाके में बाघ का बहुत उपद्रव था। बिना आग जलाये कोई बाहर नहीं सो सकता था। हमारे सभी साथी रास्ते की थकावट से चूर थे। आग जलाने की किसी को सुधि न रही, कंबल ओढ़कर सभी सो पड़े थे। ऐसे ही समय में एक बाघ बड़ी गंभीरता से हमलोगों की शय्या के समीप दाव लगाकर बैठ गया था। चुपचाप इधर-उधर आँखें घुमाता गौर से जैसे कुछ लक्ष्य कर रहा हो।

"साथियों में से किसी की दृष्टि हठात् उस विशालकाय बाघ पर जा पड़ी। बड़े जोर से दल के मुखिया संन्यासी को उसने चिल्लाकर कहा, "महाराज, जरा एक बार उठकर देखिये तो। एक शेर आ पहुँचा है। एक दम जमात के बीच घुस आया है।"

"वह प्रधान संन्यासी तत्काल कंबल ओढ़कर नींद लेने का उपक्रम कर ही रहे थे। सोये हुए ही उन्होंने कौतुक भाव से कहा, "आने दो भाई, उनके साथ बातचीत करने की अभी फुरसत नहीं है। अभी जमात में ही उनको भर्ती कर लो।"

"दलपति संन्यासी निश्चित होकर आराम से करवट लेते हुए सो रहे। हम लोग सभी चित्र-लिखित से ज्यों-के-त्यों लेटे रहे। हठात् न मालूम कैसे, बाघ को भी सुबुद्धि आई। एक छलांग में सामने के एक गड्डे को पार करता हुआ वह बाघ कहीं अदृश्य हो गया। हमलोगों के भीतर किसी के मन में बाघ को ले कर कोई चंचलता-अधीरता नहीं देखी गई। थोड़ी देर में खर्राटे लेते हुए सभी नींद में डूब गये।

'परिव्राजन के समय गुरु-शक्ति और आत्म-समर्पण की भावना इसी प्रकार बराबर हमलोगों की रक्षा करती और हमलोगों में आध्यात्मिक जीवन की नूतन प्रेरणा भरती रहती। इस प्रकार परमात्मा की अलौकिक शक्ति के ऊपर हम लोगों का विश्वास दिन-दिन अटूट होता गया।"

हिमालय की तराई में हंसबाबा उस बार पर्यटन को निकले थे। इस समय एक उच्चपदस्थ, सरकारी कर्मचारी उनका भक्त हो चला। वन-जंगल, धूप-वर्षा कुछ भी हो, बाबा घूमते रहते, छाँव-आच्छादन के अभाव में उनको बहुत कष्ट होता होगा—यह बात सोचकर भक्त को कहना पड़ा, 'महाराज, मैंने आपके लिए एक सरकारी तंबू की व्यवस्था कर दी है। जितने दिन आप इस इलाके में परिभ्रमण करें, इसको आप व्यवहार में लाते रहें। यहाँ से जाने के समय इसे आप लौटा दें, इसमें कोई क्षति नहीं।'

"नहीं बाबा मैं जंगली आदमी ठहरा। जब इच्छा हुई जंगल-झाड़ी कहीं ठहर गया, दिन गमाया। यह सरकारी तंबू कहीं भुला जाय तो एक आफत खड़ी होगी। इससे मेरा काम नहीं चलने का।" हंसबाबा ने उत्तर दिया।

"इसके लिए आपको चिंता नहीं करनी होगी, महाराज! मैं अप अन्दर के आदमी को आपके साथ लगा देता हूँ। वह हमेशा आपके साथ रहेगा और इस तंबू की देखभाल रखेगा! आपको मेरी यह सेवा-व्यवस्था अंगीकार करनी होगी। नहीं तो सब काम-धाम छोड़कर मुझे ही आपके साथ चलना पड़ेगा।"

इस प्रेम भरे आग्रह को टालना कठिन था। हंसबाबा को विवश होकर यह सरकारी तंबू स्वीकार करना पड़ा। चौकीदार भी साथ गया।

बाबा रात के समय अपने सोने के घर में किसी को फटकने नहीं देते। कारण, निशीथ रात्रि में वह अनेक प्रकार की योग क्रिया करते। इस बार इस सरकारी पहरेदार को लेकर वह बड़ी विपत्ति में पड़े। वह व्यक्ति रात में किसी प्रकार तंबू के बाहर रहने को राजी नहीं होता। कारण उसे मालूम था कि रात के समय यह जंगली प्रदेश हिंस्र पशुओं से भरा रहता है।

अगत्या हंसबाबा को अपने सोने की व्यवस्था में उलट-फेर करनी पड़ी। अब से चौकीदार को ही तंबू के भीतर सोने के लिए छोड़ दिया और खुद पहले की तरह पेड़ के तले सोने लगे।

इस अंचल में परिभ्रमण पूरा कर जब वह अपने उक्त भक्त कर्मचारी के निकट लौटकर आये तो भी उस समय यह बात उन्होंने प्रकट नहीं होने दी। कारण स्पष्ट था, यदि बात खुल जाती तो तंबू-रक्षक की रक्षा कठिन थी। मानवीय प्रेम की यह भावना हंसबाबा के जीवन में बराबर पाई जाती।

एक-एक कर पूरे बारह साल हंसबाबा ने परिव्राजन में बिताये। उसी के साथ चरम कृच्छ्रव्रत और वैराग्यमय तपस्या का उद्यापन उन्होंने संपन्न किया।

इसके बाद स्वामी हीरानन्द अवधूत के पास वह लौटकर आये। इस बार गुरु के पावन सान्निध्य में रहकर उन्होंने ब्रह्मसाधना का अभ्यास सम्पन्न किया। उनकी साधन-सत्ता में परमात्मबोध स्फुटित हो उठा।

स्वामी हीरानन्द ने कहा, "वत्स, तुम अब आप्तकाम हो चुके। सर्व-पाशविमुक्त होकर तुम अब अवधूत हो। इस बार बंधन में पड़े जीवों के कल्याण की साधना में तुम्हें कुछ काम करना होगा। अब तुम आचार्य-जीवन आरम्भ करो।"

गुरु के चरणों की धूली लेकर हंसबाबा बाहर निकले इसके बाद कई वर्षों तक अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए संथाल परगना के जसीडीह में आकर उन्होंने साधनाश्रम की स्थापना की।

दूर दिगंत में मस्तक उठाये हुए त्रिकूट पहाड़ खड़ा है, तपोवन और दिग्रिया पहाड़ी की शृंग-परंपरा दिखाई देती है। और कुछ दूर पर आकाश के वक्षःस्थल को तरंगित करती हुई परेशनाथ पर्वतमाला की धुँधली रेखाएँ चित्रित हैं। इसी पृष्ठभूमि में जसीडीह के एक भाग में एक छोटी पहाड़ी की चोटी पर हंसबाबा का आश्रम स्थापित है। यहाँ के एकांत वातावरण में बैठकर इस ज्ञानतपस्वी के साधन-जीवन की कल्याणधारा फूट निकली। भक्त लोगों ने बड़ी श्रद्धा के साथ इस आश्रम का नाम रखा—कैलास।

साल में कुछ महीने हंसबाबा यहीं वास करते और शेष समय नर्मदा नदी के किनारे एकांत पर्णकुटी में बिताते थे

पहले तो आश्रम एक कच्चे घर के सिवा और कुछ नहीं था। बाबा किसी के साथ एक कुटी में रात्रिवास नहीं करते थे, कभी कोई साधु-संन्यासी या अतिथि-अभ्यागत आ जाते तो उनके लिए स्वयं ही अपने कुटीर को खाली ककर देते। और आँगन में ही बड़े आनन्द से रात काट लेते।

रसोई-घर तैयार करने का तब तक कोई प्रबन्ध नहीं किया जा सका था, इसीसे बाबा की रसोई खुली जगह में बनती। जब-जब झड़ी-बदली लगती तो उसके मारे चूल्हे में आग जलाना संभव नहीं होता। उस दिन रसोई बिलकुल बंद रहती। बाबा का वह दिन उपवास में ही कटता।

एक बार बरसात के समय आश्रम की कुटी का छप्पर बिलकुल चूने लगा। आश्रम के सारे सामान भींग गये। सारी रात एक छाते के नीचे

सर रखे बाबा निरुद्वेग भाग से बैठे रह गये। इस प्रकार उन्होंने रात काटकर भोर किया।

दूसरे दिन एक भक्त महिला वहाँ पहुँची और उसने बाबा से पूछा, "अच्छा बाबा, यह कैसी बात है, कहिये तो सारी रात आपने बैठे-बैठे बिताई! इतने धनी भक्त आपके निकट आते-जाते रहते हैं, उनसे एक बार सिर्फ कह देने से आश्रम के लिए एक पक्का मकान खड़ा हो जा सकता है। तब फिर आपको इस प्रकार दिन पर दिन इतना कष्ट नहीं काटना पड़ेगा।"

महापुरुष ने उत्तर में कहा, "क्यों माँ, मैंने तो बड़े आनन्द से जगे रहकर रात बिताई है। मेघ-वर्षा ने मेरा क्या बिगाड़ रखा है। हाँ, मेरे शरीर को कुछ कष्ट हुआ हो किन्तु मैं तो अब शरीर मात्र नहीं रहा।"

इसके बाद और क्या बात चल पाती? भक्त महिला निरुत्तर हो गई और इस आत्मज्ञानी महातपस्वी की ओर देखती रह गई।

आश्रम की यह दुरवस्था और अधिक दिन तक नहीं रह पाई। कुछ वर्षों के भीतर ही भक्त लोगों के अत्यन्त आग्रह के कारण एक दोमहला मकान और पक्का कुआँ इस पहाड़ पर प्रस्तुत हो गया।

कैलास पहाड़ पर पहले सांप बहुत रहते थे। उस समय एक ब्रह्मचारी हंसबाबा के आश्रम में रहा करते थे। साधन-भजन में उनकी अत्यन्त निष्ठा थी, कुछ ही दिनों में बाबा के वह प्रियपात्र बन गये।

रोज रात्रि-शेष में ब्रह्मचारी बिछावन छोड़ देता। स्नान एवं संध्या-तर्पण कर चुकने के बाद जप-तप एवं ध्यान में मग्न हो जाता। उस दिन रात रहते ही वह एक मील दूर कुतुनिया नदी में स्नान करने के लिए चल दिया। पहाड़ से वह आधा रास्ता ही उतर पाया था कि उसके कान में हंसबाबा की सुगंभीर कंठध्वनि सुनाई पड़ी, "ब्रह्मचारी, होशियार!"

ब्रह्मचारी तुरत ठिठक कर खड़े हो गये। नीचे धरती पर नजर डालते ही उसने देखा, एक बड़ा विशाल विषधर सर्प फण काढ़कर सामने बैठा है। क्रोध में आकर फोकों शब्द कर रहा है।

हाथ में जो डंडा था उसे उठाकर साँप के मस्तक पर वह जोर का आघात करना ही चाहता था कि उसी समय एक नेपथ्यवाणी सुनाई पड़ी, "अरे! उसे मारना नहीं।"

हाथ की लाठी हाथ में ही रह गई। ब्रह्मचारी प्रस्तर-मूर्ति की तरह निश्चल वहीं खड़ा रह गया। एक क्षण के बाद ही उसने आश्चर्य से देखा कि सर्प की वह उत्तेजना अब बिलकुल नहीं रही। फण झुकाकर धीरे-धीरे पास के एक गड्ढे में जाकर अदृश्य हो गया।

पहाड़ के जंगल भरे रास्ते में दिन के समय भी साँप को लोग देख नहीं पाते थे। अथच दूर पर्वत-शिखर पर बैठे-बैठे ही किस प्रकार हंसबाबा ने उसे लक्ष्य कर लिया, यह विस्मयजनक घटना थी। दूसरे दिन इस विषय को लेकर जब हंसबाबा से उसने पूछा तो उन्होंने इतना ही संक्षेप में उत्तर दिया, "हम क्या जानें, यह सब परमात्मा की इच्छा है।"

इस तरह सहज निर्लिप्त भाव से हंसबाबा अपनी अलौकिक विभूतियों एवं ऐश्वर्य-सिद्धियों को वहन करते चलते जाते।

एक भक्त ने उस दिन उनसे जिज्ञासा की, "बाबा, यह तो जंगली भूमि है। इसमें इतने साँप-बाघ बसते हैं; फिर भी आपने यही इनके बीच, क्यों अपना वास-स्थल बनाया है? क्या आपको कुछ भय-डर नहीं होता?"

महापुरुष ने हँसते हुए उत्तर दिया, "वत्स, साँप, बाघ और साधु—ये ही

तो वन के असली अधिवासी हैं। फिर हमलोगों को भय करने की बात ही कैसे उठती है।"

कैलाश पहाड़ पर स्थित इस आश्रम में हंसबाबा को केन्द्रित कर धीरे-धीरे भक्त शिष्यों की एक वृहत् मंडली जुट गई। फिर तो क्रमशः आधि-व्याधि-पीड़ित आर्त लोगों की भीड़ उमड़ने लगी। हंसबाबा स्वयं आयुर्वेदशास्त्र के मर्मज्ञ पंडित थे ही। उस पर था उनका निजी योगशक्ति का प्रभाव। फलतः उनके आश्रम में झुंड के झुंड रोगी दूर-दूर से आकर उपस्थित होते। अधिकांश में वे सभी रोग से छुटकारा पाते। इस तरह अपने आश्रम में रहते हुए सुदीर्घ अवधि तक हंसबाबा इस कल्याणव्रत का उद्यापन करते रहे।

दिव्यकान्ति, आनन्द मूर्ति इन महापुरुष के चतुर्दिक् आशा, आश्वासन एवं आनन्द का वितान तना रहता। उनके श्रीमुख से निःसृत 'हरिहर' की नामध्वनि श्रोताओं पर शान्ति एवं अमृत बरसाती रहती। आगन्तुक लोग जब जब प्रणाम निवेदन करते, बाबा के मुख से 'हरिहर' शब्द निकलता। इस ध्वनि को सुनते ही भक्तों के प्राणों में अपूर्व उद्दीपना भर जाती।

जब कभी कोई आनन्दभरा मंगल-संवाद घोषित करता तो बाबा कहते कि 'ओह! हरिहर में मशगूल हो गया।' किसी की मृत्यु खबर सुनते तो कह उठते कि "उसको हरिहर हो गया।"

हंसबाबा की ऋद्धि-सिद्धि का एक विशेष प्रकाश देखा जाता कुंभ मेले के उनके अपने अखाड़े में। मेले के मैदान में निर्वाणी साधु की गैरिक पताका फहराते हुए वे अपनी महिमा से मंडित वहाँ जा विराजते। बस, दल के दल उनके बंगाली, गुजराती, मराठी आदि विविध देश-खंड के शिष्य भक्त उमड़ आते। और भी ज्ञात-अज्ञात अभ्यागत साधु-संन्यासियों की भीड़ जुट जाती। वहाँ नित्य भंडारे का आयोजन होता। 'दीयती भुज्यताम्' का महामहोत्सव लगातार चालू रहता।

साधु-संन्यासी लोग अखाड़े में भिक्षा के लिए जभी पहुँचते महापुरुष आगवानी के लिए स्वयं प्रस्तुत रहते। और 'आओ मेरे नारायण', आओ मेरे प्राण' कहकर उन्हें बड़े आदर-सम्मान के साथ ले आते। प्रत्येक पंहति में हजार-हजार पत्ते परोसे जाते। रुपये-पैसे कहाँ से पहुँच जाते, इतने जन-समूह के लिए आँटे, मैदे, घी-चीनी सब कहाँ से जुटाये जाते, इतनी शृंखलाबद्ध व्यवस्था किस तरह सम्पन्न हो पाती, इतना विराट् दायित्व भरा आयोजन किस कौशल से निभ जाता—लोगों के लिए यह विस्मयजनक घटना थी !

कोई-कोई भक्त कह भी उठता, "बाबा, आप कभी कुछ जमा नहीं करते, फिर अपने अखाड़े में इतने लोगों को भंडारा कैसे जिमा पाते हैं, कुछ समझ में नहीं आता। यह तो निश्चय ही बाबा की अपनी योग-विभूति का प्रभाव है।"

हंसबाबा हँसते हुए उत्तर देते, 'देखो, यहाँ तो जो कुछ चलता है परमात्मा की इच्छा से ही।"

साथ-साथ महापुरुष अपने इस प्रिय दोहे को बराबर गुनगुन गाने लगते—

"साईं सब को देत है, पोसत है दिन-रैन।
लोक नाम मेरे कहै ताते नीचे नैन॥"

अर्थात् परमेश्वर ही सबका पोषण करता है, फिर भी लोग घोषित करते हैं कि मैं ही दाता हूँ। इसी से मेरी आँखें संकोच से झुकी हैं।

हरिहर, नासिक, प्रयाग प्रभृति स्थानों में कुंभ पर्व के समय हंसबाबा के अखाड़े में बहुत से प्रवीण एवं शक्तिधर संन्यासियों का समागम होता। वे सभी हंसबाबा अवधूत को विशेष समादर की दृष्टि से देखते तथा ब्रह्मज्ञानी की पद-मर्यादा इन्हें प्रदान करते।

जमीडीह पहाड़ी पर स्थित हंसबाबा का आश्रम जन कोलाहल से दूर था। तरंगहीन महाजीवन की धारा इस एकांत-शांत आश्रम में प्रवहमान थी।

प्रतिदिन संध्या के समय इस पुण्य स्थान में एक मिलन दृश्य देखने को मिलता। मुमुक्षु भक्तगण इस स्थान में आकर एकत्र होते, बाबा के श्रीमुख से निःसृत वाणी को श्रवण कर कृतार्थ होते। भक्त लोगों के आध्यात्मिक कल्याण के लिए बाबा को स्वयं भी असीम व्यग्रता रहती। जटिल तत्वों की व्याख्या अपूर्व कौशल के साथ यह महाज्ञानी तपस्वी किया करते। मनोरम आख्यायिकाओं के माध्यम से वेदांत के निगूढतम तत्वों को बड़ी सरलता से समझाया करते।

संध्या की अस्तकालीन राग-रक्तिमा नीले-नीले आकाश को रक्त-रंजित करती, पहाड़ी शिखर-शिलाओं में रंग भरती जाती। हंसबाबा की गौरकान्ति अनिन्द्यसुन्दर अंग-छवि जब इस सांध्य राग से अनुरंजित हो उठती तो भक्त-गण एक-एक कर अभिवादन के लिए प्रणाम निवेदन करते और साथ ही इन आत्मज्ञानी साधक के कंठ से यह उद्दीपनामयी वाणी निःसृत होती—

"शिवोऽहम्, शुद्धोऽहम् निरञ्जनोहम् निर्विकारोऽह।"

संपूर्ण कैलास पहाड़ की परिधि में शिवकल्प इस महापुरुष की वाणी तरंगित हो उठती। विस्मय-मुग्ध होकर अपलक दृष्टि से भक्त एवं दर्शनार्थी उनकी ओर उन्मुख निहारते।

त्रितापक्लिष्ट जीवन को लेकर जो समस्याएँ लोगों के मन को क्वथित करती रहती; जीवन की जो गुत्थियाँ सुलझ नहीं पाती वे सब बाबा के आगे निवेदन की जातीं। और ज्ञानमूर्ति महासाधक का एक-एक ज्ञानगर्भ वाक्य, एक-एक कथा-आख्यायिका, एक-एक दोहा एवं श्लोक का उद्धरण जिज्ञासुओं के संशय का निवारण करता जाता।

एक बार एक जिज्ञासु भक्त ने उनसे प्रश्न किया, "बाबा, हम लोगों के निस्तार का, मुक्ति का मार्ग कौन-सा है—इसे समझाने की कृपा करें।"

महापुरुष ने प्रशांत कंठ से उत्तर दिया—"देखो, मानव की इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। विचार और संयम के बिना इनका दमन करना कदापि संभव नहीं। मनुष्येतर प्राणियों की ओर दृष्टि डालने पर स्पष्ट होगा कि पतंग, कुरंग, मातंग, भृंग और मीन—ये सब केवल किसी एक ही विषय में आसक्त हैं और उसी के कारण इनमें प्रत्येक को मृत्यु का शिकार बनना पड़ता है। पतंग के नाश का कारण है उसका रूप ग्राही चक्षु, जिससे वह दीपशिखा की रूपज्वाला में जलकर भस्म हो जाता है। मृग को मृत्युजाल में फँसाने के लिए उसकी कर्णेन्द्रिय ही कारण रहती है जो उसे बंशी ध्वनि सुनने को विवशकर व्याध के शर का शिकार बनाती हैं। हाथी स्पर्शेन्द्रिय की दुर्बलता से छलनामयी हथिनी की ओर अग्रसर होकर जाल में जा फँसता है। भृंग पुष्प की रस-गंध पर विमुग्ध होकर सर्वस्व गँवा देता है और मछली रसना के आवेश में आकर बंसी बिंध जाती है। इन सब जीवों का विनाश केवल एक-एक इन्द्रिय के असंयम के कारण होता है। फिर सोचकर देखो तो, जो मानव समष्टि रूप से इन पाँचो इन्द्रियों का गुलाम है उसकी विपत्ति की सीमा कहाँ? पाँचों की पाँचो इन्द्रियाँ अपनी-अपनी ओर खीचती ढकेलती उसे विनाश के गर्त में गिराती रहती हैं। फिर भी विषय-मुक्ति के उपाय भी है—दुर्गम विषयों से निकलने का रास्ता बंद नहीं है। भगवान ने उसे विचार की शक्ति दी है और संयम का पथ प्रशस्त किया है।

एक भक्त ने उस दिन निवेदन किया, "महाराज, हमलोग ठहरे संसारी जीव, दिन-रात झंझटों में उलझे रहना पड़ता है। मुक्ति के लिए साधन-भजन करें, उसके लिए समय-सुविधा कहाँ। संसार के झमेले छूटे नहीं, एकचित्त हो आसन न लगा सके, तो फिर भगवान की गुहार कैसे कर पायें?"

"अच्छा बाबा, जो कोई समुद्र में स्नान के लिए जाता है वह किनारे बैठे-बैठे क्या इस गुनधुन में कभी लगा रहता है कि पहले समुद्र तरंगशून्य हो जाय तभी मैं स्नान के लिए उतरूँगा ? संसार का कोलाहल पहले थम जाय तब मैं साधन-भजन करूँगा—यदि ऐसा सोचते रहो तो कभी मुक्ति का प्रयास चलनेवाला नहीं। जितना ही बन सके इसी क्षण से काम शुरू करना होगा।"

हंसबाबा उस दिन भक्त एवं शिष्यों को लेकर इष्टगोष्ठी में थे। प्रसंग-वश कर्म और प्रारब्ध को लेकर तत्व चर्चा चली। उन्होंने कहा, "कर्म तीन प्रकार के होते हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म का अर्थ है—जीव ने जन्म-जन्म में जो कर्म किये हैं उनकी समष्टि, अर्थात जो कर्मफल जीव के भोग केलिए जमा है। और प्रारब्ध का अभिप्राय इन संचित कर्मफलों में उस अंश से ही है जो जीव को वर्तमान जीवन-काल में भोगना पड़ेगा।"

बाबा कह रहे थे—"प्रारब्ध-भोग के लिए ही जीव को देह धारण करना पड़ा है, उसे जन्म लेना पड़ा है। संचित कर्म से जो अंश जीव के भोग के निमित्त उपस्थित है वही हुआ प्रारब्ध। यही प्रारब्ध कभी सम्पत्ति और विपत्ति रूप में दिखाई पड़ता है।

फिर इस तत्व को प्रांजल करते हुए कहते गये, "यदि किसी भंडारघर में बहुत से पदार्थ जमा कर रखे गये हैं और प्रयोजन के अनुसार संचित भंडार से कुछ अंश व्यवहार में लाया जाय तो वह भोग में लाई गई द्रव्यराशि ही प्रारब्ध कही जायगी। और जो भंडार में जमा है वही है संचित कर्मफल। यह प्रारब्ध बड़ा ही बलवान् है।"

"तब क्या इस प्रारब्ध कर्म से हमारा परित्राण संभव नहीं है बाबा !' एक जिज्ञासु भक्त ने प्रश्न किया।

"प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्मफल भोगना ही पड़ेगा, यह बात सत्य है। किन्तु मध्याह्न की कड़ी धूप से संतप्त कोई राही जैसे छाता तानकर कुछ सहूलियत पा लेता है उसी प्रकार यदि कोई भगवान के चरण की छाया का आश्रय ले तो कठोर प्रारब्ध की तीव्रता भी बहुत कुछ शान्त हो जाती है।"

"और क्रियमाण कर्म का तात्पर्य क्या है बाबा ?"

"वर्तमान जीवन में जीव जो सब कर्म करता जाता है वही उसका क्रियमाण कर्म है। पहले बता चुका हूँ कि प्रारब्ध अत्यन्त बलवान है किन्तु यदि कोई एकान्त भाव से भगवान की शरण ले तो प्रारब्ध की प्रचंडता इस कर्म के प्रभाव से बहुत कुछ मृदु हो जाती है। उसी प्रकार जीव का संचित कर्मफल क्रियमाण कर्म द्वारा लघु किया जा सकता है। प्रारब्ध पूर्व-जन्मों के कर्म का ही तो फल है। इस जन्म के सत्कर्म एवं पुरुषार्थ द्वारा उसका कुछ तो परिवर्तन किया ही जा सकता है।"

"हाँ तो बाबा, इस जन्म के क्रियमाण कर्म का फल किस प्रकार विनष्ट किया जा सकता है ?"

"ज्ञान द्वारा ! "ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।'

जीव के कर्म एवं प्रारब्ध के सम्बन्ध में और एक दिन महापुरुष ने अपने भक्तों से वार्ताप्रसंग में कहा था "प्रत्येक कर्म से दो प्रकार के फल उत्पन्न होते हैं एवं उन्हीं से हमारा भाग्य निर्मित होता है। नीच कर्म से नीच वासना की सृष्टि होती है और उच्च कर्म एवं साधुसंग से उच्च वासना जमती है। इन्हीं वासनाओं से प्रारब्ध सूचित होते एवं कर्मफलानुसारी भाग्य पर जन्म में गठित होते। बिना योग किये प्रारब्ध का क्षय नहीं होता। "प्रारब्ध कर्मणां भोगा-

देव क्षयः'। जिस प्रकार पूर्वजन्म में अर्जित प्रारब्ध जिस भाव से इस जन्म में सूचित हुआ है उसका भी कोई परिवर्तन संभव नहीं—"

"याग यज्ञ शान्ति स्वस्त्ययन से भी क्या भाग्य नहीं बदला जा सकता।"

"बच्चे, ऐसा नहीं होता। जिसने कुत्ते के रूप में जन्म लिया है वह कुत्ता ही रहेगा, इस जन्म में उसका मनुष्य बनना संभव नहीं। तब हाँ, कोई कुत्ता धनी की गोद में बैठता है, सुख और स्नेह से लालित पालित होता है तो कोई मारा-मारा फिरता, भूखा-सूखा दर-दर ठोकर खाता फिरता है।"

"फिर लोग शान्ति स्वस्त्ययन करते क्यों हैं?"

"याग-यज्ञ के द्वारा क्रियमाण पाप का नाश होता है। जैसे गरिष्ठ भोजन करने पर कोई बीमार पड़ता है, और चिकित्सक की औषधि के सेवन से रोग मुक्त हो जाता है वैसे ही भगवन्नाम द्वारा क्रियमाण पाप नष्ट होता और शुभ वासना सृष्ट होती। प्रारब्ध का फल भी कुछ मृदु होता है। यह सदा स्मरण रखना, वासना ही बन्धन का कारण और दुःख का मूल है। वासना के नाश होने पर जन्म नहीं लेना पड़ता।"

"बाबा, जीव तो क्लेश पाता है तृष्णा के कारण। किन्तु उसकी यह तृष्णा दूर कैसे होती है?"

"तत्त्व-विचार द्वारा—वैराग्य द्वारा।"

ज्ञानयोगी वह महान् साधक बहुधा कहते, "मनुष्य के अन्तर में सच्चिदानन्द चिरविराजमान रहते हैं। वह सकल आनन्द के उत्स हैं। इस उत्स को खोज निकालना होगा। किन्तु उसका उपाय? अविद्याजन्य मोह को दूर कर, स्थिरभाव से विचार करते हुए, उस उत्स पथ की खोज में लगना पड़ेगा।

विचार-बुद्धि के प्रयोग की बात समझाते हुए हंसबावा ने एक सुन्दर आख्यायिका का उदाहरण दिया—

"स्नान करने के लिए एक महिला सरोवर में उतरी। उसका एक रत्न-हार वहीं किनारे छूट गया। एक कौआ चोंच में उस हार को लेकर उड़ा और घाट के किनारे एक पेड़ पर जा बैठा। चोंच से हार को देर तक कुरेदता रहा, पर कुछ स्वाद न पाकर, उसे अस्वाद्य समझकर वह निराश उड़ गया। और वह हार उसी डाल में उलझा-पुलझा लटका रह गया।

बाद में एक दूसरा व्यक्ति स्नान के लिए सरोवर पहुँचा। लटकते हार की प्रतिच्छाया पानी में पड़ती थी, स्नानार्थी की दृष्टि उस पर गई। उसने सोचा, जल के नीचे कोई हार है। फिर वह छानने-बीनने में लगा। सारा जल गँदला-गँदला और कूल-किनारा तक भिन्ना गया पर कुछ हाथ न आया। वह बेचारा निराश होकर चला गया।

फिर एक और स्नानार्थी आया। उसकी दृष्टि भी जल में प्रतिबिम्बित हार की छाया पर पड़ी। शान्त मस्तिष्क से उसने सोचा, जल के भीतर तो कोई हार नहीं, यह तो हार का प्रतिबिम्ब मात्र है। फिर असली हार है कहाँ? पेड़ पर गहरी नजर उसने डाली तो देखा, वह हार डाल में उलझा झूल रहा है। फिर तो वह अमूल्य वस्तु उसीके हाथ लगी। इसी प्रकार और विचार बुद्धि से परमात्मा को प्राप्त करना होता है"

एक मोक्षार्थी शिष्य ने एक बार खिन्न होकर हंसबाबा से कहा, "संसार की इस माया, मोह और कर्मजंजाल में हम लोग ऐसे जकड़े हैं कि भगवान की ओर मन लगाना संभव नहीं हो पाता। कृपा कर कोई उपाय कहा जाय।"

"देखो, बद्ध जीव का मन तो प्रवृत्ति की ओर दौड़ेगा ही। इसका

प्रतीकार तो तभी संभव होगा जब मन के लिए एक विकल्प खात की नूतन सृष्टि की जाय। उस खात के माध्यम से प्रवाहित करना होगा भगवदभिमुखी मन के प्रवाह को। इस नवीन खात में परिचालित प्रवाह तुम्हारे विषयाभिमुखी मन को क्रम से स्पंदनहीन करता जायगा। फिर मन अन्तर्मुखी होगा। और परमात्मा की ओर सहज से निविष्ट होता चलेगा। धीरे-धीरे इस पथ की साधना करते चलो। यही तो है साधक का ब्रह्माभ्यास या आत्मध्यान—

सतत ब्रह्म अभ्यास से मनविक्षेप को नाश।
ज्ञानदृढ़ निर्वासना जीवमुक्ति प्रतिभास।"

बाबा ने और कहा, "सदा इस अभ्यास को बलिष्ट बनाये रहो। इसके परिणामस्वरूप मन के मल का नाश होगा, मन वासना-शून्य होगा। इस पथ से ही जीव जीव-मुक्त होता और परा कोटि के ज्ञान का लाभ करता है।"

कैलाश पहाड़ के शिखर पर विराजमान इस ज्ञानमूर्त्ति महान् साधक के चरणों का आश्रय लेने देश-विदेश से आनेवाले अध्यात्म-रस-पिपासु आ जुटते, पूर्व एवं पश्चिम भारत के अनेकानेक धनी संपन्न भी पहुँचते रहते। इनमें कुछ तो हंसबाबा की आध्यात्मिक कृपा के अभ्यर्थी होते और अनेक रहते आते भक्त के रूप में। बहुत से व्यक्ति आग्रह-पूर्वक उनके आगे प्रस्ताव रखते—"बाबा का अभिमत हो तो हम इस कैलास पहाड़ पर एक विशाल मठ का निर्माण करें जिससे बाबा की इस साधना भूमि को एक विराट् साधन केन्द्र के रूप में परिणत करने को अवसर प्राप्त हो।"

महासाधक हंसते हुए उत्तर में कहते, "बेटा, मैं तो एक वैरागी हूँ, इस निर्जन पहाड़ी चोटी पर नंग-धरंग घूमता-फिरता हूँ, एकांत-शांत बैठता-उठता हूँ। और बहुधा जाकर नर्मदा के किनारे आश्रय ग्रहण करता हूँ। वह मन्दिर लेकर क्या करूँगा? और अर्थ से तो मुझे कोई प्रयोजन ही

नहीं। शाहंशाह होकर जो मैं बैठा हूँ। जानते हो यह दोहा—

चाह गई चिन्ता गई मन में नहीं प्रवाह।
जिस मन में सन्तोष है है वह शाहंशाह॥

जिसे कोई चाहना नहीं, चिन्ता नहीं, अंतर में जिसके संतोष विराजमान है, वही वास्तव में शाहंशाह,—राजाधिराज है।"

इसी शाहंशाह के रूप में इनको अधिष्ठित देखा जाता जसीडीह के पहाड़ पर, नर्मदा की सैकतराशि पर और कुंभमेला के जनारण्यमय परिसरभूमि पर।

दीर्घ जीवन की अध्यात्मलीला के अंतिम अंक में आकर इस ज्ञान-तपस्वी ने महाजीवन की यवनिका-पात का अभिनय रचा। १३६७ साल की ८वीं वैशाखी (१९६० ई०) के दिन को यह मर्मान्तिक दृश्य देखने को मिला। सहस्र-सहस्र भक्तों की मंडली को शोक-सागर में निमग्न छोड़कर जसीडीह के आश्रम में वे महासमाधि में निस्तरंग लीन हो गये।

निगमानन्द सरस्वती

स्वामी निगमानन्द

उस समय रात के आठ बज रहे थे। सुपरभाइजर नलिनी बाबू के दफ्तर के काम अभी समाप्त नहीं हुए थे। सामने जमींदारी सम्बन्धी बहुत-से कागज-पत्र बिखरे पड़े थे और एकाग्र मन से वे कई जटिल विषयों पर विचार कर रहे थे। सहसा घर की चिराग की रोशनी कुछ मंद हो गयी, बात क्या है? दृष्टि फेर कर उन्होंने आश्चर्य के साथ देखा कि उनकी पत्नी पास में पड़ी हुई मेज के सामने खड़ी हैं। किन्तु यह किस प्रकार संभव हो सकता है? लगभग तीन मास पूर्व उन्होंने अपनी पत्नी को बहुत दूर अपने गाँव में भेज दिया था। अकस्मात् वह यहाँ किस तरह आ जायगी? दूसरे ही क्षण उन्होंने अनुभव किया उनकी पत्नी सशरीर वहाँ उपस्थित नहीं हुई है, उसकी एक अशरीरी मूर्त्ति न जाने क्यों यहाँ प्रकट हुई है।

किन्तु यह छाया-मूर्त्ति उनके सामने इस रूप में आकर खड़ी क्यों होगी? उन्हें दृष्टि-विभ्रम तो नहीं हो रहा है? नलिनीकान्त ने आँखें बार-बार मलकर पुनः उस ओर अपनी दृष्टि निबद्ध की। उन्हें यदि दृष्टि-भ्रम हो गया है तो यह छाया-मूर्त्ति इस प्रकार स्थिर होकर क्यों रहेगी? उन्होंने तीक्ष्ण सतर्क दृष्टि से उस मूर्त्ति की ओर देखा और उन्हें ऐसा लगा कि वह मानों अत्यन्त विषण्ण हो रही है।

हठात् नलिनीकांत सचेतन हो उठे, उनके अंतर में एक अज्ञात भय की सिरहन दौड़ गयी। "तुम कौन हो, तुम कौन हो' कहकर वे जोर से चिल्ला

उठे। बगल के कमरे से नौकर दौड़ कर आया। दोनों ने मकान के हर कोने को खोज डाला, किन्तु कहीं कोई दिखायी नहीं पड़ा। छाया-मूर्त्ति इस बीच न मालूम कहाँ अदृश्य हो गयी।

नलिनीकांत का मन उस समय चिंता-सागर में डूबने-उतराने लगा। यह छाया-मूर्त्ति सचमुच क्या उनकी प्राण-प्रिय पत्नी का मृत्यु-संवाद लायी थी ! इधर कई दिनों में जो सब चिट्ठियाँ उन्हें मिली हैं उनमें किसी में इस दुःखद समाचार का उल्लेख नहीं था। जहाँ वह काम कर रहे थे उस स्थान का नाम नारायणपुर था, उत्तर बंगाल के दिनाजपुर जिला के अन्तर्गत। यहाँ से उनका गाँव नदिया जिलान्तर्गत कुतुबपुर काफी दूर है। चिट्ठी यहाँ पहुँचने से पहले, कोई दुर्घटना हो जा सकती है। नलिनीकांत बहुत उद्विग्न हो उठे। तो क्या उन्हें फौरन अपने गाँव के लिए चल पड़ना चाहिये ?

किन्तु यह भी तो संभव नहीं है। बहुत से अमीनों के काम की देखरेख का भार इस समय उनके ऊपर है। कर्म-कुशलता और ईमानदारी के कारण उनपर मालिकों का अगाध विश्वास था। सबसे बढ़कर इन्हीं पर वे भरोसा करते थे। ऐसी स्थिति में एकाएक काम छोड़कर चला जाना सर्वथा अनुचित होगा। इसके सिवा, बीस-बाइस दिनों के बाद ही तो दुर्गा पूजा है। सोचा, इस समय हाथ जो काम है उसे जल्द पूरा करके पूजा के समय कुछ अधिक दिनों की छुट्टी लेकर घर जाना अच्छा होगा।

दूसरे ही दिन डाक से उन्हें एक पत्र मिला, पत्नी बहुत बीमार है। समाचार पढ़कर वे अत्यन्त चिन्तित हुए। तो क्या इस बीच उनकी पत्नी की मृत्यु हो चुकी है और मृत्यु के बाद ही उस दिन उसकी छाया-मूर्त्ति एकाएक उस रूप में उन्हें दिखायी पड़ी थी ? किन्तु परलोक, पुनर्जन्म, आत्मा इत्यादि पर उनका बिलकुल विश्वास नहीं था। अपने मन को बार-बार आश्वासन देने लगे कि ऐसी कोई दुर्घटना घटित नहीं होगी।

नलिनीकांत अपनी पत्नी को बहुत प्यार करते थे। मन को चाहे जितना समझावें फिर भी दुश्चिन्ता की ज्वाला से निस्तार नहीं मिल रहा था। सारा कामकाज समाप्त करके वे अपने गाँव कुतुबपुर के लिए रवाना हुए। वहाँ पहुँचने पर सुना, प्रियतमा जीवन-संगिनी अब इस लोक में नहीं है। शोक से उनका मन मूर्च्छित हो गया।

प्रकृतिस्थ होने पर उन्होंने हिसाब करके देखा, अपने कर्मस्थल नारायणपुर में जिस समय उन्होंने पत्नी की छाया-मूर्ति देखी थी, उसके ठीक चार दंड पूर्व कुतुबपुर के घर में उसका शरीरान्त हुआ था। यह छायामूर्ति और भी दो बार उस समय उनके सम्मुख उपस्थित हुई थी। विरह-व्यथित नलिनीकांत के लिए अब किसी भी लौकिक वस्तु के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह गया। किन्तु परलोकवासिनी पत्नी के साथ साक्षात् के लिए, उसके साथ संपर्क-स्थापन के लिए उसका मन बहुत व्याकुल हो उठा। इस समय उन्होंने प्रेत-तत्व के सम्बन्ध में कितने ही ग्रन्थों का अध्ययन किया, मद्रास के अदायर स्थान में जाकर थियसफिस्टों की सहायता से प्रेत-लोक से सम्पर्क स्थापित किया तथा इसी तरह के अन्य कार्य किये। किन्तु इन सबसे मन को शान्ति नहीं मिली। मृत पत्नी के साथ पुनर्मिलन की व्यग्रता बढ़ती ही गयी।

नलिनीकांत अब परलोक एवं अलौकिक जगत् के तत्वों को लेकर उधेड़-बुन करने लग गये। उनकी यह व्यग्रता इतनी बढ़ गयी कि इसके लिए वे दिन-रात पागल की तरह चक्कर लगाने लगे। कौन उन्हें उस सूक्ष्म जगत् का संवाद ला देगा, प्रियतमा पत्नी के साथ उनका चिराकांक्षित संपर्क स्थापित करा देगा,—ऐसा शक्तिमान् पथ प्रदर्शक कहाँ मिलेगा ? यही चिन्ता उस समय उन्हें व्याकुल किये रहती थी।

इसी समय वे कलकत्ता आये और सहसा एक दिन उन्होंने स्वामी पूर्णानन्द परमहंस की चर्चा सुनी। ये महापुरुष संन्यास आश्रम के पूर्व डफ कालेज में विज्ञान विभाग के प्राध्यापक थे। तंत्र साधना में सिद्ध समझे जाने के कारण उस समय उनकी यथेष्ट प्रसिद्धि थी। नलिनीकान्त व्याकुल भाव से उनके पास दौड़ चले।

पूर्णानन्द स्वामी ने उनकी सारी बातों को सुनकर स्नेह मधुर कंठ से कहा, "वत्स, तुम अपनी मृत पत्नी को प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो रहे हो, किन्तु वह स्त्री और स्त्री मात्र ही तो आद्याशक्ति महामाया की छाया है। तुम छाया की खोज में जो साधना और शक्ति व्यय करना चाहते हो, उस साधना के बल पर ही महामाया को प्राप्त कर सकते हो। उस समय तुम्हें अनुभव होगा कि सब कुछ तुम्हारे करतल-गत है।"

महापुरुष की इस वाणी ने मानों उनके दग्ध प्राण को शान्ति-जल से सिक्त कर दिया। उन्होंने कातर भाव से निवेदन किया, परमहंस महाराज, मुझे दीक्षा प्रदान करने की कृपा करें। पूर्णानन्द स्वामी ने उत्तर दिया, "नहीं वत्स, मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ। तुम्हारे गुरु पहले से ही निर्दिष्ट हैं। समयानुसार तुम्हें उनसे साक्षात् होगा।"

अब गुरु की खोज में नलिनीकांत का मन अत्यन्त व्याकुल रहने लगा। चाहे जिस प्रकार हो सद्गुरु को तलाश कर उनसे दीक्षा ग्रहण करनी ही होगी। इस समय कर्म स्थल नारायणपुर में रहते हुए उन्हें एक विचित्र अलौकिक अनुभव प्राप्त हुआ।

उन्होंने स्वयं इस प्रसंग का एक सुन्दर विवरण दिया है, "वह एक आश्चर्य घटना थी! एक रात घर के अन्दर सोया हुआ हूँ, सारी खिड़कियाँ और दरवाजे बंद हैं। अभी गाढ़ी नींद नहीं आयी थी, तन्द्रा में था, इसी समय एक ज्योतिमय सौम्य मूर्त्ति महापुरुष ने मुझे पुकार कर कहा, '—लो

वत्स, यह मंत्र लो। तुम मंत्र-लाभ के लिए व्याकुल हो रहे हो; मैं तुम्हारे लिए यह मंत्र लाया हूँ, ग्रहण करो।' कितना गम्भीर वह स्वर था! मैंने हाथ फैलाकर उसे ग्रहण किया। महापुरुष की देह-ज्योति से उस समय अन्धकारपूर्ण गृह आलोकित हो रहा था। उस प्रकाश में स्पष्ट दिखायी पड़ रहा था—एक पत्ते पर कुछ लिखा हुआ है; पास में ही दियासलाई थी, फौरन जलाकर रोशनी में देखा। बेलपत्र पर रक्त चन्दन से लिखा हुआ एकाक्षरी एक मंत्र है। "यह कौन मंत्र है, किस प्रकार इसका जप करना होगा—यह जानने के लिए ज्यों ही मंत्र-दाता की ओर मुँह करके देखा, वे गायब। दिव्य मूर्त्ति अदृश्य हो गयी। घर के दरवाजे और खिड़कियाँ पहले की तरह बंद थीं। दरवाजा खोज कर सारे घर को छान डाला, कहीं नहीं मिले, मन खिन्न हो गया। घर के अन्दर आकर लेट गया और आकुल भाव से प्रार्थना करने लगा, आँखों से अविरल अश्रुपात होने लगा। मन में सोचने लगा—यह कौन सा स्वप्न था? नहीं—यदि स्वप्न होता तो यह बेलपत्र कहाँ से आया? और जब घर के दरवाजे बंद थे, तो किसी के लिए घर के अन्दर प्रवेश करना किस प्रकार संभव हो सकता था? मन में हुआ—मैंने क्या कोई अनुचित काम किया! उस समय बेलपत्र पर क्या लिखा है, इसे जानने के लिए व्याकुल होकर जिन्होंने मुझे बेलपत्र दिया उन्हें पकड़ क्यों नहीं रखा?"

घटना के वास्तविक अभिप्राय को न समझ कर नलिनीकांत का मन बहुत व्यग्र हो उठा। सोच-विचार के बाद मन में निश्चय किया, अच्छा हो एक बार काशी से हो आऊँ। वहाँ बहुत से साधु-महात्मा और सिद्ध पुरुष वास करते हैं, हो सकता है मंत्र-प्राप्ति के रहस्य का वहाँ पता चल जाये। इसलिए पहले वे काशी ही दौड़ चले। किन्तु कहीं उन्हें अपने प्रश्न का उत्तर नहीं मिला। उत्कंठा इतनी बढ़ गयी कि एक दिन आवेश में आकर उन्होंने निश्चय

किया, प्राप्त मंत्र के सम्बन्ध में प्रकृत निर्देश नहीं मिलने पर प्राण धारण करना व्यर्थ है। गंगा में कूद कर प्राण त्याग दूंगा।

उसी दिन आधी रात को उन्होंने एक विचित्र स्वप्न देखा। दिव्य कान्ति-शोभित एक ऋषिकल्प पुरुष उन्हें सम्बोधित करते हुए करुणा-पूर्ण वाणी में कह रहे हैं "वत्स, तुम गुरु की खोज में यहाँ-तहाँ भटकते हुए क्यों हैरान हो रहे हो? तुम्हारे गुरु तो तुम्हारे घर के पास ही हैं। वीरभूम जिला के तारापीठ में तुम जाओ, वहाँ जाकर महातांत्रिक वामाक्षेपा के शरणापन्न होओ, अभीष्ट लाभ का मार्ग निर्देश वही करेंगे।"

इस स्वप्नादेश ने नलिनीकांत के हृदय पर अमृत-प्रलेप का काम किया। शीघ्र ही तारापीठ पहुँच कर वे वामाक्षेपा के चरणों में उपस्थित हुए। तारामाई के सिद्ध साधक वामा का अमोघ आशीर्वाद उनके जीवन में रूपायित हो उठा। समर्थ तन्त्रसाधक स्वामी निगमानन्द के रूप में बाद में चल कर वे प्रसिद्ध हुए।

नदिया जिला के मोहरपुर अनुमण्डल के अन्तर्गत कुतुबपुर ग्राम है। इस ग्राम के एक धार्मिक एवं निष्ठावान ब्राह्मण के रूप में भुवनमोहन चट्टोपाध्याय परिचित थे। ये ही नलिनीकांत के पिता थे। जननी माणिकसुन्दरी मानों मूर्तिमती करुणा थी। आश्रयहीन सबों को आश्रय तथा भूखों को अन्न देने के लिए इन महीयसी महिला का द्वार सदा खुला रहता था। उस इलाके के सब लोगों को यह सब मालूम था कि कुतुबपुर के ब्राह्मण घर में एक बार जो भी उपस्थित हो कर इन करुणामयी की शरण में जायगा वह दो मुट्ठी अन्न से वंचित नहीं रहेगा।

१८७९ ई० की श्रावण पूर्णिमा का दिन। चारों ओर हर्ष-ध्वनि और आनन्दोच्छ्वास के बीच माणिक सुन्दरी के घर में

एक सुदर्शन शिशु पुत्र का जन्म हुआ। पिता-माता ने आदर के साथ उसका नाम रखा नलिनीकान्त।

बच्चा जब बड़ा हुआ, वह पड़ोसी के घरों में निरन्तर उत्पात करने लगा। किन्तु विद्यालय में सबक याद करने में उसकी मेधा-शक्ति को देखकर सब लोग विस्मित हुए बिना नहीं रहते। पूर्व-जन्म के सात्विक संस्कारों की झलक बीच-बीच में बालक के जीवन में दिखायी पड़ती, जिससे वह स्वयं भी अचंभे में पड़ जाता।

नालिनीकान्त उस समय बालक थे। एक दिन संध्या समय वह अपने घर के अन्तःपुर से बाहर पूजा-मण्डप में आ रहे थे। हाथ में एक जलता हुआ प्रदीप था। जिससे उन्हें मण्डप में दीप जलाना था। उस दिन मण्डप में प्रवेश करते ही उन्होंने जो दृश्य देखा उससे वे स्तम्भित हो गये। एकाएक न मालूम क्यों मेज के ऊपर एक स्थान में आग धधक उठी। इसके साथ ही इस अग्नि-मण्डल के बीच दश-भुजा भगवती की एक मूर्ति आविर्भूता हुई। इस अलौकिक दृश्य को देखकर बालक चकित हो गया। हाथ का प्रदीप भूमि पर फेंक कर वह दौड़ता हुआ माँ की गोद में जा बैठा।

बालक वयस में ही नलिनीकान्त को एक दिन एक और अद्भुत अनुभव प्राप्त हुआ। नलिनीकान्त बिछावन पर सोये हुए थे। आधी रात में एकाएक उनकी नींद टूट गयी। आँखें खोल कर देखा, सोने के कमरे से सटी हुई छत चाँदनी से भर गयी है। आश्चर्य ! अमावस्या की रात में यह चाँदनी कैसी ! बालक ने विपरीत दिशा में ताक कर देखा, उधर भी चन्द्रमा का प्रकाश फैल रहा था। बार-बार इधर-उधर दृष्टि दौड़ा कर अंत में उसने समझा, यह आलोक उसके नेत्रों से ही विकीर्ण हो रहा है।

युवावस्था में प्रवेश करने के साथ-साथ नलिनीकान्त में प्रबल नीतिज्ञान एवं पौरुष जाग उठा। किसी भी सामाजिक अन्याय या अविचार को सहन करना उनके लिए कठिन हो गया। इससे कभी-कभी उनके जीवन में जटिल परिस्थिति उत्पन्न हो जाती थी।

एक बार नलिनीकान्त अपने किसी पड़ोसी के घर के सामने से होकर जा रहे थे। बाहर से एक वृद्धा के रोने की आवाज सुनकर वे तत्क्षण अंदर चले गये। देखा, एक कर्कशा तरुणी वधू अपनी वृद्धा सास को पकड़ कर पीट रही है। नलिनीकान्त किसी प्रकार के औचित्य का विचार किये बिना उक्त वधू को उसी समय समुचित शास्ति देकर बाहर निकल आये। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके विरुद्ध एक फौजदारी मामला लाया गया। किन्तु बाद में चल कर प्रतिपक्षी ने अपनी गलती समझ कर मामला उठा लिया। सामाजिक अन्याय एवं रूढ़ियों के विरुद्ध नलिनीकान्त को इस प्रकार खड़ा होते प्रायः देखा जाता था। पिता भुवनमोहन को इससे अपने पुत्र के सम्बन्ध में बराबर शंका बनी रहती थी।

पुत्र अब सयाना हो रहा है। अब उसे गृहस्थी का भार अपने ऊपर लेना चाहिये। ऐसा सोचकर भुवनमोहन पुत्र के विवाह के लिए उद्योग करने लगे। सत्पात्री भी शीघ्र ही मिल गयी। सुंदरी एवं सुलक्षणा वधू सुधांशुबाला को वे अपने घर ले आये। नलिनीकांत की वयस इस समय अठारह वर्ष की थी।

अभरसीयरी की परीक्षा पास करने के बाद नलिनीकान्त का कर्म-जीवन आरम्भ हुआ, बाद में चलकर वे रानी रासमणि की जमींदारी में काम करने लगे। उनका कर्म स्थल नारायणपुर था, जहाँ से उनके अध्यात्म जीवन का

सूत्रपात हुआ। प्रियतमा पत्नी सुधांशु बाला के अशरीरी आविर्भाव से उस दिन उनके अंतर में जिस आलोड़न की सृष्टि हुई थी, वही एक दिन अतीन्द्रिय जगत् का द्वार उनके सम्मुख खोल देने में सहायक सिद्ध हुआ।

नलिनीकांत वामाक्षेपा के साधन-स्थल तारापीठ में उपस्थित हुए। द्वारक नदी के तट पर वालुकामय महाश्मशान। चारों ओर मृत शरीर के कंकाल बिखरे हुए थे। अधजले मृत शरीर को लेकर गीध और गीदड़ छीना-झपटी कर रहे थे। पास में ही वशिष्ठ मुनि की आराधिता तारादेवी का मन्दिर था। नलिनीकांत धीरे-धीरे डग बढ़ाते हुए अग्रसर हो रहे हैं।

मन्दिर के सम्मुख करवी फूल के पेड़ की शाखा को नगाकर पकड़े हुए यह कौन नग्न देह अवधूत खड़ा है? दर्शन के साथ-साथ मानों किसी ने उनके अन्तर से पुकारकर कहा—'अजी, ये ही तो तुम्हारे पथ प्रदर्शक हैं—तारापीठ के भैरव, वामाक्षेपा! तुम्हारे लिए ही प्रतीक्षा कर रहे हैं।

अब किसी से और कुछ पूछने की बात नहीं रही, पागल की तरह नलिनीकांत ने नग्न अवधूत के समीप जाकर उनके दोनों चरणों को अपनी छाती से सटा लिया। उस समय उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी।

भैरव उस समय करुणा से द्रवित हो उठे। परम स्नेह से हाथ पकड़ कर उन्होंने आगन्तुक को उठाया। गौरवर्ण कान्तिमान यह युवक कौन है, क्या चाहता है, उस महापुरुष से छिपा नहीं रहा। उसमें तीव्र वैराग्य भाव है यह समझने में भी देर नहीं लगी। फिर भी अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से उनकी ओर ताकते हुए बोले, 'वत्स, तुम क्या चाहते हो?

नलिनीकान्त ने अपनी सारी कथा कह सुनायी, शक्तिधर महापुरुष वामा के पास वे उनकी कृपा की याचना करने आये हैं। इस सुदर्शन तरुण के सब अंगों में दिव्य लक्षण विद्यमान हैं। मुमुक्षा का सहजात संस्कार लेकर यह जन्मा है, यह समझने में सर्वज्ञ क्षेपा बाबा को देर नहीं लगी। उन्हें बार-बार आश्वासन देते हुए बोले, 'मेरी इस तारामाई में ही सब कुछ है। इनके दर्शन से ही सब कुछ पा जाओगे। तुम बड़े भाग्यवान हो, तुम्हें तारा मंत्र मिला है। तुम माँ की सन्तान हो, तुम्हें मैं साधना सिखा दूँगा, चिन्ता मत करो।'

वामाक्षेपा के समीप कुछ दिनों तक रहकर नलिनीकांत ने तंत्र साधना की विभिन्न क्रिया-प्रणालियों का अभ्यास कर लिया। इसके बाद आधी रात को एक निर्दिष्ट शुभ घड़ी में क्षेपा ने उन्हें इष्ट दर्शन के लिए तारापीठ के महाश्मशान में बैठे रहने के लिए कहा।

चारों ओर सघन अंधकार। सेमल, बन जामुन के पेड़ों से भरे हुए उस घने जंगल में बीच-बीच में गीध, उल्लू और चमगादड़ों के पंख फड़फड़ाने की डरावनी आवाज। अस्थिकंकाल और खोपड़ियों पर गीदड़ों और कुत्तों की पद्ध्वनि, चारों ओर किसी के नाच-नाच कर घूमने का शब्द, हाहाकार अट्टहास करने से समग्र श्मशान-भूमि प्रकंपित हो उठती है। चारों ओर मानों किसी के तप्तनिश्वास चल रहे हैं। यह क्या-अशरीरी या भयानक हिंसक जंतुओं और सर्पों का विचरण-क्षेत्र। मुंदे हुए नेत्रों से ध्यान लगाये हुए नलिनीकान्त आसन पर बैठे हैं और एकनिष्ठ भाव से तारा मंत्र का जप कर रहे हैं। बीच-बीच में जब उनका मन उचट जाता है और आसन से उठने की इच्छा होती है तभी कानों में महासिद्ध क्षेपा बाबा की हुँकार सुनायी पड़ती है। तारा, तारा, तारा--यह उच्च शब्द एक अभय मंत्र की तरह उनके समस्त भय को दूर कर देता है।

एक ओर तारापीठ-भैरव वामा का शक्ति संचार, दूसरी ओर साधक नलिनीकान्त की एकनिष्ठ जपक्रिया। माँ की कृपा प्राप्त करने में विलंब नहीं हुआ। रात के अन्तिम प्रहर में इष्टदेवी तारा साधक के सामने प्रकट हुई। नलिनीकान्त ने स्वयं इसका विवरण दिया है—

"मैं देखकर चकित हो गया। पूछा, 'तुम कौन हो'? उसने उत्तर दिया, 'मैं तुम्हारी इष्टदेवी हूँ।'

फिर प्रश्न किया—'इस मूर्त्ति में क्यों? यह मूर्ति तो मेरे गुरु की उपविष्ट मूर्त्ति नहीं है।'

'उस मूर्त्ति को देखकर तुम भयभीत हो जाओगे इस लिए यह मूर्त्ति।'

कितनी सुन्दर यह मूर्त्ति थी! इसके बाद देवी बोली,—वत्स, वर माँगो।'

"मैं और क्या वर माँगता? मेरी कोई आकांक्षा नहीं रह गयी थी, उस मूर्त्ति को देखते ही मैं मुग्ध हो गया था। इसलिए कहा—जब मेरी इच्छा हो तब तुम्हें इस रूप में देख सकूँ।

"अच्छा, ऐसा ही होगा—कहकर उसने अपनी सम्मति ज्ञापित की। इसके बाद मैंने जब उसको स्वरूप मूर्त्ती देखने की इच्छा प्रकट की तब विदा होते समय वह अपनी विश्वमयी मूर्ति दिखा कर अन्तर्धान हो गयी। उस मूर्त्ति को देखकर भय, विस्मय और आनन्द से मैं अचेतन हो गया। फिर चेतना लौटने पर देखा—मैं वामाक्षेपा की गोद में लेटा हूँ।"

इष्ट दर्शन के बाद नलिनीकान्त तारापीठ श्मशान से लौट आये। अब मानों किसी स्पर्शमणि के स्पर्श से उनमें सम्पूर्ण रूपान्तर हो गया था! ऐसी अवस्था में अब नौकरी करना या गृहस्थ बनकर रहना उनके लिए संभव नहीं था! कुछ ही महीनों में उन्होंने व्यावहारिक जीवन के सब कुछ का त्याग कर

दिया। किन्तु इष्ट दर्शन के बाद भी वे अपने अन्तर में शान्ति एवं आनन्द नहीं पा रहे हैं। इसके सिवा आत्मसाक्षात्कार भी उन्हें कहाँ हुआ ?

साधक नलिनीकान्त व्याकुल चित्त से पुनः तारापीठ की ओर दौड़ चले। वामाक्षेपा के चरणों में गिरकर दीन भाव से कहने लगे "बाबा, मुझपर कृपा क्या नहीं होगी ? मैं अब तक सिद्ध काम नहीं हो सका। मुझे ऐसा लगता है —मैंने कुछ नहीं पाया।"

क्षेपाबाबा गरज कर बोले, "मैंने अपनी आँखों से देखा, तुम क्या से क्या हो गये। और तुम अब भी कह रहे हो कि मुझे कुछ नहीं मिला। तुम अभागे हो।"

दूसरे दिन वामा क्षेपा ने उन्हें पुकार कर कहा, 'अजी, तुम्हें शंकर पंथ से संन्यास लेना होगा, तुम ज्ञानपंथी गुरु से संन्यास लो। और एक बात सदा याद रखना, माँ तुम्हारे द्वारा बहुत कुछ करायेंगी।"

गृहस्थाश्रम त्याग कर नलिनीकान्त पागल की तरह दिन-रात गुरु की खोज में भटकने लगे। किसी-किसी दिन एक मुट्ठी अन्न पर ही वह गुजर कर लेते थे, किसी दिन यह भी नहीं। एक लोटा जल पीकर ही दिन बिता देना पड़ता था। इसी प्रकार घोर कष्टमय जीवन व्यतीत करते हुए एक दिन वे अजमेर पहुँचे।

नगर के एक भाग में उस दिन धूम-धाम से एक धर्म-सभा हो रही थी। नलिनीकान्त ने दूर से ही देखा, विशालवपु, दिव्यकान्ति एक संन्यासी वेदी पर बैठ कर वेदान्त तत्व की व्याख्या कर रहे हैं। उनके चारो ओर लोगों की भीड़ लगी हुई है। समीप आकर महात्मा की ओर नजर डालते ही साधक चकित हो गये। यह तो उनके परिचित गुरुदेव हैं जिन्होंने ज्योतिमय मूर्त्ति में

आविर्भूत होकर उन्हें एकाक्षरी मंत्र दिया था। "पहचानता हूँ, पहचानता हूँ—मुझे गुरु मिल गये।" यह करते हुए भावाविष्ट नलिनीकान्त दौड़कर संन्यासी के चरणतल में नत हो गये।

जमीन पर लेटा हुआ, चेतना-हीन यह साधक कौन है? आचार्य सच्चिदानन्द परमहंस एकबार उनकी ओर दृष्टिपात करके मंद मुसकान के साथ उस दिन की धर्म-चर्चा बंद कर दी। नलिनीकान्त को उनका चिराकांक्षित आश्रय अन्त में मिल गया। कुछ ही दिनों के अंदर वे आचार्यदेव के साथ पुष्कर आश्रम में आ गये।

नलिनीकान्त सच्चिदानन्दजी के आश्रम में ही रहने लगे। आश्रम-जीवन के प्रारम्भ में उन्हें इस वेदान्ती संन्यासी के समीप कठोर परीक्षा के बीच से होकर गुजरना पड़ा। धुनी के लिए लकड़ी लाना और लकड़ी चीरना से आरम्भ करके गो सेवा और गाय के लिए घास काटना, आश्रम वासियों के लिए भोजन बनाना और ठाकुरजी की पूजा यह सब काम उन्हें करना पड़ता था। इतना करने पर भी सच्चिदानन्द सरस्वती महाराज की अश्लील गालियाँ और तिरस्कार, किसी काम में सामान्य त्रुटि होने पर भी वे गरज उठते—"साला, भोगी बन कर रहना चाहता है, माँ-बाप को छोड़ कर यहाँ सुख करने आया है।"

नलिनीकान्त कठोर जीवन के अभ्यस्त नहीं थे। किसी-किसी दिन उनके मन में होता, अब यहाँ रहना कठिन है, यहाँ से भाग निकलने में ही जान बच सकती है। ऐसे समय में उनके गुरु भाई ब्रह्मानन्दजी उन्हें नाना प्रकार से प्रबोधन देकर शांत कर देते। वे समझा बुझा कर कहते, "देखो भाई, यहाँ संन्यास ग्रहण करने आये हो, इसका अर्थ होता है जीवत्व का, अहंभाव का अवसान। गुरुदेव जो इतना कठोर शासन और भर्त्सना कर रहे हैं सब कुछ का उद्देश्य यही है। कष्ट-सहन और कठोर परीक्षा के द्वारा तुम्हारा मान-

अभिमान का संस्कार नष्ट हो जाय यही वे चाहते हैं। कुछ दिनों तक और सहन करते रहो, तब मालूम होगा कि गुरुजी कितना प्रगाढ़ प्रेम कर सकते हैं।'

ठीक यही बात हुई। नलिनीकान्त ने देखा आश्रम-जीवन की कठोरता से जितना ही वे अभ्यस्त हो रहे हैं, सच्चिदानन्दजी की रूक्षता उतनी ही कम होती जा रही है। पहले की वह रुद्र मूर्त्ति अब नहीं रह गयी है, क्रमशः वह मूर्त्ति कमनीय होती जा रही है। कुत्सित वाक्यों का प्रयोग करके साधनकामी तरुण शिष्य को भगा देने की प्रवृत्ति भी अब नहीं देखी जाती। अब तो वे संन्यासी को करुणामय एवं कल्याणमय रूप में ही दिखायी पड़ने लगे थे।

इस शुष्क वेदान्ती को नलिनीकान्त भी धीरे-धीरे बहुत प्यार करने लगे। इस सम्बन्ध में वे बाद में कहा करते थे, "मुझे सच्चिदानन्द से बहुत प्रेम हो गया था। वे मुझे प्यार करते थे इसलिए उनके अत्याचारों को मैं बहुत-कुछ सहन कर लेता था। शिष्यों में मैं ब्रह्मचारी था। इसलिए आश्रम जीवन की अन्तिम अवस्था में प्रायः मुझे ही रसोई का काम करना पड़ता था। एक दिन चूल्हे पर हांड़ी रख कर उसकी ओर से उनके ब्रह्मज्योतिविभासित मुख की ओर अपलक दृष्टि से देखता हुआ मैं बैठा था। रसोई की बात याद ही नहीं रही। इधर भात के जलने की गंध आ रही है। इसके बाद ही गुरुजी की भर्त्सना आरम्भ हुई। मैं चुपचाप सब कुछ सुनता रहा, मन ही मन कहने लगा अजी, यदि तुम जान पाते कि आज भात क्यों जल गया! ठाकुर जिस प्रकार मुझे अकथ्य भाषा में गाली देते थे उसी प्रकार आदर भी खूब करते थे। उनके जैसा ब्रह्मज्ञानी वेदान्ती, ज्ञान-साधना में सिद्ध पुरुष मैंने और कहीं नहीं देखा।"

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती के आश्रम में एक नारायण मूर्ति प्रतिष्ठित

थी। कभी-कभी उनकी पूजा का भार नलिनीकान्त के ऊपर पड़ता था। किन्तु तरुण साधक उस समय वेदान्त—पाठ एवं तत्त्व-विचार में निमग्न रहा करते थे। देव-मूर्ति के प्रति उनकी भक्ति उस समय बहुत कम थी। पूजा-गृह में जाकर दो चार फूल मूर्त्ति पर चढ़ा देते और किसी तरह कार्य सम्पन्न कर लेते शिष्य का यह मनोभाव गुरु महाराज की दृष्टि से छिपा नहीं रहा। एक दिन उन्हें पास बुलाकर पूछा, "क्यों जी ? तुम जैसे-तैसे करके ठाकुरजी की पूजा कर लेते हो। तुम्हारी निष्ठा नहीं है।" नलिनीकान्त ने कहा, "वह तो पूजा की वस्तु नहीं है, वह तो निष्प्राण है—केवल एक धातु मूर्त्ति।"

सच्चिदानन्द स्वामी भर्त्सना करते हुए वहाँ से चल दिये। नलिनीकान्त ने भी अभिमान से भर कर धातुमय विग्रह को आसन से नीचे कर दिया और उसके गाल में एक तमाचा लगाया। इसके बाद क्रुद्ध स्वर में कहने लगे "तुम्हारे लिए ही तो गुरुजी का इतना तिरस्कार मुझे सहना पड़ा है।"

कुछ ही क्षणों के बाद सच्चिदानन्द महाराज के साथ उनका साक्षात् हुआ। मंद मुसकान के साथ उन्होंने कहा, "तुमने तो कहा था कि मूर्त्ति में प्राण नहीं हैं, तो फिर इतनी बातें किस के साथ कर रहे थे ?" उन्होंने समझा, सर्वज्ञ गुरु की दिव्य दृष्टि में कुछ भी अज्ञात नहीं है। दोनों की बातचीत को सुनकर आश्रमवासी हँसने लगे।

अनेक परीक्षा और कठोर शासन के बाद गुरु महाराज क्रमशः कोमल भाव धारण करने लगे। बीच-बीच में नलिनीकान्त भी गुरु के प्रति अपना स्नेह-भाव जताने से बाज नहीं आते थे। एक दिन उन्होंने साहस करके अपनी दीक्षा की चर्चा चलायी। किन्तु स्वामीजी ने उन्हें बता दिया कि जब तक वे

अपने माता-पिता की अनुमति न ले आयेंगे तबतक उन्हें वे दीक्षा नहीं देंगे ।

नलिनीकान्त ने साहस के साथ गुरु के कथन का प्रतिवाद किया और कहा, "यह आप क्या कह रहे हैं महाराज ? कौन माता-पिता अपने पुत्र को सहज स्वाभाविक भाव से संन्यास ग्रहण करने की अनुमति देगा ? स्वयं व्यासदेव भी अपने पुत्र शुकदेव को संन्यास ग्रहण करने की अनुमति देना नहीं चाहते थे, शंकर को छल करके अपनी माता से अनुमति लेनी पड़ी थी । शास्त्र की बात तो मैं नहीं जानता, किन्तु इन सब दृष्टान्तों का महत्व भी किसी प्रकार कम नहीं है ।"

सच्चिदानन्द सरस्वती ने हँसते हुए उत्तर दिया, "अजी, तुमसे बहस में कौन जीतेगा ! अच्छा जाओ, तुम्हें दीक्षा मिल जायगी ।" कुछ दिनों के अंदर ही नलिनीकान्त को संन्यास-दीक्षा मिल गयी । नया नाम करण हुआ निगमानन्द सरस्वती । भगवान की कृपा से उनकी बहुत दिनों की आशा इस बार पूर्ण हुई । वे आनन्द-विभोर हो उठे ।

आश्रम में बास करते समय सच्चिदानन्दजी के पूर्वाश्रम की कितनी ही कहानियाँ इस समय सुना करते थे । बाद में चलकर वे अपने भक्तों को ये सब कहानियाँ सुनाया करते थे ।

बहुत दिन पहले की बात है । काबुल के दोस्त महम्मद खाँ के साथ अंगरेजों का उस समय युद्ध चल रहा था । लार्ड अकलैण्ड के नेतृत्व में ब्रिटिश भारत की सेना युद्ध कर रही थी । उस दिन पेशावर के निकट सेना-दल ने पड़ाव डाला था । चारों ओर सतर्क पहरा और प्रतिरक्षा की व्यवस्था थी । एक भारतीय हवलदार ने सहसा एक दिन दूर से ही देखा, समीपस्थ पहाड़ की एक गुहा से बार-बार जलती हुई मशाल हिलडोल रही है ।

यह दुर्ज्ञेय व्यक्ति कौन है ? किस मतलब से उसका यह विचित्र, प्रकाश संकेत हो रहा है ? सारी छावनी में हलचल मच गयी। अस्त्रशस्त्रों से सज्जित होकर हविलदार अपने कप्तान और कई साथियों के साथ उस रोशनी की खोज में चल पड़ा। बार-बार खोज करने पर भी उस रहस्यमय प्रकाश या प्रकाश दिखाने वाले का कोई पता नहीं चला। इसके बाद उत्साही हविल-दार एक दिन स्वयं अपने कंधों पर बंदूक रख कर उसकी खोज में चल पड़ा।

प्रकाश पर दृष्टि रखकर वह आगे बढ़ रहा था। कई पर्वत शिखरों को पार करने के बाद वह एक ऊँचे पहाड़ के सामने आकर हठात् रुक गया। एक जीर्ण-शीर्ण शरीर वृद्ध साधु वहाँ हाथ में लालटेन लिए हुए बैठे थे। हविलदार को देखते ही वे कहने लगे, "आओ, बेटा! तुम्हारी प्रतीक्षा में ही मैं यहाँ बैठा हुआ हूँ, जराग्रस्त मर्त्यशरीर का अभी तक त्याग नहीं कर सका, तुमको इस गुफा में लाने के लिए ही मैंने प्रकाश द्वारा बार-बार संकेत भेजा है। अंत में तुम यहाँ आ ही गये। मेरा यह आसन इस बार तुम्हीं को ग्रहण करना होगा। सैनिक वृत्ति का आज ही यहाँ त्याग करके तुमको संन्यास की दीक्षा लेनी होगी।"

पर्वत गुहा के ये प्राचीन साधु एक वेदान्ती, आत्मज्ञानी महापुरुष थे। इन महात्मा का आश्रय पाकर हविलदार के जीवन में अध्यात्म-रस की धारा मुक्त होकर बहने लगी। एक नये मनुष्य के रूप में उसकी जीवन यात्रा आरम्भ हुई। उस दिन का यह सैनिक ही बाद में चलकर स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती के नाम से विख्यात हुआ—स्वनामधन्य वाममार्गी संन्यासी और निगमानन्द के दीक्षा-गुरु। संन्यास-ग्रहण के कुछ समय बाद गुरुजी के आदेश से निगमानन्द तीर्थ परिक्रमा में बाहर निकले। पहली बार बदरी नारायण

और मानसरोवर आदि तीर्थों की यात्रा में सच्चिदानन्दजी महाराज स्वयं उनके साथ थे। इस समय के कुछ अलौकिक अनुभवों का वर्णन निगमानन्द जी ने किया है।

एक दिन मानसरोवर का नयनाभिराम दृश्य निगमानन्द जी विस्मयविमुग्ध होकर देख रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि के सम्मुख एक अप्राकृतिक दृश्य दिखायी पड़ा। उन्होंने देखा झील के एक कोने में मानों अपूर्व सौन्दर्य का मेला लगा हुआ है। सुन्दरी रमणियों का एक दल आनन्द चंचल होकर वहाँ जलविहार कर रहा था। निगमानन्द जी ने कौतूहलवश गुरुजी से प्रश्न किया, "महाराज ! ये सब कौन स्नान कर रहे हैं?"

सच्चिदानन्द स्वामी ने उत्तर दिया, "अरे तुम्हारी आँखें तो खुल गयी ! देखलो, और भी बहुत सी चीजें देखने की हैं। ये सब तो अप्सराएँ हैं।

एक बार मार्ग में उन्हें एक विशालकाय सर्प से सामना हुआ। उस समय वह कुण्डली बना कर वहाँ निश्चिन्त भाव से अवस्थान कर रहा था। साधु लोग उस समय साँप को आटा खिला रहे थे। और वह सर्प बिलकुल निर्विकार और उदासीन भाव से देख रहा था—हिंसा का लेशमात्र नहीं। सर्प के अद्भुत आचरण के सम्बन्ध में निगमानन्दजी के प्रश्न करने पर सच्चिदानन्द स्वामी ने उत्तर दिया, "अरे, बच्चा तुम क्या देखोगे, और मैं भी क्या बोलूँगा ? यह तो परमहंस हो गया।" गुरुजी की बात सुनकर उस दिन साधक निगमानन्द के आश्चर्य की सीमा नहीं रही।

पर्यटन काल में सच्चिदानन्द महाराज ने शिष्य को एक प्रसिद्ध संन्यासिनी महंत से परिचित करा दिया। गौरीमाताजी के नाम से वह परिचिता थीं। हिमालय के अरण्य प्रदेश में एकान्त स्थान में उनका आश्रम था। साधु संत समाज में उस समय इन माता जी की बड़ी प्रतिष्ठा थी। निगमानन्द की ओर

दृष्टिपात करते हुए उस दिन इन्होंने सच्चिदानन्द सरस्वती से कहा था, "तुम्हारा यह चेला जब निर्विकल्प अवस्था में आ जाय तो इसे एक बार मेरे पास भेज देना।"

उत्तराखण्ड का भ्रमण करने के बाद सच्चिदानन्द महाराज पुष्कर आश्रम में लौट आये। परिव्राजक निगमानन्द को इसबार अकेले ही गुरु के आदेशानुसार अन्य धामों की यात्रा करनी पड़ी। इस यात्रा में वे द्वारका, रामेश्वर, पुरी तथा और भी कई तीर्थों में गये और भ्रमण-काल में जीवन के बहुत-से विचित्र अनुभव प्राप्त किये। उत्तर काल में इस समय की नाना घटनाओं का उल्लेख वे अपने शिष्यों से किया करते थे।

एकबार वे कुछ समय के लिए द्वारका के सारदामठ में अवस्थान कर रहे थे। इस समय उक्त मठ में कोई महंत नहीं था। एक वृद्ध संन्यासिनी के ऊपर मठ के कार्य-संचालन का भार था। यह वृद्धा कुछ ही दिनों के अंदर निगमानन्दजी को स्नेह-पूर्ण भाव से देखने लगी। तरुण साधक भी माँ कहकर उसे पुकारते थे। घनिष्ठता बढ़ने के साथ-साथ वृद्धा ने निश्चय किया, साधन-निष्ठा एवं प्रिय दर्शन इस तरुण संन्यासी को ही मठ के सबलोग महंत पद पर प्रतिष्ठित करेंगे। मठ में निगमानन्दजी का खूब आदर-सत्कार होता था और उनके दिन मजे में कट रहे थे।

इसी बीच सहसा एक दिन मठ में त्रिशूलधारिणी एक भैरवी का आगमन हुआ। रमणी परम सुन्दरी और पूर्ण युवती थी। इसके सिवा शास्त्रों में भी उसकी पारगामिता यथेष्ट थी। यह भी पता चला कि वह सम्भ्रान्त बंगाली परिवार की कन्या थी, उसका पूर्वाश्रम का निवास यशोहर जिले में था। प्रिय-दर्शन निगमानन्द के साथ प्रथम साक्षात् में ही वह उनके प्रति आकृष्ट हुए बिना

नहीं रही। इसके बाद क्रमश: इस मठ में उसका आगमन बढ़ने लगा। उसके प्रति निगमानन्द जी भी कुछ आकृष्ट हुए।

भैरवी निगमानन्द को प्राय: समझाया करती थी, तंत्र मतानुसार उन दोनों में शैव विवाह सहज ही हो सकता है। इस सम्बन्ध में वह बार-बार उन्हें अनेक प्रकार से प्रलुब्ध किया करती थी। इस बीच तरुण साधक का मन बहुत कुछ नरम हो चुका था। सोचने लगे, बुरा क्या है? वृद्ध संन्यासिनी ने तो उन्हें मठ का महंत मनोनीत कर ही लिया है। अब इस तरुणी भैरवी के साथ विवाह करके नये सिरे से धर्माचरण करने में क्षति क्या है? इसके बाद एक दिन प्रस्तावित शैव विवाह का शुभदिन निश्चित हो गया।

विवाह से एक दिन पूर्व आधी रात में स्वामी निगमानन्द ने एक स्वप्न देखा। भैरवी के साथ धूमधाम से उनका विवाह हो रहा है। आनन्दोत्सव के बीच रूपसी तरुणी मनोरम वेश में सज्जित होकर उनके पास आ बैठी, किन्तु अकस्मात् एक विघ्न उपस्थित हो गया। निद्रावस्था में ही निगमानन्द को समीप में किसी के भारी चिमटे की आवाज सुनायी पड़ी। सहसा चौंक उठे, यह क्या! यह तो गुरु महाराज सच्चिदानन्दजी के साढ़े चार सेर वजन वाले चिमटा का ही चिर-परिचित शब्द है। साथ-साथ दृष्टि फेर कर देखा, उनकी बगल में बैठी हुई नववधू भैरवी का सारा शरीर मोम की तरह गल-गलकर जमीन पर गिर रहा है। इसके बाद उसके शरीर का कंकाल मात्र बच गया। कुछ क्षणों के बाद देखा गया, कंकाल-सार युवती ही मानों बाँहें फैलाकर निगमानन्दजी को आलिंगन करने आ रही है।

यह दृश्य कितना वीभत्स था! निगमानन्द की निद्रा उसी क्षण भंग हो गयी। इसके साथ ही उनके ज्ञान-चक्षु भी खुल गये। जल्दी ही अपना लोटा-कंबल हाथ में लेकर वे मठ के दरवाजे की ओर दौड़ पड़े। वृद्धा संन्यासिनी

घबरा कर उठी और उनकी राह के बीच में आकर खड़ी हो गयी, किन्तु निगमानन्द को वह रोक नहीं सकी। वृद्धा को धक्का देकर वह बाहर निकल गये। संन्यासी जीवन का चरम संकट उस दिन इस प्रकार गुरु की कृपा से अद्भुत रूप में टल गया। निगमानन्दजी कहा करते थे, 'सद्गुरु कई बार इसी तरह स्वप्न के द्वारा शिष्य को पथ निर्देश कर देते हैं—उसे वास्तविक कल्याण के पथ पर अग्रसर करते हैं।'

तीर्थ भ्रमण के बाद निगमानन्द जी गुरु के आश्रम में लौट आये। इसी समय एक दिन सच्चिदानन्दजी ने उन्हें स्नेह पूर्वक पुकार कर कहा; 'बेटा, मेरे समीप रहकर जो कुछ तुम्हें होना था तुम हो चुके। तुमको अब योग-सिद्ध गुरु के पास जाना होगा, तभी तुम्हारी साधना पूर्ण होगी।'

निगमानन्दजी के दोनों नेत्र सजल हो गये। चरम आश्रयदाता गुरु सच्चिदानन्द जी को आज छोड़कर जाने में उन्हें मार्मिक पीड़ा हो रही थी। किन्तु यह तो उन्हीं का आदेश था, वे किस प्रकार अमान्य कर सकते थे। वह ईश्वर-निर्दिष्ट योगी गुरु कौन है, वह कहाँ मिलेगा, इस सब बातों को सोचकर वे बड़े व्याकुल हो उठे।

सच्चिदानन्द महाराज ने आश्वासन देते हुए, कहा 'घबराओ नहीं बेटा, तुम्हारा योगी गुरु अवश्य मिल जाएगा, बहुत शीघ्र मिल जायगा।'

एक बार फिर नये रूप में निगमानन्दजी का परिव्राजन आरम्भ हुआ। इस बार की यात्रा का लक्ष्य था—योगी गुरु का पता लगा कर अपनी अध्यात्म साधना को पूर्णतः चरितार्थ करना, सघन अरण्य, पर्वत और प्रान्तर होकर वे दिनानुदिन अग्रसर होने लगे। सर्दी, धूप सहन करते हुए अनशन एवं अनिद्रा की अवस्था में उनके दिन कटने लगे।

एकबार राजस्थान के कोटा राज्य के एक जंगल-भरे इलाके से होकर निगमानन्दजी रास्ता तय कर रहे थे। संध्या का अंधकार धीरे-धीरे गाढ़ा होता जा रहा था, भूख-प्यास से उस समय वे अत्यन्त कातर हो रहे थे। सहसा एक अपरिचिता राह चलने वाली स्त्री ने उनका नाम लेकर उन्हें पुकारा। समीप आकर वह बोली, 'देखती हूँ, तुम भूख-प्यास से बहुत विकल हो रहे हो ! और आधा मील मार्ग चलने पर तुम्हें एक कुटिया दिखाई पड़ेगी। वहीं आज विश्राम करना।' कुछ दूर आगे बढ़ने पर वह वन-निवास दिखायी पड़ा। एक सुन्दरी रमणी इस विजन कुटीर में निवास करती थी। निगमानन्द को बाद में मालूम हुआ, वह एक योगसिद्धा साधिका थीं। इस घने जंगल में उन्हें अकेले बात करते देखकर निगमानन्दजी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

आहार एवं विश्राम के बाद बातचीत के प्रसंग में उन्हें मालूम हुआ कि यौवनोचित श्री से शोभित उक्त नारी की वयस वस्तुतः साठ से अधिक थी। शक्तिधर गुरु से दीक्षा प्राप्त करने के बाद दीर्घकाल से ये साधना कर रही हैं। योगिनी ने उनसे कहा 'देखो, तुम इधर-उधर चक्कर मत लगाओ। अभी कलकत्ता लौट जाओ। शीघ्र ही तुम्हारे जीवन में तुम्हें आकांक्षित गुरु मिल जायेंगे।'

निगमानन्द अपने मन में सोचने लगे, फिर सुदूर कलकत्ता लौटना पड़ेगा ? किन्तु पास में तो एक पैसा भी नहीं है। योगिनी मानों सर्वज्ञा थीं, उनकी ओर देखती हुई बोली 'आह, तुम टिकट खरीदने के लिए रुपये की बात सोच रहे हो ? इसके लिए चिन्ता मत करो। सब ठीक हो जायगा।'

दूसरे दिन घोर जंगल के बीच से होकर रास्ता दिखाती हुई वह रमणी उनके साथ चली। थोड़ी दूर पर ही स्टेशन था। टिकट खरीदने के लिए कुछ रुपये निगमानन्द के हाथ में रखती हुई वह

बोली "देख रहे हो वह रेल स्टेशन, टिकट कटाकर कलकत्ता की ओर रवाना हो जाओ।"

इस रहस्यमयी योगसिद्धा नारी के सम्बन्ध में निगमानन्दजी ने लिखा है, "स्टेशन के पास पहुंचकर एकाएक घूम कर देखा वह नहीं हैं। उनके इस आकस्मिक अन्तर्धान से मन विषण्ण हो गया। मन हुआ, यह तो सर्वनाश हो गया ? उनके समान योग-सिद्धा भैरवी को पास में पाकर भी रख नहीं सका। उसी क्षण मैं जंगल की ओर दौड़ पड़ा। जाकर देखा न तो वह कुटिया है और न वह नारी है। सब कुछ मानों किसी जादू से छू-मंतर हो गया। कोना-कोना ढूंढ़ डाला. कहीं पता नहीं। मैं स्तम्भित हो गया। वह स्त्री कौन थी ?'

कलकत्ता पहुँचने पर निगमानन्द तीर्थयात्रियों के एक दल के साथ आसाम की ओर रवाना हुए। यहाँ पहुँच कर कामरूप और परशुराम तीर्थ के दर्शन किये। इसके बाद कुछ समय तक अकेले पहाड़ी अंचल में भ्रमण करते रहे।

पहाड़ी वस्ती और जंगल के रास्ते से होकर स्वामी निगमानन्द आनन्द मन से आगे बढ़ रहे थे। एक दिन वह राह भूल गये। क्रमशः रात हो आयी और घने अन्धकार में पथ चलना कठिन हो गया। जंगल के बीच विशाल वृक्ष था। उसी के कोटर में तरुण साधक ने रातभर आश्रय ग्रहण किया।

प्रभात की किरणें अभी निकल ही रही थीं। इसी समय उन्होंने वृक्ष के कोटर से नीचे की ओर देखा और उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। देखा, एक गौरवर्ण दीर्घ-शरीर संन्यासी वृक्ष के नीचे बैठे हुए हैं। कुछ सूखी पत्तियाँ उनके सामने धुनी की तरह जल रही हैं और वे चिलम में गाँजा चढ़ाने में व्यस्त हैं। भय, विस्मय एवं कौतूहलवश स्वामी निगमानन्द नीचे उतरे।

सामने आकर खड़ा होने पर भी संन्यासी ने उनकी ओर नहीं देखा। चुपचाप गांजे के कई दम लगाकर गम्भीर भाव से अपना हाथ बढ़ाते हुये उनके सामने रखा। निगमानन्दजी को गांजा पीने का अभ्यास कभी नहीं था, किन्तु अस्वीकार करने का उन्हें साहस भी नहीं हुआ। किसी प्रकार दो-एकवार दम लगाकर फिर चिलम उनके हाथ में रख दी।

सामने की आग बुझ जाने पर संन्यासी उठ खड़े हुए। इशारे से कहा, "बिना कुछ बोले चुपचाप मेरा अनुसरण करो।" इस अपरिचित संन्यासी का आकर्षण टालना कठिन था। मंत्र-मुग्ध की तरह उनके पीछे-पीछे चलने के सिवा निगमानन्द के लिए और कोई चारा नहीं था। उनके मन में उस समय तरह-तरह की आशंकाएँ उठ रही थीं। एकबार सोचते थे, यह वंकिमचन्द्र की कपाल-कुण्डला की तरह कोई घटना तो नहीं है? कापालिक नवकुमार की हत्या करना चाहता था—इस संन्यासी का इरादा भी ऐसा ही हो कौन जाने? किन्तु आश्चर्य की बात तो यह कि निगमानन्द की ओर वह एकबार भी मुड़ कर नहीं देख रहा है, मानों उनका वहां रहना और भाग निकलना दोनों उस संन्यासी की दृष्टि में एक समान था।

कुछ समय तक राह चलने के बाद संन्यासी एक पहाड़ी के सामने आकर खड़े हो गये। उसके नीचे एक पहाड़ी झरना कल-कल ध्वनि से बह रहा था। स्वामी निगमानन्द ने तत्कालीन घटना का एक मनोज्ञ विवरण दिया है—

"यहां आकर संन्यासी ने मेरी ओर देखा। कितनी सुन्दर मूर्त्ति थी वह! उज्ज्वल गौर वर्ण, विशाल वक्षस्थल, प्रशस्त ललाट, घने घुंघराले बड़े-बड़े बाल, बड़ी बड़ी आंखें, मुख-मण्डल से मानो ज्योति विकीर्ण हो रही है। यह रूप देखकर विस्मित एवं आनन्दित हो गया।

"मन प्राण भक्तिभाव से भरपूर हो गये। कब और किस रूप में शरीर आपसे-आप उनके चरणों में लोट गया यह नहीं जान पाया।......उन्होंने सस्नेह मेरा हाथ पकड़ कर मुझे उठाया, मधुर स्वर में बोले, "वत्स, सहसा रात के अन्तिम पहर में मुझे वृक्ष के नीचे देखकर और तुम्हें मैंने साथ चलने का जो निर्देश किया उससे मालूम होता है कि तुम आश्चर्यित हो गये हो, तुम्हें भय भी हुआ है। किन्तु मैं पहले ही जान गया था कि तुम कौन हो, किस लिए घूम रहे हो, तुम्हारा अभाव क्या है—किस लिए पेड़ के ऊपर थे! मेरे समीप ही तुम्हारी मनोकामना सिद्ध होगी? इसी उद्देश्य से तुम्हें यहाँ ले आने के लिए मैं पेड़ के नीचे गया था।"

निगमानन्द उस समय आनन्द और आश्चर्य से संन्यासी की ओर टकटकी बाँधे देख रहे थे। यह संन्यासी ही उनके ईश्वर-निर्दिष्ट योगी गुरु—सुमेर दास महाराज थे।

पहाड़ी के ऊपर कुछ दूर चढ़कर महापुरुष ने एक वृहत् शिला खण्ड को ठेल दिया। उसके हट जाने पर एक बहुत बड़ी गुफा दिखायी पड़ी। उस में दो कमरे थे, एक में दण्ड, कमण्डलु और आसन रखे हुये थे, दूसरे में तालपत्र पर लिखी हुई बहुत सी पोथियाँ सजाकर रखी हुई थीं। निगमानन्द को मालूम हुआ, सुमेर दास ने गुरु परंपरा से इन पोथियों को प्राप्त किया है।

योगीवर के पूर्वाश्रम का वास पंजाब में था, महाराज रणजीत सिंह के ये सभासदों में से थे। एक बार किसी कार्य से दिलीप सिंह के साथ ये इंगलैंड गये थे। किन्तु कुछ समय के बाद किसी कारण से विरक्त होकर उनका साथ छोड़ दिया और अकेले रूस, चीन, तिब्बत आदि देशों का भ्रमण कर स्वदेश लौटे। जिस समय ये तिब्बत में थे, सौभाग्य से एक महायोगी की कृपा-दृष्टि इनके ऊपर पड़ी और इनके जीवन में आमूल परिवर्तन हो गया। गुरु-कृपा और पूर्व जन्म का सात्विक संस्कार इन दोनों के होने से बाद में चलकर ये एक महासिद्ध योगी बन गये।

इसके बाद सुमेर दासजी ने निगमानन्द को प्रकृत योग-साधना में संलग्न कराया। लगभग तीन महीनों तक वे इस तरुण प्रतिभाशाली साधक को नाना गूढ़ साधन-प्रणालियों की शिक्षा देते रहे। कुछ दिनों के बाद महापुरुष ने उनसे कहा, 'बेटा, अब तुम लोगों के बीच जाकर गम्भीर भाव से इस राजयोग-साधना में लग जाओ। इस साधना में घी, दूध खाना पड़ता है, बिना पौष्टिक आहार के यह साधना नहीं चल सकती। इसके लिए आवश्यक है कि लोकालय में रहकर भक्त, गृहस्थों की सहायता ली जाय। बिना इसके काम नहीं हो सकता। यहाँ का जैसा-तैसा भोजन करके यह योग-साधन नहीं हो सकता, बेटा।" सुमेर दासजी ने यह भी कह दिया, "तुम मेदिनीपुर जाओ, तुम्हारे काम में सहायता करने वाले वहाँ हैं।"

गुरु के निर्देश से निगमानन्द फिर बंगाल की ओर चल पड़े। मेदिनीपुर के अन्तर्गत हरिपुर ग्राम है। घूमते-घामते इस गांव के पास-पड़ोस के एक मंदिर में रात भर के लिये उन्होंने डेरा डाला। तड़के एक संभ्रांत व्यक्ति हड़बड़ाये हुए वहां आ पहुँचे। उनका नाम था सारदा प्रसाद मजुमदार। वे इसी गाँव के जमींदार थे। निगमानन्दजी को व्याकुल भाव से उन्होंने कहा, "देखिये, गत रात में मैंने एक स्वप्न देखा, दीर्घकाय जटा-जूट-धारी एक संन्यासी मुझ से कह रहे हैं—तुम्हारे देवालय में एक साधु रात्रि-वास कर रहा है। योग-साधना के लिए उसकी सहायता अपेक्षित है। तुम यथा सम्भव उसकी सहायता करो, तुम्हारा कल्याण होगा। —आप ही क्या वह साधु हैं?" निगमानन्द समझ गये, योगी सुमेर दासजी का ही यह कृत्य है, शिष्य की योग-साधना को सहज साध्य करने के लिए उनकी यह अलौकिक लीला है।

सारदा बाबू के घर के पिछवाड़े में एक बगीचा था। नवागत संन्यासी के लिए इस एकान्त स्थान में उन्होंने एक घर बनवा दिया। निगमानन्द यहाँ रहकर साधना करने लगे। राजयोग का अभ्यास करने के लिये जब जिस सामग्री की उन्हें आवश्यकता होती थी उसे पाने में उन्हें कोई असुविधा नहीं होती थी।

लगभग एक वर्ष तक यहाँ वे योग साधना का अनुष्ठान करते रहे। इसके बाद लोगों की भीड़ और अन्य असुविधाओं के कारण उन्हें इस स्थान का त्याग करना पड़ा। इसके बाद गौहाटी में अत्यन्त आकस्मिक रूप में श्री यज्ञेश्वर विश्वास के साथ उनका परिचय हुआ। इस भक्त के गृह में रहकर भी कुछ समय तक वे एक-निष्ठभाव से योगाभ्यास में लगे रहे। इस स्थान में तथा कामाख्या पहाड़ पर रहते समय निगमानन्द ने अनेक उच्चतर अध्यात्म अनुभव प्राप्त किये।

उज्जैन में उस वर्ष कुंभ का मेला था। इस मेले में दीक्षागुरु स्वामी सच्चिदानन्द का दर्शन करने के लिये निगमानन्द का मन व्यग्र हो उठा। मेला क्षेत्र में पहुँच कर देखा, उसके प्रान्त में वेदान्ती साधुओं की विशाल जमात है। शृंगेरी मठ के शंकराचार्य उस जमात के नेता के रूप में बीच में बैठे हुये हैं। स्वामी सच्चिदानन्द महाराज भी वहाँ समासीन हैं।

गुरुजी के दर्शन होते ही निगमानन्द दौड़कर उनके समीप पहुँचे और साष्टाङ्ग प्रणाम किया। शंकराचार्य गद्दी पर बैठे हुए उपस्थित व्यक्तियों के साथ तत्वज्ञान की चर्चा कर रहे थे, किन्तु तरुण साधक निगमानन्द ने मानों उनकी ओर देखा ही नहीं।

कुछ संन्यासियों को उनका यह आचरण बुरा लगा और वे रुष्ट हुये बिना नहीं रहे। प्रचलित रीति के अनुसार जमात में उपस्थित संन्यासियों में जगद्-गुरु शंकराचार्य के प्रति ही सबसे पहले सम्मान प्रदर्शित करना उचित था। संन्यासियों ने शिकायत के स्वर में कहा, "शंकराचार्य जगद्गुरु हैं—वेदान्ती समाज की दृष्टि के अनुसार ये तुम्हारे गुरु के भी गुरु हैं—उन्हें पहले प्रणाम करना चाहिये था, तुम्हारा यह व्यवहारा अच्छा नहीं हुआ।"

निगमानन्द ने तुरंत उत्तर दिया, "यह किस प्रकार संभव हो सकता है ? मेरे गुरु के गुरु नहीं हैं। यदि गुरु के गुरु को मान लिया जाय, तो गुरु में अनास्था का दोष लगेगा—मेरे गुरु श्रीजगद् गुरु हैं।"

शंकराचार्य अबतक चुपचाप से उभयपक्ष की बातें सुन रहे थे। मंद मुस्कान के साथ उन्होंने कहा "वत्स, यह ठीक कह रहा है, उसके सिद्धांत का खण्डन नहीं किया जा सकता।" यह तरुण साधक स्वामी सच्चिदानंद का शिष्य है यह जान कर उन्हें प्रसन्नता हुई। अध्यात्म-अनुभूति के सम्बंध में उन्होंनें निगमानन्दजी से कई प्रश्न किये। उत्तर सुनकर प्रसन्न हुए और स्वामी सच्चिदानंद से कहा, "अपने इस शिष्य से तुम अब भी क्यों दण्ड धारण कराते हो? इसनें तो परमहंस होने की योग्यता प्राप्त करली है।"

उपस्थित साधु महात्माओं की सम्मति प्राप्त करके सबलोगों की हर्षध्वनि के बीच सच्चिदानंद महाराज ने उसी दिन निगमानन्द स्वामी को परमहंस की संज्ञा प्रदान की।

इसके बाद निगमानन्द काशी आये। वहाँ इधर-उधर घूमते हुए थकेमांदे और भूख से पीड़ित दशाश्वमेध घाट पर आकर बैठ गये। निःसम्बल संन्यासी के रूप में परिव्राजन करना उनका बहुत दिनों का अभ्यास था। अपने पास रुपया पैसा कुछ नहीं रखते थे, इसके सिवा काशी उनके लिए सर्वथा अपरिचित थी। क्षुधा की निवृत्ति किस प्रकार की जायगी यही वे सोच रहे थे। एकाएक उनके ध्यान में आया, काशी में तो निराहार कोई नहीं रहता, यह तो अन्नपूर्णा का स्थान है। मन में संकल्प किया, गंगा घाट पर बैठकर ध्यान लगाऊँगा। क्षुधा मिटाने के लिए सचमुच यहाँ अन्न जुटता है या नहीं, अन्नपूर्णा की कृपा और महिमा परीक्षा करके देखी जायगी।

ध्यान में नेत्र मूँदे हुए निगमानन्द घाट की एक तरफ बैठे हुए थे। सामने स्त्री-पुरुषों की भीड़। स्नान करने वाले गृहस्थ भक्तों और साधु-संत-परिव्राजकों का अविराम आवागमन हो रहा था।

क्रमशः दिन चढ़ने लगा। इसी बीच एक स्नान करने वाली महिला एकाएक उनके सामने आ उपस्थित हुई। वह देखने में अत्यन्त कुरूपा थी,

बुढ़ापे के कारण कमर झुकी हुई, पहनने का कपड़ा मलिन और छिन्न-भिन्न। उसके हाथ में पत्ते का एक बड़ा-सा ठोंगा था। निगमानन्दजी के पास उसे रखकर सानुनय बोली "बाबा, मैं तुरत स्नानकर के आजाऊँगी तबतक यह ठोंगा आप के पास रहा।" उत्तर या सम्मति की कोई अपेक्षा न करके वृद्धा सीढ़ियों से होकर नीचे उतर गयी।

इधर निगमानन्द का ध्यानावेश क्रमशः गम्भीरतर होने लगा। दिन ढलकर कब रात का अंधकार घना होने लग गया, इस का भी उन्हें पता नहीं। वाह्यज्ञान लौट आने पर देखा रात के प्रायः नौ बज चुके हैं। इस बीच भूख-प्यास और भी बढ़ गयी थी। सोचने लगे, "रात काफी हो चुकी। अन्नपूर्णा की काशी में मेरे लिए तो किसीने भोजन का प्रबन्ध नहीं किया।"

सहसा पास में रखे हुए पत्ते के बने ठोंगे पर दृष्टि पड़ते ही वे चकित हो गये। दोपहर से ही वह इसी प्रकार वहाँ रखा हुआ था। जो वृद्धा उसे यहाँ रख गयी थी वह तो स्नान के बाद फिर लौटी नहीं। ठोंगा को खोलकर निगमानन्द ने देखा उसमें सुस्वाद्य खाद्यपदार्थ रखे हुए थे। ध्यान-मग्न होने पर भूख असह्य हो उठी थी, और सामने में बंगाल की प्रसिद्ध मिठाइयाँ। ठोंगा को उसी समय खोल डाला। भर-पेट भोजन करके गङ्गाजल पान किया और तब उन्हें पूर्ण तृप्ति हुई।

रात में एक पुराने जन-शून्य मकान के बरामदे में स्वामी निगमानन्द सोये हुए थे। गम्भीर रात में स्वप्न देखा, जननी अन्नपूर्णा अपनी रूप की छटा का दश-दिशाओं में प्रकाश करती हुई उनके सामने आविर्भूत हैं। मधुर कंठ से जननी कहने लगी, "वत्स, अब तो प्रत्यक्ष मालूम हुआ कि मेरी काशी में कोई कभी निराहार नहीं रह सकता। सुस्वादु खाद्य पदार्थ मैं ही तुम्हें दे आयी थी।"

निगमानन्द ने कहा, "नहीं माँ, तुमने तो यह सब नहीं दिया ! वह तो एक वृद्धा मानवी थी।"

"क्यों बेटा, जो निर्गुण है वह क्या सगुण नहीं हो सकता ? निराकार की शक्ति क्या सीमित है ? आकार ग्रहण करने में उसे कौन सी बाधा है ?"

प्रसिद्ध वेदांतवादी संन्यासी के शिष्य थे स्वामी निगमानन्द। इसलिए उन्होंने उन्होंने तुरंत ही इस तत्त्व को मान नहीं लिया, उसके मन में नाना प्रकार के सन्देह होने लगे। देवी इस बार सस्नेह कहने लगी, "बेटा, निगमानन्द, तुम्हारी साधना किन्तु अभी तक पूर्णांग नहीं हुई। तुम अब भाव की साधना, प्रेम की साधना की ओर अग्रसर होओ, लीला-रहस्य को हृदयंगम करना शुरू कर दो।"

स्वप्न भंग होने के साथ-साथ निगमानन्द उठ बैठे। उनके अन्तर की व्याकुलता अत्यधिक बढ़ गयी। साधन-जीवन की पूर्णता का पथ उन्हें कहाँ मिलेगा, कहाँ उन्हें परम की प्राप्ति होगी, इस चिन्ता से वे उद्विग्न हो उठे। हठात् उन्हें स्मरण हो आया गुरुदेव द्वारा कथित, हिमालय की उस संन्यासिनी महंत की बात। उत्तराखण्ड का भ्रमण करते समय स्वामी सच्चिदानन्द ने उन्हें महासाधिका गौरीमाताजी से परिचय करा दिया था। साधना के अन्तिम दिनों में निगमानन्द को उन्होंने एक बार अपने निकट आने के लिए भी कहा था। इसलिए अब वे उनके उत्तराखण्ड के आश्रम को चल पड़े।

प्रायः ढाई सौ वर्ष की यह गौरी माँ थी, किन्तु फिर भी इस लंबी आयु का प्रभाव उनके शरीर पर कुछ भी नहीं पड़ा था। तारुण्य-शोभित शरीर पर दिव्य कान्ति झक-झक कर रही थी। इनकी शिक्षा एवं कृपा-स्पर्श से स्वामी निगमानन्द की साधन-सत्ता में एक अपार्थिव आनन्द एवं प्रेम का प्रस्रवण खुल गया।

इसके बाद वे आसाम के गोहाटी और गारोहिल अञ्चल में चले आये। यहाँ वे कुछ समय तक एकांत वास करते रहे। इस काल में सदा एक अपार्थिव आनन्द का स्रोत उनकी अन्तर-सत्ता में निरन्तर प्रवाहित होता रहता था।

इस समय स्वामी निगमानन्द केवल अन्तर्जीवन की निगूढ़ साधना लेकर ही अपना समय अतिवाहित नहीं करते थे। उन्होने योगी गुरु, ज्ञानी गुरु, तांत्रिक गुरु आदि ग्रन्थों की भी रचना की जिससे जनसमाज में उनकी प्रसिद्धि हुई। सारस्वत मठ, ऋषि कुल शिक्षण संस्था आदि मे भी उन्होंने अपने संगठन-कौशल का यथेष्ट परिचय दिया। केवल आसाम, बंगाल, उड़ीसा में ही नहीं पश्चिम और दक्षिण भारत के विविध अंचलों में भी निगमानन्दजी की प्रभाव-प्रति पत्ति फैल गयी थी।

कर्ममय बहिरंग जीवन के अन्तराल में उनकी प्रेमाश्रित साधना प्रवाहित होने लगी और क्रमश: गुरु जीवन का एक नया नया अध्याय उन्मुक्त हो गया। निगमानन्द का यहां का साधन-जीवन माधुर्य, कृपालीला एवं योगैश्वर्य से भरपूर था। अपने सहज प्रेम एवं आन्तरिकता के स्पर्श से सामान्यत: वे भक्तों और शिष्यों को आकृष्ट करते थे ओर धीरे-धीरे उनमें रूपान्तर ला देते थे। उनकी आलौकिक योग-विभूति भी शिष्यों के साथ सम्बन्ध-स्थापन करने और उनके कल्याण-साधन में कम कारगर नहीं होती थी।

मध्य प्रदेश के बस्तर राज्य के राजा के मन में एक बार अध्यात्म-साधना की आकांक्षा जाग्रत हुई। योगसिद्ध ईश्वर-प्राप्त गुरु के लिए वे व्याकुल हो उठे। अंत में उन्होंने एक दिन दंतिकेश्वर की देवी मूर्ति के मन्दिर

में धरना दिया। उनके अभीष्ट गुरु देव कौन हैं? इसके लिए वे देवी के चरणों में बार-बार अनुनय-विनय करने लगे। इसी समय मन्दिर में अकस्मात् एक दैव वाणी सुनाई पड़ी—"वत्स, तुम्हारे गुरु बंगाल के महासाधक निगमानन्द सरस्वती हैं। उनका आश्रय ग्रहण करने से तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा।"

सुदूर मध्य प्रदेश में उस समय तक निगमानन्दजी का नाम प्रचारित नहीं हुआ था। अख्यात, अज्ञात यह महापुरुष कौन हैं? बंगाल में आदमी भेज कर उनकी खोज करायी गयी और पता लगाने पर निगमानन्दजी ने उनके साथ सम्पर्क स्थापित किया। इसके बाद वे निगमानन्दजी के चरणों में आ उपस्थित हुए। इन महात्मा के कृपा-स्पर्श से उनका अध्यात्म-जीवन संजीवित हो उठा।

इन्दौर के श्री पाठक राज्य सरकार के एक विशिष्ट कर्मचारी थे। एक बार संसार के माया-बन्धन से मुक्त होने के लिए वे व्यग्र हो उठे। कौन महापुरुष उन्हें आश्रय देंगे, किन के तत्व-ज्ञान-उपदेश से उन्हें वास्तविक शान्ति मिलेगी, इसको लेकर वे बहुत चिन्तित रहने लगे।

एक दिन नदी तट पर बैठे हुए विषण्ण भाव से वे सोच रहे थे, मेरे जीवन-द्वार में किसी तत्व-ज्ञानी महापुरुष का शुभागमन क्या नहीं होगा? इस बात को लेकर उनके अन्तः करण में तीव्र आलोड़न होने लगा। इसी समय एकाएक उनकी आँखों के सामने शून्य में एक दिव्य मूर्ति प्रतिभासित हो उठी। यह महापुरुष कौन हैं? इनका दर्शन तो उन्हें पहले कभी नहीं हुआ। अलौकिक मूर्ति धीरे-धीरे अदृश्य हो गयी। इसके अन्तर्धान होने के साथ साथ उनकी व्याकुलता और बढ़ गयी। अलौकिक रूप में देखे गए उक्त महात्मा की चिन्ता में वे तल्लीन हो गये।

कई दिनों के बाद पाठकजी को फिर एक अलौकिक निर्देश प्राप्त हुआ। नदी तट पर पूर्वोक्त स्थान पर उस दिन वे बैठे हुए थे, एकाएक उनकी दृष्टि

के सम्मुख स्वर्णाक्षर में तीन शब्द रूपायित हो उठे—स्वामी निगमानन्द परमहंस। इसके बाद भक्त एवं साधु-संतों की मण्डली में बहुत खोज करने पर इन मुमुक्ष व्यक्ति निगमानन्दजी का आश्रय प्राप्त करने में वे समर्थ हुए।

आश्रित भक्तों को मार्ग दर्शन करने और उनके जीवन में रूपान्तर साधन में इन शक्तिधर महापुरुष की कृपा का अंत नहीं था। अलौकिक योगैश्वर्य के प्रकाश द्वारा भी अनेक बार उनकी कृपा एवं आशीर्वाद दूर-दूर तक वितरित होते थे।

केवल अध्यात्म-साधना के मार्ग में ही नहीं, लौकिक जीवन की आपत्ति-विपत्ति में भी कितने ही लोगों को निगमानन्द महाराज की अलौकिक कृपा की याचना करते देखा जाता था।

त्रिपुरा के एक साधारण, अख्यात ग्राम का निवासी युवक अश्विनी था। माता, पत्नी और बालक पुत्र इन्हीं तीन को लेकर उसका परिवार था। आय बहुत साधारण थी, किसी प्रकार गुजारा होता था। यह परिवार निगमानंदजी का आश्रित था। कुटिया के एक कोने में परम श्रद्धा के साथ ठाकुर (निगमानन्द) का चित्र स्थापित करके परिवार के सब लोग प्रातः संध्या प्रणाम करते थे।

आकस्मिक रूप में अश्विनी रोगाक्रांत हुआ और एक दिन वह इस संसार से चल बसा। उस की वृद्धा माता और पत्नी शोक से पागल-जैसी हो गयी। कुटिया के एक कोने में गुरुदेव का चित्र रखा हुआ था। उस ओर दृष्टि डालते ही वृद्धा उत्तेजित हो उठी। सोचने लगी, जो ठाकुर विपत्ति के दिनों में इस प्रकार नीरव दर्शक बना हुआ है उसे घर में रखकर क्या होगा? तत्क्षण उसने चित्र को तलाब में फेंक देने का निश्चय किया।

चित्र को वह पानी में फेंकने ही जा रही थी जबकि पीछे से स्नेहपूर्ण आह्वान सुनायी पड़ा—माँ।

वृद्धा ने मुड़कर देखा, गुरुदेव निगमानन्द सजल नेत्र वहाँ खड़े हैं। चित्र को पानी में नहीं फेंका गया।

निगमानन्द करुण स्वर में कहने लगे, "चलो माँ, घर चलें, मैं ही तुम्हारा बेटा हूँ। मैं तुम्हें माँ कहकर पुकारूँगा। अश्विनी के लिए आंसू मत बहाओ, वह तो मेरे पास ही है।"

कब किधर से स्वामी निगमानन्द त्रिपुरा के इस अख्यात ग्राम में प्रकट हुये, यह एक अज्ञात रहस्य बना हुआ था। घर के सब लोगों को अनेक प्रकार से सान्त्वना देकर फिर न मालूम किस घड़ी में वे अदृश्य हो गये। अन्तर्धान हो जाने के बाद सब लोगों को यह बात समझ में आयी कि अलौकिक शक्ति बल से ही गुरुदेव उस दिन सहसा उनलोगों के बीच उपस्थित हुये थे।

एक बार की घटना है। स्थानीय कुछ बदमाशों ने अश्विनी के घर में बलपूर्वक प्रवेश करके उसकी विधवा पत्नी पर अत्याचार करना चाहा। इस संकट काल में भी असहाय तरुणी के भयार्त क्रन्दन को सुनकर निगमानन्दजी उसी प्रकार वहां प्रकट हुए थे। उनके तेजोदीप्त हुंकार को सुनकर गुंडादल वहां से भाग चला। भयभीत परिवार को आश्वासन देकर निगमानन्दजी ने घर से बाहर एक सीमा रेखा अंकित कर दी। रात में इस घेरे के अंदर रहते हुए कोई तुम्हारा अनिष्ट नहीं कर सकेगा—ऐसा कहकर महापुरुष अन्तर्हित हो गये।

अपने आश्रित शिष्यों को गुरु जीवन की भूमिका का वास्तविक स्वरूप क्या है यह समझा देने में निगमानन्दजी ने कभी त्रुटि नहीं की। इस विषय में उनकी वाणी स्पष्ट और द्विधारहित थी। वे कहा करते थे "देखा, मैं कोई अवतारी पुरुष न होकर साधारण मनुष्य हूँ। पशु-पक्षी कीट-पतंग इत्यादि अनेक योनियों में भटकता हुआ जन्म-जन्मान्तर की साधना के फलस्वरूप इस

जन्म में भगवान को जान पाया हूँ, ब्रह्मज्ञानी बना हूँ। मेरा व्यक्तित्व नष्ट हो चुका है, मेरे अन्तर में जगद्गुरु की इच्छा ही लीलायित हो रही है, मुझे तुम लोग जगद्गुरु जान रखो। मैं साधना द्वारा स्वयं मुक्त हो चुका हूँ— तुमलोगों को भी मुक्ति-मार्ग प्रदर्शित कर दूंगा, यही मेरा काम है।"

जीवों के परित्राण के लिए आश्वासन देते हुए निगमानन्द कहा करते थे, "देखो, जीवोंका आकुल क्रन्दन और ब्रह्माण्डपति को निवेदन इन दो के एकत्र होने पर सच्चिदानन्दघन विग्रह अपने अंशको जीवोंका दुःख दूर करने, दुष्टों का दमन और शिष्टों का पालन करने के लिए इस पृथ्वी पर भेजा करते हैं, और अन्यान्य देवताओं को उनकी सहायता के लिए जन्म ग्रहण करने को कहते हैं।...सद् गुरु-गण जीवों के दुःखसे आकुल होकर प्रार्थना करते हैं। मैं भी प्रार्थना करता हूँ—इस समय चारों ओर जो विरोध और असामंजस्य देखे जा रहे हैं, उनका समाधान उनके आये बिना और कोई नहीं कर सकता। और वे शीघ्र ही आयेंगे, उनके आने में अधिक विलंब नहीं है!"

शक्तिधर साधक के आचार्य जीवन का अन्तिम अध्याय क्रमशः सन्निकट हो आया। धीरे-धीरे बाहर के द्वार को बंद करके वे अंतर्मुखी होने लगे। १९३५ ई० के एक अपराह्न में सद्गुरु की जीवन लीला के अन्तिम अंकपर धीरे-धीये यबनिका-पात हुआ। अपने असंख्य शिष्यों एवं भक्तों को शोक-सागर में निमग्न करके स्वामी निगमानन्द सरस्वती चिर समाधि में लीन हो गये।

प्रभु श्री जगदबन्धु

प्रभु श्री जगद्बंधु

मुर्शिदाबाद की रानी स्वर्णमयी के प्रासाद में एक दिन एक नेपाली संन्यासी उपस्थित हुए। योग और ज्योतिर्विद्या दोनों के वह पारदर्शी हैं। बहुत से लोग भूत-भविष्यत् जानने की आकांक्षा से उन्हें घेर कर बैठे हैं। आयुर्वेद-शिरोमणि गंगाधर कविराज महाशय और पंडित दीनानाथ न्यायरत्न, ये दोनों अन्तरंग बन्धु भी वहां उपस्थित हैं। डिब्बा से एक चुटकी नस लेकर गंगाधर ने सोत्साह न्यायरत्न से कहा, "कहाँ है वे तुम्हारे नवजात पुत्र की कुण्डली ?" झोली से कुण्डली बाहर निकली। संन्यासी ने गम्भीर भाव से उसका पर्य्यावेक्षण किया। विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से बारंबार उसे देखकर उन्होंने प्रश्न किया, "आपका यह शिशु क्या जीवित है। एकबार क्या मुझे उसे दिखा सकते हैं।"

दीनानाथ न्यायरत्न गृहाभिमुख दौड़ पड़े। शिशु के आते ही संन्यासी ने बड़े आदर से उसे गोद में उठा लिया। सभी लोगों ने विस्मित हो देखा, गैरिक धारी सर्वत्यागी साधु शिशु के छोटे-छोटे रंगीन दोनों पाँव बारंबार माथा से लगा रहे हैं, और उनकी दोनों आँखों से अश्रुधारा बहकर नीचे झरझर गिर रही है। दीनानाथ न्यायरत्न व्याकुल कण्ठ से कह उठे, 'साधुबाबा, आप यह क्या कर रहे हैं ? इससे तो मेरे पुत्र का अकल्याण होगा।"

उत्तर हुआ, 'पंडितजी, मेरा इस अंचल में आना आज सत्य ही सार्थक हुआ। आपके सर्व-सुलक्षण यह शिशु पुत्र एक महापुरुष रूप में ख्यात होंगे।

इसे दर्शन करने के सौभाग्य लाभ से आज मैं धन्य हुआ।" कुछ देर बाद ही यह नेपाली साधु कहीं अदृश्य हो गया।

एक और दिन की बात। नयनाभिराम पुत्र को लेकर दीनानाथ न्याय रत्न बाहरी दालान में बैठे हैं। देवी खिटेश्वरी के मंदिर से दर्शन कर लौटते हुए एक जटाजूट-लंबित साधु उनके घर में उपस्थित हुए। इस शिशु की ओर स्थिर दृष्टि से बहुत देर देखते रहकर साधु ने गंभीर कंठ से कहा, "यह बच्चा किसका है? आगे चलकर यह तो राजा होगा!" न्याय रत्न ने मंदमंद हंसते हुए कहा "साधुजी, मैं तो एक नितान्त गरीब ब्राह्मण हूं, मेरे पुत्र के लिए राजा होना किस तरह संभव है?"

गंभीर कंठ से संन्यासी ने उत्तर दिया, "भोग का राजा नहीं, योग का राजा!" किन्तु इसके बाद संन्यासी वहां ठहरे नहीं।

न्यायरत्न महाशय के अंतर का आलोड़न रुकना नहीं चाहता था। शंकित हृदय से पत्नी के साथ शिशु-सन्तान के सम्बन्ध में तरह-तरह की आलोचना करते रहते। दरिद्र के हृदय का सर्वस्व धन—किसी तरह बचा रहे, फिर घर गृहस्ती न छोड़े? वाष्पाकुल आंखों को पोंछकर न्यायरत्न महाशय अस्फुट-स्वर में पुकार उठते, 'नारायण, नारायण।'

यह शिशु ही आगे चलकर प्रभु श्रीजगद्बंधु-नाम—प्रेम के एक महान प्रचारक हुए। पूर्व बंग के फरीदपुर स्थित श्रीअंगन में उन्होंने हरिनाम की जीवन्त-धारा प्रवाहित कर दी। अध्यात्मरस के अमृत वर्षण से उन्होंने भक्त जीवनों को रस स्निग्ध कर नया जीवन दिया। व्रज-रस-साधना का निगूढ़ तत्व जगद्बन्धु के दिव्य जीवन में प्रतिफलित हो उठा। उनके अलौकिक महा-जीवन ने प्रेम-धर्म के उत्सरूप में विराजित रह चारो ओर हरिनामामृत की रस धारा प्रवाहित कर दी।

प्रायः साढ़े चार सौ वर्ष पहले प्राचीन गोआलन्दो के निकटस्थ कोमर-पुर ग्राम की खूब प्रसिद्धि थी। पद्मातीर के इस ग्राम में विद्वान तथा धर्म-निष्ठ ब्राह्मण वासुदेव चक्रवर्त्ती वास करते थे। पूर्वबंग भ्रमण के समय श्री गौराङ्गदेव ने इन्हीं आचार्य वासुदेव के घर पर आतिथ्य ग्रहण किया था। कमर भर जल में खड़े होकर इस स्थान पर महाप्रभु ने स्नान किया था, इसीसे इसका नामकरण हुआ कोमरपुर। आगे चलकर यह ग्राम गंगा के गर्भ में निमज्जित हो गया और चक्रवर्त्तीगण ने पद्मातीर के गोविन्दपुर ग्राम में जाकर आश्रय लिया।

इसी वंश के शास्त्रज्ञ और आचारनिष्ठ ब्राह्मण श्री दीनानाथ न्यायरत्न ने मुर्शिदाबाद डाहापाड़ा अंचल में आकर अध्यापन की वृत्ति अपनाई। न्यायरत्न महाशय के पांडित्य की जैसी ख्याति थी, साधननिष्ठ भगवद्भक्त के रूप में भी उनकी परिचय-प्रतिष्ठा कम नहीं थी। महिमती पत्नी वामादेवी के साथ कुलदेवता राधा गोविन्द की सेवा में उनके दिन बड़े आनंद से कटते। इन आदर्श दंपती के घर में जानकी नवमी के दिन महेन्द्रयोग में उनकी तृतीय संतान का जन्म १२७८ साल (१८७१ ई०) में सत्रहवीं मई को हुआ। रूपलावण्यमय इस बच्चे का नामकरण हुआ जगत—यही आगे चलकर बहुसंख्यक भक्तजनों के प्राणप्रिय प्रभु जगद्बन्धु के नाम से प्रसिद्ध हुए।

न्यायरत्न के घर के आनंदमय वातावरण में इसी बीच एक दुर्घटना घटी। माता वामादेवी चौदह मास के इस शिशु को छोड़कर अकस्मात् एक दिन परलोक चल बसीं। मातृहीन बालक को लेकर न्यायरत्न महाशय बड़ी विपत्ति में पड़े। किस प्रकार का इसका लालन-पालन चलेगा, इस चिंता का वह समाधान नहीं कर पाते। निरुपाय होकर बच्चे को लेकर वह अपने गाँव गोविंदपुर आ पहुँचे। यहाँ पर दीना-

नाथ की भतीजी वालविधवा दिगंबरी देवी ने जगत के लालन-पालन का भार लिया।

पद्मा की धारा से सजल-सरस गोविंदपुर के श्यामल परिसर में स्वर्णकांति शिशु जगद्‌बन्धु घूमते फिरते। वह केवल दीदी दिगंबरी की आंखों का नूर ही नहीं था, पड़ोसियों के आनंददाता के रूप में भी वह दिन-दिन बड़े होते गए। जगत जब चार साल के हुए तो परिवार में और भी दुर्घटना घटित हुई। दीनानाथ न्यायरत्न महाशय स्वयं भी सहसा परलोक सिधार गए। एक अज्ञात ईश्वरीय विधान के अनुसार ही बचपन में ही जगद्‌बन्धु जीवन के दो बड़े बन्धनों से उन्मोचित हो गए।

न्यायरत्न महाशय की परलोक-यात्रा के कुछ मासों के अभ्यंतर चक्रवर्ती वंश की गोविंदपुर बस्ती के घर-द्वार पद्मानदी के गर्भ में कट कर विलीन हो गये। इसके बाद फरीदपुर के शहरी हिस्से के ब्राह्मकान्दा में उनलोगों का नया आवास निर्मित हुआ। सारे के सारे परिवार वहीं बसने लगे।

जगत जिस समय फरीदपुर जिला-स्कूल के छठे वर्ग में पढ़ते थे उनकी उम्र तेरह साल की थी। इसी समय उनका उपनयन संस्कार संपन्न हुआ। और इसी वयस से बालक के अन्तर्लोक में एक विचित्र परिवर्तन होने लगा। अंधेरी रात में वन-जंगल कहाँ वह घूमने निकल पड़ता इसे जानना कठिन था। कभी मौन अवस्था में, कभी ध्यान लगाकर वह घर में बैठा रहता। अन्य अनेक बालकों के बीच अपना अलगाव रखने का अभ्यास जैसे करता रहता हो। गोरे-गोरे छरहरे बदन को जो कोई देख पाता उसकी ओर खिंचे बिना रहीं रहता। पर लावण्य—मंडित सुगठित शरीर को कपड़े ओढ़कर वह ढके रहता, वह उसका एक प्रकार का जन्मजात अभ्यास था। जगत की ईश्वर-भक्ति और पवित्रता का आकर्षण कुछ कम

नहीं था। यह अलक्ष्य रूप से संगी-साथी छात्रों के दल को उसके आस-पास खींच लाता, हरिनाम के प्रति उसका अनुराग सभी के नयनों में जैसे दिव्य अंजन लगा जाता हो।

अन्तर की इस प्रेम-उन्मादना और तन्मयता के लिए जगत को इस कच्ची उम्र में भी कम मूल्य नहीं चुकाना पड़ता। उस दिन जिला स्कूल में आठवीं कक्षा की वार्षिक परीक्षा चल रही थी। परीक्षार्थी जगत प्रश्नपत्र के कुछ प्रश्नों का उत्तर लिखकर, न जाने क्यों, भावावेश में उन्मन होकर बैठा था। एकांत उदास भाव से एकटक सामने की ओर देख रहा था। इसी समय प्रधान शिक्षक ने आकर उसे पकड़ लिया। उन्हें सन्देह था कि जगत अनैतिक भाव से दूसरे परीक्षार्थी से कुछ उत्तर जानने की चेष्टा में लगा है। तेजस्वी बालक गर्दन उठाकर खड़ा हो गया। शिक्षक के भ्रम के विरुद्ध व्यर्थ कुछ न कहकर धीर गति से विद्यालय छोड़कर बाहर निकला।

शिक्षकों ने जगत की उत्तरपुस्तिका की जाँच की तो समझ में आया कि जो कुछ उत्तर उसने लिखा सब उसका अपना था। बिन्दुमात्र भी उसने अवैध नकल नहीं की थी। उसी समय उसे फिर बुला लेने की चेष्टा की गई। किन्तु तेजस्वी बालक तब तक कहीं निकल चुका था, कोई पता न पा सका। फरीदपुर स्कूल से उसका सम्बन्ध सदा के लिए विच्छिन्न हो गया। यहाँ पढ़ने को फिर वह राजी नहीं हो सका। प्रधान शिक्षक महाशय अपनी इस खेद-जनक भूल को कभी नहीं भूल सके।

जगत अपने चचेरे भाई तारिणी बाबू के यहाँ राँची गया था। पड़ोस के एक सज्जन महाशय का घोड़ा बड़ा बदमाश था, कोई उसे लगाम नहीं लगा सकता। कोई भी सवार उसकी पीठ पर आते न आते जमीन पर पटक दिया जाता। जगत यह सब देखता और मुसकिराता। एक दिन

उसने घोड़े के मालिक के पास यह विचार प्रकट किया कि मैं एक बारगी घोड़े को कब्जे में कर लूँगा। तारिणी बाबू व्यग्र होकर बारंबार कहने लगे, "जगत, ऐसा दुःसाहस तुम्हारे लिए ठीक नहीं।"

बालक ने जवाब दिया, "घोड़े की बात ही क्या, कितने ही बाघ-सिंह को चूहे की तरह सेंत कर मैं खेलना जानता हूं।" घोड़े की पीठ पर सवार होकर उसने चाबुक लगाई। फिर क्या था, पल भर में सवार को लेकर घोड़ा कहीं उड़ चला। बहुत देर के बाद देखा गया कि घोड़ा-सवार दोनों वापस आ गये हैं। और दुर्दांत जानवर सवार के बिलकुल कब्जे में आ गया है। सबों ने आश्चर्य के साथ देखा, सवार को पीठ पर लिए घोड़ा शान्त भाव से खड़ा है। पवित्रात्मा बालक जगत के स्पर्श और अलौकिक प्रभाव से जैसे वह अत्यंत ही सीधा बन गया है।

अध्ययन के लिए जगत पावना आया। नाम-प्रेम की उन्मादना उसकी बढ़ती ही जा रही थी। इस पन्द्रह साल के किशोर का व्यक्तित्व एवं सहज अलौकिक शक्ति छिपाये नहीं छिपते। उसको केन्द्रित कर सहपाठी छात्र-दल जुटने लगे।

समसामयिक छात्रों के ऊपर उसका यह नेतृत्व कुछ लोगों के लिए ईर्ष्या का कारण बन गया। ब्रह्मचर्य-साधन और नाम-कीर्तन के बीच छात्रों को घसीट कर क्यों लाया जा रहा है? जगत छात्रों को अत्यन्त अनिष्ट करने पर तुला है, सबों को घर-द्वार छुड़ाकर बाबाजी बनाने का वितंडा खड़ा कर रहा है, कोई-कोई यह भी कह बैठते। इन दिनों दुष्टों का एक गिरोह उस पर उपद्रव एवं अत्याचार करने में बाज नहीं आया। किन्तु क्षमाशील भद्र-मूर्ति किशोर के व्यवहार से इन लोगों का उत्पीड़न धीरे-धीरे मन्द पड़ता गया।

जगत का व्यवहार, आचरण एवं हाव-भाव क्रमशः और भी तेजी से बदलते जा रहे थे। अलौकिक माधुर्य रस से उनका जीवन भर उठा—प्रेमभक्ति के भावावेश में बहुधा वह अधीर एवं उद्वेलित हो उठते। जगत एक दिन इच्छामती नदी में स्नान के लिए गये। दूर से ही कोई व्यक्ति प्रह्लादचरित अभिनय का एक गीत गा उठा, "आर कवे देखा पाव युगल रूप एकासने"—अब कब युगल छवि एकत देखिहौं! सुनते ही जगत का वाह्य ज्ञान लुप्त हो गया। नयनाभिराम युगल छवि का ध्यान आते ही नदी के तट पर मूर्छित गिर पड़े। एक वृद्ध वैष्णव निकट ही खड़े थे; इस सात्विक भाव के मर्म को समझने में उन्हें देर नहीं लगी। उसके निर्देश करने पर लोग हरिनाम कीर्तन करने लगे। बहुत देर के बाद बालक की चेतना लौटी। किसी प्रकार उठाकर उसे घर पहुँचाया।

घर के लोगों की तो महाविपत्ति थी। जगत को कीर्तन में भेजते हैं तो प्रेमोन्माद में वह क्या-न-क्या कर बैठते और घर में रोक रखते तो भी निस्तार नहीं था। एक बार नामकीर्तन और मृदंग की ध्वनि सुनते ही वह एकबारगी विह्वल और मूर्छित हो पड़े। किशोर साधक के प्रेमाविष्ट शरीर में सात्विक भाव के अनेक लक्षण स्पष्ट दीखते। उसके दर्शन के लिए लोगों की भीड़ बढ़ने लगी।

तरुण भक्त को जो सब देखने आते चकित हुए बिना नहीं रहते। प्रेम भक्ति में सराबोर अंग-प्रत्यंग! —प्रेमोन्मत्त किशोर साधक के भीतर तपस्या-परायण महावैष्णव का दर्शन कर विस्मित हो उठते। जगत के कीर्तन की धुन सुनकर जो खिंचे आते वे इस शुद्धाचारी तरुण तपस्वी के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाकर धन्य हो उठते। कोमल-कड़ी स्वरलहरी-गुंफित जगद्-बन्धु की जीवन-रागिनी में इस समय अपूर्व समन्वयवाणी छन्दित हो उठती। और वह रागिनी दूर-दूरांत से आगत भक्तों के प्राणों में दिव्य प्रेम की झंकार

भर देती। किशोर जगत इस बार लोकगुरु जगद्बन्धु के आसन पर धीरे-धीरे आसीन हो रहा था।

पावना के समीप ही एक पुराने बड़गद पेड़ की छाया में प्राचीन जीर्ण-शीर्ण दालान था। इसी की एक दुर्गंधमय, अंधकाराच्छन्न छोटी कोठरी में शुद्धाधारी साधक जगत किस को घेर कर जा बैठा है? वह कौन है जो अर्धविक्षिप्त-सा, डांड़ में सिर्फ एक मैली-कुचैली लंगोटी चढ़ाये आनन्द में मग्न बैठा है। बीच-बीच में वह पगला उल्लास के मारे जोर-जोर से चिल्ला उठता है, 'जगा रे जगा, जगा रे जगा।"

शहर के लोग इसे 'पगला' कह कर पुकारते। जगत ने इसका नाम आदर के साथ रखा है—'बूढ़ा शिवा' उसके वासस्थान में सर्प का बड़ा उपद्रव है. इस एकांत जर्जर खंडहर में सहसा कोई नहीं आता। फिर जब पगला बाजार में भिक्षा के लिए जाता तब सभी उसे बड़े आग्रह से घेर कर बैठ जाते। रोग-शोक, मामला-मुकदमा से लेकर सभी प्रकार की विपत्तियों में आर्त भक्तों का दल उसकी शरण में आये बिना नहीं रहता।

इस वाक्सिद्ध महापुरुष की करुणा-गाथा से पावनावासी अनेक प्रकार से परिचित हैं। उसकी नाना अलौकिक सिद्धियों की कहानी से भी कोई अज्ञात नहीं है। यही पागल एक दिन जगत की दीदी गोलकमणि के निकट कह उठा था—देख दीदी, जगा मानुष नहीं है, मैं भी मानुष नहीं हूँ। तब भी जगा राजा ठहरा और हम सब प्रजा जो ठहरे।" उस दिन पहेलिका जैसी इस बात का रहस्य समझने में सर्वथा असमर्थ होकर जगत की दीदी विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर केवल देखती रह गई।

किशोर साधक के जीवन का आवरण अब धीरे-धीरे खुलता जा रहा था। पूर्व संकेतित महाजीवन की भूमिका में अवतीर्ण होने की लग्न-

घड़ी उपस्थित होने में अब अधिक देरी नहीं थी। आश्चर्य की बात, ताड़ासेर के प्रभावशाली जमींदार वनमाली राय, नित्यानंद-कुलोद्भव श्री श्यामलाल गोस्वामी, अद्वैत कुल के श्रीरघुनंदन गोस्वामी-पाद आदि विशिष्ट व्यक्ति इस बार इस दिव्यशक्ति किशोर को "प्रभु-प्रभु" कहकर श्रद्धा के साथ संबोधित करने लगे। लोकगुरु जगद्बन्धु के प्रकाश का पर्व अब सन्निकट था।

ईश्वर-सम्बन्धी कोई चर्चा, भक्तिमूलक कोई संगीत सुनते ही जगद्बन्धु में अपूर्व प्रेम के सात्विक भाव देखे जाते और बहुधा वह भाव-समाधि में लीन हो जाते। इसीसे उनको लेकर संगी-साथियों के संकट की सीमा नहीं रहती। एक बार पावना शहर की गली में ध्रुवचरित्र का यात्रा—अभिनय चल रहा था। परिसर के एक छोर में जगत अपने किशोर साथियों के साथ बैठे थे। 'कोथाय पद्मपलाश लोचन हरि'—कहाँ छिपे हरि कमलनयन रे—ध्रुव के आकुल कंठ से यह करुण स्वर निकल रहा था। हरि और कहाँ गये? जगद्बन्धु के अन्तर्जगत में भाव-समुद्र आलोड़ित हो उठा, क्रमशः वह वाह्यज्ञान-शून्य हो गये। चारो ओर से कौतूहली जनता उनकी ओर एक टक निहार रही थी।

प्रसिद्ध डाक्टर चन्द्रशेखर काली उस समय तरुण वयस के थे। अभी-अभी डाक्टरी परीक्षा पास कर निकले थे। डा० काली भी उस दिन नाटक देखने के लिए वहाँ आये थे। यह घटना देखकर उनका मन उद्विग्न हो गया। मन में सोचा, जगद्बन्धु को या तो हिस्टीरिया का रोग है या दिखावे का यह भावावेग मात्र है। अपने साथ के लोगों के द्वारा वह उन्हें किसी प्रकार धर-पकड़ कर पास के घर में ले गये। प्रकृत तथ्य के निर्णय के लिए सब प्रकार की वैज्ञानिक जाँच की गई। डॉ० काली ने देखा, इस बेहोशी का रूप-निदान उनके चिकित्सा-यंत्रों से कुछ स्पष्ट नहीं होता। तब उन्हें यह

भूल मालूम हुई कि इस प्रेमिक साधक को इस प्रकार परीक्षा के लिए यहाँ ले आना उचित नहीं हुआ। एक अव्यक्त भय से भीत होकर 'झटपट फिर वहीं यात्रा-अभिनय के मंच के निकट उन्हें पहुँचा दिया। डा० काली के मनोजगत में उस दिन एक बहुत बड़ा भूचाल आया। उन्होंने समझ लिया कि बुद्धिग्राह्य ज्ञान के ऊपर भी कुछ परम चैतन्य का अस्तित्व है, जिसकी जानकारी उन जैसे व्यक्तियों की समझ से परे है।

और एक दिन कीर्तनानन्द के बाद प्रभु जगद्बन्धु के शरीर में प्रेमावेश का भाव देखा गया। एक दुष्टबुद्धि व्यक्ति ने इस समय उनकी परीक्षा के लिए उनके पैर की अंगुली पर जलती लकड़ी रख दी। अंगुली जल रही थी और इस ओर जगद्बन्धु का भ्रूक्षेप भी नहीं हुआ। बाद में जलती लकड़ी को देखकर साथी लोगों ने इसे अलग उठाकर फेंक दिया। आग से जले पैर के घाव को सूखने में कई दिन लग गये। पर इस दुष्ट व्यक्ति को भी आगे चलकर जगद्बन्धु ने स्नेहाश्रय देकर कृतार्थ किया।

भक्तप्रवर वनमाली राय के आग्रह पर जगद्बन्धु एकबार ताड़ास के राजभवन में उपस्थित हुए थे। उनकी सेवा और मनोरंजन के वास्ते वनमाली बाबू की तत्परता की कोई सीमा नहीं थी। नामकीर्तन और उद्दाम भावनृत्य से सारा वातावरण गुंजित था।

वनमाली बाबू ने सुना था, इससे पूर्व दुष्टों का एक दल प्रभु जगद्बन्धु पर प्रहार कर चुका था। प्रतापी जमींदार वनमाली बाबू ने उन्हें बहुत-कुछ पूछा कि किन पाषंडियों ने उनके शरीर को आहत किया था? उन लोगों का नाम बताना होगा। वह उन लोगों को दंड दिये बिना नहीं रहेंगे। जगद्बन्धु ने किन्तु अनेक अनुरोध-उपरोध करने पर भी किसी का नाम नहीं बताया। भावतन्मय होकर उदास नेत्रों से केवल कुछ देर तक देखते रहे। उसके बाद उत्तर दिया,

"मैं तो किसी को दंड देने नहीं आया, उद्धार करने के लिए ही आया हूँ।"

"ताड़ास के जमींदार के घर में श्रीराधाविनोद की विग्रह मूर्त्ति स्थापित थी। भक्त सेवक लोग उन्हें 'जमाई विनोद' कहा करते। कभी किसी समय ठाकुर श्रीराधाविनोद ने जमींदार-वंश की एक परम भक्तिमती कुमारी कन्या को पत्नी के रूप में अंगीकार किया था, उसे अपना बना लिया था। उस दिन से 'जमाई विनोद' का बड़ा सम्मान और रोब-दाब था। उनकी आदर-सत्कार की व्यवस्था भी ठीक जमाई के समान होता। परम वैष्णव जमींदार-वंश की सन्तान वनमाली बाबू स्वयं भी अत्यन्त भक्त थे। किन्तु अंग्रेजी-शिक्षा एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण को छोड़ सकना दुष्कर था। 'जमाई विनोद' के विग्रह की इस प्रकार की सेवा-भावना को वह सहज प्रतीति एवं आंतरिकता से सब समय ग्रहण नहीं कर पाते थे। प्रभु जगद्बन्धु से इस बार वनमाली राय की यह कमजोरी छिपी नहीं रह सकी।

एक दिन श्रीराधाविनोद के स्नान, पूजा एवं भोग-राग का निवेदन पूरा हो चुका था। अब तम्बाकू सेवन की बारी थी। प्राचीन प्रथा के अनुसार जमाई के समान ही विग्रह के आगे तंबाकू की गुड़गुड़ी निवेदन की जाती। जगद्बन्धु ने उस समय वनमाली राय को बुलाकर कहा, "चलो, अब जमाई बाबू का तंबाकू सेवन देख आएँ।" अंग्रेजी-शिक्षित वनमाली राय रजवाड़े की इस प्रथा को कभी कोई महत्त्व नहीं देते थे। प्रभु एवं अपने सहचर-अनुचर के साथ वह मन्दिर पहुँचे। सबों ने देर तक देखा, राधाविनोद के आगे रखी गई गुड़गुड़ी से धुआँ निकल रहा है और बराबर पीने के समय जैसी गुड़-गुड़ की आवाज सुनाई दे रही है। अलक्ष्य रूप से सत्य ही, कौतुकी जमाई-विनोद तंबाकू सेवन कर रहे थे।"

इस लोकोत्तर लीला को देखकर वनमाली बाबू की आँखों से आनन्द के आँसू निकले। विग्रहमूर्ति की सेवा का मर्म इस बार उनसे छिपा नहीं रहा। समझ में आ गया कि मंत्र-चैतन्य के समान सेवा-चैतन्य भी परम प्रभु के कृपा-बल से स्फुरित हो उठता है एवं वैष्णवगृह के राधा-माधव की सेवा निष्ठा के माध्यम से यह सौभाग्य मिला करता है। प्रभु जगद्बन्धु ने उस दिन इस अलौकिक शक्ति के प्रकाशन द्वारा वनमाली राय के दृष्टिकोण में रूपांतर उपस्थित कर दिया।

इसके बाद प्रायः दो साल तक अनेक तीर्थों की परिक्रमा करते हुए प्रभु जगद्बन्धु श्रीवृन्दावन आ पहुँचे। 'व्रज की धूलि में लोट-लोटकर वह भाव-विह्वल हो उठे। उनके प्राणों की आर्ति दुर्निवार हो उठी। श्रीराधा-रानी के दर्शन बिना उनका जीवन ही जैसे व्यर्थ है। श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति जो ठहरी। जगद्बन्धु ने उन्हीं की शरणागति ली और उन्हीं के अनुध्यान में वह सदा विह्वल रहा करते। प्रभु कभी अस्फुट स्वर में गा उठते, "एइ भव कुहक रे—राइ तुमि उद्धारण" अर्थात् इस भव-अंधकार से राधिके ! तुम्हीं उद्धार करनेवाली हो। कभी जमीन पर पछाड़ खाकर गिरते, रोते वृषभानुनंदिनी की करुणा की याचना करते। राधा-कुंड के तीरे-तीरे परिक्रमा करते गुहराते रहते।

अलौकिक आनन्द के निर्झर का मुख-स्रोत खुल गया। परम प्रार्थित कृपा-विभूति इस बार जगद्बन्धु को प्राप्त हो गई। आराध्य देवी महा-भावमयी राधारानी के दर्शन मिल गये और उसके साथ ही वह चेतना-हीन हो गये। जब चेतना लौटी और कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ हुए तो प्रभु ने अपने हाथ से लिखा—

"जय राधे धर्मं जय राधे जय
जय राधे कर्मं जय राधे जय।"

<< उनके जीवन के स्तर-स्तर में दिव्य आनंद तरंगित हो रहा था। अद्वैतकुल के भक्तप्रवर श्री रघुनन्दन ने इन दिनों उनसे आग्रह के साथ जिज्ञासा की थी, प्रभु, आप के गुरु कौन हैं ? कहाँ से आपने इस अनुराग प्रेमसाधना की दीक्षा प्राप्त की ?" जगद्‌बन्धु ने प्रेमाकुल कंठ से उत्तर दिया, "मेरे गुरु आपकी वृषभानुकुमारी ने ही तो मुझे मंत्र प्रदान किया हैं।"

मंत्र पाने की प्रक्रिया भी बहुत विचित्र है। इसके बाद से प्रभु अपने मुख से 'राधा' शब्द का उच्चारण कभी नहीं करते। केवल अपने मुख से ही नहीं, किसी के मुख से यह नाम सुनते ही जैसे वह खो जाते। राधा कुंड का यदि उन्हें नाम लेना होता तो 'अमुक कुंड' कहकर उसे पुकारते। प्रसंग वश श्रीराधा की कथा चर्चा छिड़ती तो कह उठते "आप की किशोरी"। आगे चलकर देखा गया कि भक्त प्रवर राधिका गुप्त (बाद के रामदास बाबाजी) को वह 'राधिका न कहकर 'सारिका' नाम से काम चलाते। >>

राधारानी के नाम उच्चारण करते ही विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती, प्रभु के शरीर में तीव्र प्रेम-विकार प्रगट होता। वह स्थिति पैदा न हो इसीसे इस नाम से अपने को बचाये चलते। एक बार जगद्‌बन्धु ने जब यह सुना कि, उनके पद का चिह्न का अनुकरण करते हुए प्रिय भक्त राय हरिदास ने भी राधा नाम का उच्चारण छोड़ दिया है, तुरत उन्हें बुलाकर धीर-गंभीर स्वर से फटकारते हुए कहा; "हरिदास, यह नाम लोगे नहीं तो तरोगे कैसे ?" हरिदास को यह समझते देर नहीं लगी कि अनधिकारी होकर प्रभु का जो अनुकरण कर बैठे यह अच्छा नहीं किया। प्रभु जगद्‌बन्धु के इस साधारण तिरस्कार से बहुत सी बातें उनके हृदय में चिर दिन के लिए खचित हो गई।

वृन्दावन में राधारानी का आशीर्वाद लाभ करने के बाद जगद्बन्धु फरीदपुर के ब्राह्मण टोले में आ उपस्थित हुए। यही उनका अपना गाँव था। तरुण साधक को केन्द्रित कर वहाँ कुछ ही समय के भीतर कीर्तन का आनंदोल्लास छा गया। पहले आकर जुटे वे लोग जो उनके बचपन के साथी थे। उसके बाद गाँव के जन साधारण, फिर दूर-दूर के ग्रामवासीगण भी उमड़ पड़े। पहर के बाद पहर, दिन के बाद दिन कीर्तन चलता रहता। किस अदृश्य हाथों सुचारु रूप से इसकी व्यवस्था होती और कौन इसका व्यय-भार वहन करता, किसी को कुछ पाता नहीं चलता। कीर्तन स्थली की ओर आकर्षित होकर जो कोई भी आता, जगद्बन्धु के दिव्य श्री-मंडित रूप देखकर विह्वल हो उठता—स्वयं वहीं रम जाता। भावावेश में उद्वेलित होकर प्रभु गीत पर गीत रचते जाते और उसे सुर में बांधते जाते। कीर्तन-प्रांगण में वह अपनी प्रेरणा का प्रकाश बिखेरते जाते। पूर्व बंगाल की पद्मा नदी के तीर पर लोकोत्तर पुरुष जगद्बन्धु इस समय ईश्वर-निर्दिष्ट भूमिका ग्रहण कर आत्म प्रकाश कर रहे थे।

फरीदपुर शहर के एक छोर पर बूनो-बाग्दी लोग थे। किसी समय इन लोगों को निलहे लोगों ने संथाल परगने से लाकर यहाँ बसाया था। वर्त्तमान समय में सड़क, बाँध और नहर बनाकर और जंगली सूअरों को मारकर ये लोग जीविका चलाया करते। यह वर्ग हिन्दू-समाज में नितांत उपेक्षित अछूत माना जाता। जगद्बन्धु को यह खबर लगी कि इस बूनो-समाज को ईसाई बनाने की बड़ी चेष्टा चल रही है। यह खबर सब जगह फैल गई थी, किन्तु जर्जर हिन्दू-समाज के हृदय में साधारण-सी खरोंच भी नहीं लगी। इसके लिए प्रभु जगद्बन्धु के प्राण रो रहे थे। उन्होंने व्याकुल होकर एक दिन बूनो-बाग्दी समाज के मुखिया रजनी सरदार को अपने यहाँ बुला भेजा।

रजनी खुद देवी का उपासक था। सिद्धाई और झाड़-फूँक के लिए देश में उसका नाम-दुर्नाम दोनों ही था। लम्बी – चौड़ी छाती, लाल-लाल आँखें और बिखरे बाल वाले कृष्णकाय रजनी सरदार को देखकर उस अंचल के लोग भीत रहते। प्रभु जगद्बन्धु को रजनी देख चुका था। नगर-परिक्रमा के अवसर पर कीर्तन करते हुए प्रभु की भावाविष्ट मूर्ति देखकर वह मुग्ध हो चुका था। उसके सारे शरीर-मन-प्राण को जैसे वह उखाड़ चुके हों। प्रकाश रूप से साहस करके इतने दिनों तक वह उनके निकट नहीं पहुँच सका था। आज उन्हीं करुणामय प्रभु ने उसे बुला भेजा है। आनन्द से अधीर होकर रजनी सरदार इससे जगद्बन्धु के आँगन में आकर उपस्थित हुआ।

"रजनी आया, रजनी आया! कहकर प्रभु ने बूनो-सरदार को छाती लगा लिया। रजनी तो दिव्य शरीर के आलिंगन से क्षण भर में ही अभिभूत हो गया। प्रभु उससे कहते जा रहे थे, रजनी याद रखना, तुम बूनो जाति के लोग हीन नहीं हो। तुम सब हरि-जन हो, मेरे अत्यंन्त प्रियजन हो। हमारा तुम्हारा यह घनिष्ठ परिचय-प्रेम कायम रहे। शीघ्र ही तुम्हारे सारे दुःख —कष्ट दूर हों। आज से तुम रजनी सरदार नहीं रहे, तुम हरिदास हुए भवनमंगल हरिनाम लिया करो। सभी धन्य बनो। तुम लोग आज से बूनों नहीं रहे, अब से 'महंथ संप्रदाय' के नाम से तुम पुकारे जाओगे।"

प्रभु ने और भी आदेश दिया कि तुम पूरे समाज के साथ यहाँ आकर श्री राधागोविन्द का प्रसाद ग्रहण करोगे। तुम्हारे संप्रदाय के जितने भी लोग हैं, स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े, सबों को साथ लेते आओ।

पतितपावन जगद्बन्धु के स्पर्श से रजनी सरदार का रूप परिवर्तन होकर ही रहा। प्रांगण से बाहर आकर खड़ा हो गया। उसके पैर के नीचे आज नई भूमि थी, माथे के ऊपर नया आसमान था। वह खुद भी नव मानव के रूप में नवजन्म लाभ कर चुका था।

रजनी सरदार के माध्यम से जगदबन्धु ने समस्त बूनो-बाग्दी लोगों को रूपांतरित कर दिया था। आजकल के हरिजन आंदोलन पर्व के बहुत पहले प्रभु जगदबन्धु का यह महुंथ संप्रदाय नामकीर्तन के माध्यम से यथार्थ में हरिजन बनकर धन्य हो गया। प्रभु के कृपाबल से कुछ ही दिनों में इन बूनो-बाग्दियों के बीच बहुत से मृदंग बजाने वाले एवं कीर्तन गान करने वाले लोग उत्पन्न हुए—गोपीचंदन और तिलक कंठी विभूषित अनेक वैष्णव-जन प्रकट हुए।

स्पर्शमणि जगद्बन्धु के स्पर्श से बूनो बाग्दी जैसे अछूत इस समय हरिनाम प्रचार करने वाले महुंथ संप्रदाय में गिने जाने लगे। कीर्तनिया के रूप में भी उन लोगों की ख्याति चारो ओर फैल गई। कुछ दिन के बाद इन कीर्तनिया समाज के नेता लोगों में किसी-किसी को अहंकार भी होने लगा। अन्तर्दर्शी जगद्बन्धु की दृष्टि में यह बात छिपी न रही। अंकुरित होते ही उन्होंने अहंकार-भावना की जड़ उखाड़ फेंकी।

फरीदपुर से कुछ कोस दूर पर महंत संप्रदाय का कीर्तन चल रहा था। हठात् मूल कीर्तनिया हरिदास और मृदंगवादक महिम के बीच झगड़ा खड़ा हो गया। दोनों एक दूसरे पर कीचड़ उछाल कर अपना बड़प्पन जमाना चाहते। दोनों में बातें बढ़ते-बढ़ते स्थिति ऐसी आ गई की कीर्तन ही बन्द करना पड़ गया और श्रोता लोग अत्यन्त विषण्ण होकर अपने-अपने घर लौटे। अहंकार की जड़ में ही जगद्बन्धु ने एक निर्मम आघात पहुँचाया था।

दूसरे दिन सवेरे प्रभु पावना से ब्राह्मकान्दा लौट आये। घर में पैर देते ही उन्होंने हरिदास और महिम को बुला भेजा। उस स्थान की ओर पैर बढ़ाते ही उन दोनों की चिंता ओर-छोर छूने लगी। क्या प्रभु की पिछली रात की अवांछित घटना का पता तो नहीं लग गया है? क्या इसीसे तो कहीं उन्होंने बुला भेजा हो प्रभु

अंतर्दर्शी हैं। दूर परोक्ष की बात भी जान लेते हैं, इसका कुछ-कुछ पता हरिदास को था। रास्ते में चलते-चलते वह चिंतातुर मन से महिम को एक घटना सुनाने लगा।

एक बार घर में रहकर हरिदास प्रभाती कीर्तन भजन कर रहा था। पड़ोसी विहारी किसी काम से उधर आ निकला। हरिदास के कुछ रुपये वह धारक था, कीर्तन रोककर उसने इसके लिए विहारी से तकादा किया। कुछ कड़ीतीखी बातें भी उसे सुनाए बिना नहीं रहा। उसके बाद फिर कीर्तन आरम्भ कर उसे सम्पन्न किया। बाद में जब प्रभु के साथ उसकी भेंट हुई तो देखते ही इस प्रकार बीच में कीर्तन बन्द करने की बात पर उसे फटकार दी। उनके शांत होने पर हरिदास ने बड़ी विनय से पूछा, "प्रभु, आपको यह बात मालूम कैसे हुई। आप उस समय कहाँ पर थे।"

"तुम्हारे घर के बाहरी दरवाजे पर जो चित्र टँगा है उसीके बीच तो मैं था।"

प्रभु की सर्वज्ञता के सम्बन्ध में हरिदास को इस प्रकार की अनेक घटनाएँ मालूम हैं। इसीसे शंकाकुल चित्त से दोनों प्रभु के सामने आकर हाजिर हुए।

दंडवत् करके दोनों ज्योंही उठे कि जगद्बन्धु ने बड़े आर्त स्वर से कहा, क्या रे हरिदास, तुमने कल रात मुझे इतना कष्ट क्यों पहुँचाया ? मेरा जीवन तो कीर्तन ही है। तुमने मेरे उसी जीवन पर आघात किया। रात भर मैं पीड़ा से कराहता रहा हूँ। ओह ! कितना कष्ट था !

जहाँ भर्त्सना या अनुशासन की बात होती वहाँ ऐसी आर्ति और विनती। उनके आँसू भरे चेहरे और वेदना-मधुर आकृति के सामने हरिदास और

महिप फूट-फूट कर रो उठे। उस दिन उन लोगों का सारा पाप-कलुष आँसू की धारा में वहीं उस पवित्र प्रांगण में जैसे धुल-पुछ गया।

कुछ क्षणों के बाद उनके प्रश्न के उत्तर में प्रभु बोले,—अरे ! मैं सब कुछ देख चुका हूँ। तुमलोगों के साथ भी मैं था।"

महिम इस समय अनुरोध के स्वर में कह उठा, "प्रभु यदि साथ ही थे तो जिससे कीर्तन ठीक से चलता ऐसी शक्ति कृपा पूर्वक आप ने क्यों नहीं प्रदान की !"

जगद्बन्धु गंभीर स्वर से कह उठे, "तुम लोगों के हृदय में अहंकार हो गया था, इसीसे उस स्थान में मेरे लिए जगह नहीं रह गई थी।"

इस प्रकार आश्रित एवं स्नेहभाजन कीर्तनिया लोगों का अहंकार दूर कर प्रभु ने उस दिन उन लोगों के ऊपर कुछ कृपा-वृष्टि भी की उन्होंने महिम को पत्थर का एक टुकड़ा दिया। मृदंग बजाने के पहले वह इस पत्थर का स्पर्श कर लेता और इसका फल यह होता कि कीर्तन के परिसर मे अप्रतिद्वन्द्वी रूप से वह प्रतिष्ठित रहता। सुनते हैं, महिम के वंशधर लोग भी इस पत्थर का व्यवहार करते रहे।

गुरुदेव के निकट युगल रूप के भजन का तत्व निर्देश करते हुए जगद्बन्धु कहा करते, "मन में सर्वदा युगल मूर्ति को झाँकी उतार कर अपने को 'अमुक' दासी मानकर चलना। कृष्ण की झाँकी नयन और मन में भासित होती रहे। कृष्ण ही जीवन-सर्वस्व हैं—कृष्ण ही गति और पति हैं, यह भावना जगाये रखना ही परम धर्म। कृष्ण ही जीवन-व्रत हैं, उनसे भिन्न कुछ और न जानना। 'कृष्ण कृष्ण कृष्ण' यही लिखना, यही चिंतना करना, यही जपना और करुण स्वर से पुकारना।"

वृन्दावन के स्वरूपतत्व और साध्य-साधन के विचार प्रसंग में वह कहते रहते, "वृदावन तीन प्रकार का है। नित्य वृदावन, लीला वृदावन और धाम वृन्दावन। नित्य वृदावन में सच्चिदानंद विग्रहरूप से एकाकी विद्यमान रहते हैं, सखा-सखी कोई वहाँ नहीं होता। लीला वृन्दावन में युगलकिशोर की नित्य लीला होती है। और धाम वृन्दावन—काम्य वन से लेकर मानसरोवर तक, चौरासी कोस तक फैला है। जहाँ भक्त और दर्शनार्थी सभी जाते हैं। लीला वृन्दावन को भजनीय रूप में जानना।

भक्त प्रतापचन्द्र प्रभु के समुख बैठे हैं। वह मन ही मन सोच रहे हैं, सखा-सखी से रहित एकाकी श्रीकृष्ण का प्रकृत स्वरूप क्या है? प्रभु इसके द्वारा किस विशेष तत्व का संकेत दे रहे हैं? इस चिंता से उनके मन में जो आलोड़न हुआ उसके साथ ही साथ प्रभु जगद्बन्धु सुमधुर स्वर में भक्त प्रतापचन्द्र से कहने लगे, 'धारणा के अतिरिक्त परातत्व को विलय चित्त से यत्नपूर्वक दूर करना होगा। नित्य वृन्दावन की कथा की भावना अनपेक्षित है। लीला वृन्दावन की रसमाधुरी के अवगाहन के लिए सदा सचेष्ट रहना होगा।

युगलभजन की प्राथमिक पद्धति में प्रभु ने एक ओर शुद्ध आचरण एवं ब्रह्मचर्य और दूसरी ओर नामकीर्तन एवं नित्य सेवापरिचर्या का आदर्श अपनी भक्त मंडली के आगे उपस्थित किया था। बाल्य-काल से लेकर प्रभु के अपने जीवन में भी इसी आदर्श को हम साकार होते देखते हैं। अखंड ब्रह्मचर्य, निष्कलुष जीवन और शुद्धाचरण लेकर जगद्बन्धु अपने साधन-जीवन में अग्रसर हुए थे। उसके बाद श्री राधारानी के कृपाबल से उनके जीवन-पात्र में ब्रज का रसतत्व कानों कान भर आया था।

१६/

अतुल चप्पटि आरा अंग्रेजी विद्यालय के प्रधान शिक्षक थे। कुछ ही वार जगद्‌वन्धु के सान्निध्य में आने का अवसर उन्हें मिला। महापुरुष के स्पर्श मात्र ने इस स्वभाव-गंभीर शिक्षाव्रती के जीवन में प्रेम रस का स्रोत उन्मुक्त कर दिया। संसार को त्यागकर अपूर्व दैन्य और आर्ति लेकर भक्त चप्पटि ने प्रभु के चरण का आश्रय लिया। शरीर, मन और प्राण में उस समय वैराग्य का जो स्रोत फूट पड़ा था उससे अंगावरण भी प्रभावित हुए विना नहीं रह सका। गेरुआ वस्त्र धारणकर चप्पटि महाशय सब समय नाम कीर्तन में मस्त रहने लगे।

जगद्‌वन्धु की दृष्टि वारंवार चप्पटि महाशय के वस्त्र पर पड़ती थी, किन्तु मुह से वह कुछ नहीं कहते थे। अंत में एक दिन उनको बुलाकर शान्त और दृढ़ स्वर से प्रभु ने कहा, आप ने यह गेरुआ वस्त्र किस लिये धारण किया है। इसे पहनने के अधिकारी तो आप हुए नहीं हैं।

चप्पटि ने उत्तर दिया, प्रभु मैंने इसे यों ही पहन लिया है। अधिकार की बात सोची नहीं।

गंभीर कंठ से जगद्‌वन्धु ने आदेश दिया, आप जल्द गेरुआ वस्त्र पहनना छोड़ दें। प्रभु की अन्तर्दृष्टि उस दिन गेरुआ वस्त्रधारी शिष्य के अन्त: केन्द्र में प्रविष्ट हो गई। इस तरह उनकी सदा सजग दृष्टि ने गैरिक धारण की अहमिका से चप्पटि को बचाना चाहा।

चप्पटि को एक खंड सादी धोती और उत्तरीय वस्त्र प्रदान कर जगद् वन्धु ने उन्हें भक्ति मार्ग के प्रथम साधन की शिक्षा दी। प्रेममार्गीय भक्त ने वड़े आग्रह के साथ उसे शिरोधार्य किया। नित्य प्रत्यूष काल में जगन्नाथ घाट में एकबार डुवकी लगाकर, करताल बजाते हुये वह रास्ते में गीत गाते चलते –

कृष्ण गोविंद गोपाल श्याम।
राधा माधव राधिका नाम॥

ऊँचे स्वर में प्रतिदिन यह कीर्तनकरते-करते वह कालीघाट पहुँच जाते। आदिगगा में एक बार फिर डुबकी लगाने के बाद यही रट लगाते वह जगन्नाथघाट वापिस आते। इस प्रकार से प्रभु के उपदेशानुसार टहल लगाते वह प्रतिदिन व्रत पालन करने लगे। कलकत्ते के घाट और गली में उन दिनों प्रिय भक्त चप्पटि के माध्यम से इस प्रकार से ही जगद्‌बन्धु ने नामरस की धारा वहा दी।

जगद्‌बन्धु के जीवन में पावना के 'हाराण' पगले का प्रभाव कुछ कम नहीं पड़ा था, इसका परिचय हम पूर्व पा चुके हैं। उक्त पगले प्रभु को बूढ़ा शिव कहकर पुकारते, शक्तिमान् महापुरुष समझकर उनका यथेष्ट आदर-सम्मान करते। उनके साधन जीवन के प्रारम्भिक अध्याय में जिस पगले का आविर्भाव होता है, उसे फिर इस महाजीवन की परिपक्वता के साथ ही हम उन्हें कहीं तिरोहित होते पाते हैं।

चप्पटि ठाकुर को प्रभु पावना ले गये थे। उसके बाद अध्यात्मपथ के प्रवीण सहृद हाराण पगले के हाथ उनको कुछ दिनों के लिए सौंप गये। पगला और जगद्‌बन्धु के शिष्य चप्पटि का एकत्र रहने का चित्र बड़ा ही कौतूहल वर्धक है। रात का अन्तिम प्रहर आरम्भ है। अभी सवेरा होने में बहुत विलंब है। पगला त्रिशूल की ठोकर मारकर नींद में पड़े चप्पटि ठाकुर को जोर जोर से पुकार रहा है, !'उठो रे उठो।!' प्रातः कृत्य समाप्त कर दोनों रास्ते पर निकल जाते। पगले के बदन पर सौ-सौ छेदों वाला झूल लटक रहा है, लंगोटे के नाम पर एक चीथड़ा है और हाथ में चमकता हुआ त्रिशूल।

वाजार में कुम्हार की दूकान पर जाकर वह खड़े हो गये। और फिर त्रिशूल चलाकर यों ही बहुत से बर्तन तोड़-फोड़ डाले, और हल्ला मचा दिया। किन्तु दूकान का मालिक अत्याचार की इस लीला को देख-देख कर

फूला नहीं समाया। पगला किसी दूकान की कोई क्षति करता तो दूकानदार सोचता कि उसका भाग्य जगा है, उस दिन उसकी आमदनी खूब रहेगी। कभी किसी को यदि कुछ आदेश देते तो वह आदेश पाने वाला व्यक्ति अपने को धन्य समझता, इस शक्तिमान् साधक की सेवा का अवसर पाकर अपने को सौभाग्यशाली मानता।

पगला बावाने एक दिन भक्त चप्पटि को अद्भुत आदेश दे डाला। नदी के उस पार बंकू मंडल का घर था; वह अंत्यज जाति का था। उसके पत्ते का जूठा भात उसे खाना होगा। चप्पटि ने समझा प्रभु जगद्बन्धु ही यह परीक्षा ले रहे हैं। प्रिय सुहृद हाराणपगले के द्वारा वही प्रभु चप्पटि के अन्तस्तल से अहंकार के एक-एक कंटक को उखाड़ फेंकना चाहते हैं।

बांकू मंडल एक दिन अपने दरवाजे पर बैठा बासी भात खा रहा था। चप्पटि ने जोर देकर उसके पत्ते से जूठन लेकर खा लिया और हरिनाम ध्वनि करते हुए पगले के निकट आ कर उपस्थित हुए। किन्तु इतना कुछ करने पर भी छुटकारा नहीं मिला! पगला चप्पटि को पकड़ कर बाजार के बीच ले गया और वहाँ खड़ाकर जोर-जोर से चिल्लाने लगा, "तुम लोग सुनते जाओ, इस ब्राह्मणपुत्र ने चांडाल का भात खा लिया है।"

चप्पटि महाशय को इतना बड़ा धक्का, वह भी पहली बार सह नहीं सके; लज्जा और संकोच से उनका माथा नीचे झुक गया। पर क्षण भर में ही वह दृढ़चित्त से तनकर खड़े हो गये। समझ रहे थे, प्रभु की इच्छा से यह पगला बाबा उसके अभिमान को जड़ से उखाड़ फेंक रहा है। सभी सांसारिक आकर्षणों को छोड़कर दीन हीन वेश में चप्पटि घर से निकल आया है। केवल हरिनाम की मर्यादा ही तो अब उसकी मर्यादा थी। प्रभु जगद्बन्धु जाति वर्ण निर्विशेष हरिनाम रस बाँटते फिरते हैं—इसीसे तो अपने प्रिय शिष्य चप्पटि के जाति अभिमान को निर्मोह होकर चूर किये बिना कैसे रह सकते हैं।

एक बार जगद्वन्धु वृन्दावन से कलकत्ता आये। चप्पटि महाशय प्रभु की सुविधा के लिए जमींदार कालीकृष्ण ठाकुर के फुलबाड़ी वाले मकान में उनके ठहरने का बन्दोबस्त किया। कालीकृष्ण तब तक प्रभु के दर्शन नहीं कर सके थे। चप्पटि और दूसरे दूसरे भक्तों के मुह से उनकी महिमा-गाथा सुनकर वह मुग्ध रहते। फुलवाड़ी वाले महल का एक भाग प्रभु के लिए खाली कर दिया गया था। कीर्तन-प्रिय जगद्वन्धु के भक्तों के लिए मृदंग; करताल आदि खरीदने के लिए भी कालीकृष्ण ने एक मोटी रकम देने में कोई कृपणता नहीं दिखाई।

किन्तु कुछ समय के भीतर ही गंडगोल उपस्थित हो गया। जगद्वन्धु हठात् लोगों के सामने बाहर नहीं निकलते। प्राय: आपादमस्तक अपने को कपड़े से ढककर 'असूर्यम्पश्त' रूप में रहना चाहते। प्रत्यूष काल में गंगा-स्नान करते और घर के कोने में शय्या पर टँगी मशहरी के भीतर जा ढुकते। दिन भर उनके दर्शन पाना दुर्भर था।

कुछ ऐसे भी कर्मचारी थे जो बागमहल में वैष्णवों का रहना उतना पसंद नहीं करते। उसके सिवा यह जो 'प्रभु' नाम धारी व्यक्ति भी बहुत रहस्यमय थे, लोगों की नजर बचाकर सदा अपने को गुप्त रखते। एक दिन प्रत्यूप काल मे एक कर्मचारी ने स्नान करते समय उन्हें देखने की चेष्टा की। देखते ही उसकी धारणा कुछ ऐसी हुई कि यह व्यक्ति तो असली प्रभु जगद्वन्धु नहीं है। चप्पटि प्रभृति भक्त लोगों ने एक असाधारण रूपलावण्यवती नवयुवती को लाकर चुप-चुप इस बागमहल में छिपा रखा है। केवल इतना ही नहीं—जमींदार कालीकृष्ण को झपासे में रखकर कीर्तनसम्मेलन के साजसामान के नाम पर कुछ रुपये एँठने में भी बाज नहीं आये। कालीकृष्ण ठाकुर के भी

कानों में यह सब खबर पहुँचाई गई। क्रोध से कांपते हुए वह हठात् एक दिन दरवान और बरकंदाज के साथ बागमहल में आ पहुँचे।

क्रुध और उत्तेजित कालीकृष्ण ठाकुर के मन में भी उस समय यह भ्रान्त धारणा बद्धमूल हो गई थी कि वास्तव में जगद्बन्धु उनके बागमहल में नहीं ठहरे हैं। उनके बदले आपादमस्तक वस्त्राच्छादित एक सुन्दरी नारी को ही यहाँ गुप्त रूप से रखा गया है। इसका प्रतिकार उन्हें अभी करना होगा। भक्त लोगों पर गालियों की बौछाड़ करते हुए कालीकृष्ण प्रभु के घर में जा ढुके।

किन्तु जगदबन्धु तो मशहरी के भीतर नीरव निश्चल बैठे हैं। कालीकृष्ण ठाकुर ज्यों ही उनके निकट आगे बढ़े उन्होंने केवल शांत स्नेह-मधुर कंठ से पुकारा—"कौन? कालीकृष्ण?" बिलकुल साधारण, संक्षिप्त था यह आह्वान। किन्तु इसने कौन-सा इंद्रजाल कर दिया, यह कौन बताए? कालीकृष्ण ठाकुर क्षणभर में जैसे बिलकुल दूसरे रूप में आ गये। अनुताप भरे हृदय से प्रभु के निकट क्षमा याचना करते हुए; बड़ी तेजी से अपने दल-बल के साथ बागमहल से बाहर निकल आये, जाते समय मैनेजर और जगद्बन्धु के भक्त दल से बार-बार कहते गये, प्रभु की जितने दिनों तक इच्छा हो यहाँ निवास करें, मैं इससे अत्यन्त अनुगृहीत अपने को समझूँगा।

किन्तु जगद्बन्धु ने उसी क्षण बागमहल को छोड़ दिया और रामबागान की डोम-टोली में एक अंतरंग शिष्य के घर चले गये। जाने के समय इतना ही कह गये, "डोमपाड़ा में मेरे इतने अपने लोग हैं फिर भी चप्पटि ने क्यों मुझे बाजार के इस बाग में ला टिकाया। तभी तो आज यह विपत्ति हुई। जाओ, कालीकृष्ण के दिये हुए शय्या, वस्त्र सब कुछ उनके आगे रख दो।"

फरीदपुर के बूनोजाति वालों के समान रामबागान के डोम समाज के ऊपर श्री जगद्‌बन्धु की कृपा रश्मि पड़ी थी। वह बाकचर और ब्रह्मवान्दा से बीच-बीच में जब कभी वृंदावन और नवद्वीप की यात्रा किया करते, कुछ समय के लिए कलकत्ता अवश्य ठहर जाते। शहर के बहुत कम लोगों ने उनका नाम सुना था। इस समय चुंचुरा के अन्नदाचरण का केन्द्र स्थान था, वहीं से प्रभु जगद्‌बन्धु का परिचय पश्चिम बंगाल को मिलने लगा था। अन्नदाबाबू परम वैष्णव और गौरांग महाप्रभु के एकनिष्ठ भक्त थे अमृतबाजार पत्रिका के श्रीयुत शिशिर कुमार घोष, महेन्द्रनाथ विद्यानिधि प्रभृति उनके घर बहुधा एकत्र होते। भक्त अन्नदाबाबू की देह में अनेक समय परलोक गत साधु-महात्माओं की आत्माओं का आवेश-प्रवेश होता रहता। इस समय उनके माध्यम से अनेक प्रकार की चामत्कारिक बातें प्रकट होतीं।

१२९८साल की बात है। प्रभु जगद्‌बन्धु उन दिनों फरीदापुर के ब्राह्मणकोदा में वास करते थे। इस समय एक दिन अन्नदाबाबू भावाविष्ट होकर बोले, 'प्राणियों के उद्धार के लिए पूर्व बंग में जो अवतीर्ण हुए हैं उनका नाम है जगद्‌बन्धु।" अन्नदाबाबू और उनके बंधु लोगों ने तबतक जगदबन्धु का नाम भी नहीं सुना था। इसके बाद खोज करने पर पता चला कि फरीदपुर में एक प्रेमी मार्गी महापुरुष का अवतार हुआ है। उनके शरीर में दिव्य सौन्दर्य, अपूर्व छटा देखी जाती है, मन सब समय हरिनाम में मस्त रहता है। लोकदृष्टि से अपने को बहुत कुछ छिपाकर भक्तिमार्ग के उत्स रूप में वह विराजमान रहते हैं। अभी भी उन्होने अपने को प्रकट नहीं होने दिया है।

अन्नदा दत्त महाशय ने और एक दिन स्पष्टरूप से बताया कि— "प्रभु जगद्‌बन्धु को कल ही यहाँ देखा जा सकता है। कलकत्ता होकर जहाज नवद्वीप जाता है उसीमें वह होंगे। खोजकर उन्हें ढूंढ निकालने में कोई कठिनाई

नहीं पड़ेगी। उनकी मनोहर देवदुर्लभ मूर्ति की लावण्यश्री ही उनकी पहचान करा देगी।

दूसरे दिन यह बात सत्य प्रमाणित हुई। उस स्टीमर पर एक किनारे एकांत कोने में प्रभु जगद्‌बन्धु भक्त लोगों के बीच बैठे थे। अन्नदा दत्त, शिशिरकुमार घोष प्रभृति भक्तगण स्टीमर के डेक पर प्रभु का संधान पाकर उनके चरणों में जा लेटे और अपने को कृतार्थ बनाया।

इसके कुछ दिन के बाद श्रीयुत शिशिरकुमार घोष ने अमृतबाजारपत्रिका में प्रभु के शीघ्र प्रकट होने की बात लिखी। महान सन्यासी स्वामी प्रेमानंद भारती भी इस समय प्रभु जगदबन्धु का नाम गाते अघाते न थे।

नवद्वीप में वास करते समय जगद्‌बन्धु को यह बात मालूम हुई। एक दिन वह कह उठे, "हाँ रे! शिशिर और भारत को मना कर दो। वे लोग इस प्रकार से मुझको विपत्ति में न डालें। यों ही लोग मुझे 'देखनेदो, देखने' दो कहकर स्थिर नहीं रहने देते। इस पर यदि वे लोग ऐसा करने लगे तब तो मेरे घर के ईंट रोड़े तक को लोग नहीं छोड़ेंगे। उन्हें कह दो, बत्ती के प्रकाश में सूर्य को कभी नहीं देखा जाता। सूर्य तो स्व प्रकाश है, वह जब प्रकाशित होगा तो संसार के सभी लोग उसे देख सकेंगे।

पूर्वोक्त अन्नदा बाबू ने भावाविष्ट होकर भारती महाराज का आविष्कार किया था। एक दिन उन्होंने बताया, कलकत्ता के किसी निर्दिष्ट स्थान में जटाजूट धारी एक ज्ञानी सन्यासी रहते हैं, उनको हमारे निकट तत्क्षण ले आना होगा। उस साधु को उस दिन ठीक उसी स्थान में पाया गया, इनका नाम था प्रेमानंद भारती। अन्नदा बाबू ने तभी भारती महाराज से बतला दिया कि उन्हें जटा जूट मुंडन करना होगा और गेरुआ वस्त्र त्यागकर वैष्णव

परिच्छेद धारण करना होगा। केवल इतना ही नहीं, भारत के अन्दर और उसके बाहर भी वैष्णव धर्म के प्रचार का दायित्व भी उनके ऊपर निर्भर करेगा।

गृहस्थाश्रम में भारती महाराज का नाम था सुरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय। वारदी के ब्रह्मचारी और पावना के हाराण पागल का कृपा-स्पर्श उनके जीवन के प्रथम भाग में प्राप्त हुआ। उत्तर काल में उन्होंने काशी के ब्रह्मानंद भारती के निकट संन्यास आश्रम ग्रहण किया। समझ में न आनेवाला यह एक ईश्वरीय विधान था कि इस बार प्रेमानंद भारती के जीवन में प्रेम की उद्दाम बाढ़ उमड़ आई। प्रभु जगद्बन्धु के दर्शन तब तक वह नहीं कर पाये थे, किन्तु उनके नाम और लीलामाधुर्य की कथा सुनते ही प्रेमानंदजी व्याकुल हो उठे। व्रज-संखभाव में विभोर इस संन्यासी का उन्मत्त नृत्य और जगद्बन्धु का नामकीर्त्तन जो कोई देख-सुन पाता मुग्ध हुए बिना नहीं रहता।

पीछे चलकर जगद्बन्धु के निर्देश से भारती महाराज वैष्णव धर्म के प्रचारार्थ अमेरिका गये। न्यूयार्क; केलिफोर्निया एवं अन्यान्य अंचलों में बहुत से अमेरिकन नागरिकों को उन्होंने दीक्षा प्रदान की। धर्म प्रचार और साधन-केंद्र के रूप में उन्होंने वहाँ एक "श्री कृष्ण होम" की स्थापना की। 'श्रीकृष्ण' नाम का उनका एक ग्रन्थ वहाँ खूब लोकप्रिय हुआ। दस साल तक अमेरिका का भ्रमण कर १३१५ साल में स्वामी प्रेमानंद भारती भारतवर्ष लौटे। भारती महाराज के साथ बहुत से अमेरिकन शिष्य और शिष्याएँ इस देश में आ पहुँचे। वैष्णव धर्म में दीक्षित कर प्रेमानंदजी ने इन लोगों का नया नाम-करण किया। उन लोगों के नाम क्रमानुसार श्यामदास, गौरीदासी, हरिमति आर हरिदासी आदि थे। भारतवर्ष एवं प्रभु जगद्बन्धु के दर्शन के लिए ये लोग व्याकुल भाव से इस देश में आये, किन्तु प्रभु के दर्शन का सौभाग्य इन्हें

नहीं मिल सका। उसके पहले ही श्रीअंगन के अभ्यंतर गृह में, लोकदृष्टि जहाँ पर न पड़ सके, वह तिरोहित हो चुके थे।

फरीदपुर के बूनो-वाग्दी लोगों पर कृपा-प्रदर्शन के बाद रामबगान—कलकत्ता के डोम-समाज पर उनकी दृष्टि पड़ी। गंदगी से भरे वातावरण में, समाज के निम्नस्तर में इन आचार-भ्रष्ट शराबखोर डोम लोगों के बीच भी इन्होंने हरिनाम के महामंत्र का प्रचार किया। डोम टोली में नई प्राण स्फूर्ति जाग उठी। उनको केंद्रित कर इन अंत्यजों के जीवन में एक आमूल परिवर्तन सावित हुआ।

वैष्णवीय निष्ठा और नामकीर्तन के फलस्वरूप इस स्थान में प्रभु के परम भक्त के रूप में हित हरिदास, पीतांवर बावाजी, दयाल तिनकौड़ी आदि साधकों को आत्मप्रकाश करते देखा गया। कलकत्ता के वहुत से गण्यमान्य व्यक्ति भी धीरे-धीरे उस समय तक डोमटोली की पर्णकुटी में निवास करने वाले प्रभु जगद्बन्धु के दर्शन को आया करते। चप्पटि ठाकुर के सहयोग से जगद्बन्धु ने इस डोमटोली में ही हरिनाम प्रचार का एक केन्द्र खोल दिया। समाज के निम्नतम जीव अछूतों-अंत्यजों के माध्यम से ही प्रभु ने अपने उद्धारण व्रत के मार्ग की खोज की और उसे प्रशस्त बनाया।

श्रीवृन्दावन धाम में प्रभु जगद्बन्धु अपने तरुण वयस की वहुत सी लीला दिखा गये हैं। सेठ के मंदिर में एक दिन उत्सव के उपक्रम में, 'पालागान' चल रहा था। श्रोता लोगों की भीड़ में परम वैष्णव वनमाली राय भी बैठे थे। 'जय राधे श्याम' की धनघोर ध्वनि जारी थी, बीचमें ही एक युवक अकस्मातमूर्छित होकर गिर पड़ा। अपूर्व लावण्य-मंडित किशोर शरीर भूलुन्ठितथा, उसमें कुछ भी प्राण-चेतना नहीं थी। पालागान का वँधा सिलसिला टूट गया। सभी लोग इस चेतनाशून्य व्यक्ति की प्राणरक्षा के लिए दवा-दारू के प्रवंध में

अस्त-व्यस्थ थे। उस समय वनमाली बाबू ने आगे बढ़कर देखा तो वह तुरंत समझ गये कि प्रभु जगद्बन्धु श्रीवृन्दावन में आ गये हैं और यहाँ नाम-कीर्तन की उद्दीपना में उन्हें सात्विक भाव का उद्रेक हुआ जो इस मूर्छा में परिणत हो गया है।

उद्विग्न जनता को आश्वासन देते हुए वनमाली राय बोले, "इनकी चिकित्सा के लिए आप लोग व्यस्त न हों। यह तो प्रभु जगद्बन्धु हैं जो एक प्रेमिक महापुरुष हैं; हम इनसे पूर्ण परिचित हैं। ईश्वरीय उद्दीपना होते ही इन्हें इसी प्रकार प्रेम-विकार हुआ करता है। मैं अभी इसकी उप-युक्त व्यवस्था कर लेता हूँ।"

सबों ने जगद्बन्धु को पालकी पर रखकर वनमाली राय के घर श्रीराधा विनोद जी के कुंज में पहुँचाया। उन्हें हिफाजतसे भीतर सुलाकर बाहर से द्वार बंद कर दिया गया। और उनको विश्राम में कोई विघ्न न आने पावे इसे देखते रहने के लिए कुछ लोग पहरे पर तैनात थे। किन्तु इतनी सतर्कता रखते हुए आश्चर्य की बात यह हुई कि सब के सब लोग न मालूम कैसे बाहर निकल आये, इसका उत्तर किसी को देते न बना। इसके कुछ दिन बाद स्वे-च्छामय जगद्बन्धु के दर्शन लोगों को फिर मिले।

भक्तप्रवर वनमाली राय उन दिनों श्रीकुंड-तीर पर अपने आराध्य विग्रह विनोद के कुंज निर्माण के लिए टिके हुए थे। निकट में ही वनखंडी नाथ महोदय का मंदिर था। उसके निकट मिट्टी की एक गुफा में जगद्बन्धु ने भी आश्रय ग्रहण किया था। श्रीकुंड की परिक्रमा करते हुए वनमाली राय नित्य इस गुफा के द्वार पर आ खड़े होते और जगद्बन्धु की अमृतवाणी का श्रवण कर कृतार्थ होकर घर लौटते।

एक दिन जगदबन्धु उनसे कहने लगे, देखो, कल ही दोपहर के समय एक महापुरुष पाञ्चभौतिक शरीर का परित्याग करेंगे। इसलिए प्रातः से ही उन्हें घेर कर संकीर्तन की व्यवस्था करें।" जब उनसे इस महापुरुष का परिचय और उनका पता—ठेकाना पूछा गया तो उन्होंने सामने इमली के पेड़ की ओर उंगली दिखाकर कहा, "यही हैं वह महापुरुष।"

वनमाली बाबू प्रभु की बात को अभ्रांत मानकर निष्ठा रखते। इसके अलावा, भक्त वैष्णव के हिसाब से उनकी अपनी भी धारणा थी कि वृन्दावन की अलौकिक लीला के दर्शन-लोभ से महापुरुष लोग गुप्त रुप से निवास करते हैं। इसी से प्रभु के निर्देश के अनुसार इस वृक्ष को घेर कर बड़े समारोह से अष्टयाम नामकीर्तन की व्यवस्था हुई। दूसरे दिन ठीक दो पहर के समय, वैष्णव मंडली की कीर्तन-परिक्रमा के बीच देखा गया कि बिना अंधड़ पानी के वह विशाल वृक्ष चड़मड़ की आवाज के साथ सहसा टूट गिरा।

जगद्बन्धु अपनी मौज में कभी किसी गुफा में तो कभी किसी कुंज में वास करते और व्रज के मंदिर-मंदिर में स्वच्छंद घूमते रहते। किसी—किसी के साथ उनकी कोई बातचीत प्रायः नहीं होती। इसलिए इस समय वृन्दावन के अनेक वैष्णव इन्हें मौनी बाबा कहकर पुकारते। श्रीराधारानी के भाव से भावित होकर प्रभु हर समय मुंह ढके रहते, इससे व्रज ममताएं इन्हें 'घूंघट वाली' नाम से पुकार उठतीं। इस समय तक 'वृक्ष महापुरुष' के देहपात संबंधी भविष्यद्वाणी के कारण व्रजवासियों के बीच वह पूर्ण रूप से परिचित हो चुके थे।

एक बार वृंदावन के कुसुम-सरोवर के तीर पर मृत्तिका कुटीर में जगद्-बन्धु टिक रहे थे। मथुरा के डाक्टर प्रमथ सान्याल महाशय कितने ही दर्शनार्थियों के साथ 'जयराधे' कहकर भजन-कुटी के द्वार पर उपस्थित हुए।

द्वार खुलते ही देखा गया कि जगद्बन्धु दिव्य भाव मुद्रा में खड़े थे और उनके पीछे मिट्टी की दीवाल के एक बिल से एक विषधर सर्प बारंबार फण काढ़ रहा है, सर उठा रहा है। भीतत्रस्त आगन्तुक लोगों ने जब इस सर्प की ओर प्रभु का ध्यानाकर्षण किया तो उन्होंने बड़े शान्त भाव से उत्तर दिया, "वहाँ पर सर्प है, मैं पहले से ही जानता हूँ। मैं तो उसका अतिथि ठहरा। और वह अतिथि का कोई अनिष्ट नहीं करेगा।" किन्तु दर्शनार्थियों की शंका किसी प्रकार दूर नहीं हो रही थी। अन्त में प्रभु बोले, "वह तो सचमुच एक परम भक्त है। फिर भी इसके संबंध में यदि आपलोगों का भय दूर नहीं होता तो आपलोगों को जिससे और उद्वेग न हो, अगत्या मैं ही यहाँ से अन्यत्र चला जाऊँगा।" / इसके बाद फिर कभी उस सर्प को उस मृत्तिका-कुटीर में नहीं देखा गया।

उस समय प्रभु जगद्बन्धु की प्रेरणा पाकर वनमाली राय का जीवन सक्रिय और कल्याणकर हो उठा। वैष्णव धर्म के पुनरुज्जीवन में इनका प्रभाव कुछ कम नहीं था। फलतः वृंदावन के कुंज और मन्दिर का संस्कार वैष्णव विद्यालय की स्थापना आदि जिस प्रकार चलता उसी प्रकार बंगाल के अंचल-अंचल में कीर्त्तन की प्रथा बढ़ चली।

वैष्णवों के साहित्य-ग्रन्थ इस समय दुष्प्राप्य थे। बरतला के छपे ग्रन्थ शिक्षित सम्प्रदाय के निकट उस समय अत्यन्त ही नगण्य थे। वनमाली राय को उत्साहित कर प्रभु ने बहुत से वैष्णव ग्रन्थों के प्रकाशन की सुव्यवस्था कराई। जगद्बन्धु कहा करते, गुरु—अभिप्रेत कार्य ही गुरुदीक्षा है और यही दीक्षा उन्होंने वनमाली राय को दी थी। इसके द्वारा वैष्णव समाज का मंगल साधन कम नहीं हुआ था।

अत्यन्त तरुण अवस्था में ही जगद्वन्धु की मान्यता प्रसिद्ध वैष्णव बाबाजी लोगों के द्वारा स्वीकृत हुई—यह निश्चय ही उनकी प्रेमशक्ति का एक विस्मयकर निदर्शन है। माधव दास और मनोहर दास दोनों बाबाजी जगद्बन्धु के साथ अत्यन्त ही अन्तरंग सुहृद के समान व्यवहार करते थे। तोतला नित्यानन्द दास बाबाजी के साथ भी उनका सख्य-बन्धन बड़ा सुदृढ़ था। सिद्ध भगवान दास बाबाजी के स्नेह-धन्य शिष्य एवं सदा भजनशील जगदीश बाबाजी को प्रभु प्राय: विना दर्शन देते। यह जगदीश बाबा जगद्बन्धु को देखते ही कह उठते, 'प्रभो। आपके निकट आने से मेरा स्मरण-भजन नहीं चलता। आपके अन्दर वह कौन सी अलौकिक शक्ति है जिससे मेरे भजन-कीर्तन सब कुछ जैसे खो जाते हैं।' रहस्यावृत 'घूँघट वाली' इस उक्ति को सुनाकर, केवल नीरव हँसी हँसकर दूर खिसक पड़ते।

श्यामदास वृंदावन के एक तीव्र वैराग्यवान् वैष्णव साधक थे। प्रभु के साथ उनका किसी प्रकार थोड़ा सा ही परिचय हुआ था। उस समय तक घनिष्ठता नहीं हो पाई थी। 'मौनीबाबा' जगदवन्धु उस समय कहीं स्थिर नहीं रहते, स्वेच्छा से कहाँ कब चल देंगे, यह किसी को जान सकना असंभव रहता। एक दिन प्रात: काल वृन्दावन के एक वन प्रान्त में श्याम दास मधुकरी भिक्षा के लिए निकले थे। दूर से ही सहसा उन्होंने देखा कि गायों का एक झुण्ड एकत्र होकर बड़े आनन्द से कुछ चाट रहा है। आगे बढ़े तो श्यामदास के विस्मय की सीमा नहीं रही! उन्होंने देखा; एक कनक-गौर लंबा पुरुष जमीन पर लेटा हुआ है और गायें नाक लगाकर उसके शरीर-सौरभ को सूँघ रही हैं। बीच-बीच में सस्नेह चाटती भी जाती हैं। और गोविंद-गोविंद नामोच्चारण करते हुए वह सोया हुआ पुरुष पुलक-भरे शरीर से उनका स्नेह-अभिनन्दन ग्रहण कर रहा है। निकट जाने पर श्यामदास ने पहचाना तो वह पुरुष स्वयं प्रभु जगदबन्धु थे!

श्यामदास की भजन-कुटिया में कुछ समय के लिए प्रभु ने निवास किया था। बीच-बीच में उनकी अलौकिक विभूतियाँ प्रकट होतीं, जिन्हें देख-देख कर भक्तवर श्यामदास के विनय की सीमा नहीं रहती। एक दिन प्रभु गुफा में जाकर बैठे थे, समीप में कोई नहीं था। श्यामदास ने देखा, कहीं से गुच्छ के गुच्छ चंदन लगी तुलसी की मंजरियाँ धप-धप कर आँगन में आ-आकर गिर रही हैं!

और एक दिन प्रभु कुसुमसरोवर में स्नान-मार्जन कर रहे थे। निकट आकर श्यामदास ने देखा, सरोवर के जल में स्नान करते-करते प्रभु सहसा अलौकिक भाव से अदृश्य हो गये। उनके बदले उसी जगह एक क्रीड़ा-चंचल बालक डुबकियाँ लेते बाहर आया। और गुफा के निकट आते ही वह मूर्त्ति फिर कहीं विलीन हो गयी! उन्होंने फिर देखा तो सेमल पेड़ के समान लंबा एक ज्योतिर्मय रूप उनके सामने खड़ा है। गुफा में प्रवेश करने पर श्यामदास ने कहा; "प्रभु आज मैंने आपके स्वरूप का दर्शन किया है।" उन्होंने उत्तर दिया, "स्वरूप वह क्या रहेगा? वह कुछ नहीं था। अरे! इस शरीर को बड़ा भी किया जा सकता है और छोटा भी।"

प्रभु जगद्बन्धु फरीदपुर में स्थायी भाव से वास करना चाहते, यह सुन-कर वृन्दावन के कितने ही वैष्णवों ने उनसे कहा, "प्रभु, फरीदपुर क्या आपके लिए भजन का उपयुक्त स्थान होगा? इस व्रजभूमि के यमुना-तट पर ही हम आपके लिए भजन-मन्दिर का निर्माण कर देते हैं। आप यहीं इसी स्थान में अवस्थान करें।" यह सुनकर न जाने क्यों जगद्बन्धु कह उठे, यदि किसी दिन पृथ्वी प्रलय जल में डूब जायगी; उस दिन भी फरीदपुर में ठेहुने भर से अधिक पानी नहीं बहेगा। फरीदपुर को इस बार मैं पृथ्वी का केन्द्र स्थान रूप में परिणत कर दूंगा।

शितिकंठ पंडित नवद्वीप के एक विशिष्ट विद्वद्कुल के वंशधर थे। भक्त एवं मनीषी व्रजनाथ विद्यारत्न उनके पितामह थे और गौरांग महाप्रभु के महान् भक्त परम वैष्णव दीननाथ पदरत्न उनके पिता थे। इन लोगों के घर पर ही नवद्वीप की प्रसिद्ध हरिसभा लगती थी। शितिकंठ प्रेमभक्ति के एकांत साधक, एवं भक्त-कुल के उपयुक्त धी—धारण रखने वाले व्यक्ति थे। लीला-मय गौरचंद्र की मधुमयी मूर्ति का ध्यान—भजन बहुत दिनों से करते चले आये थे, किन्तु उनकी आंतरिक पिपासा और खिन्नता तो किसी तरह मिटती नहीं थी। प्रत्यक्ष दर्शन की बात क्या? लीला-माधुर्य के उपभोग का भी सौभाग्य उन्हें नहीं मिल पाता।

एक दिन चुपके पैदल घूमते-भटकते शितिकंठ नवद्वीप के एक किनारे आ पहुंचे। श्मसान भूमि के निकट ही एक झुरमुट के पीछे पंडित ने अपूर्व दृश्य देखा। देखते ही विह्वल हो पड़े। एक सुधास्निग्ध ज्योतिमंण्डल वहाँ विराजमान था। तीव्र आकर्षण से पंडित शितिकंठ धीरे-धीरे उसके समीप खिंच आये। निकट पहुँचकर उनके विस्मय की कोई सीमा नहीं रही। देखा, अपूर्व लावण्य श्री से मंडित एक महापुरुष दिव्य भावाविष्ट होकर भूमि पर पड़े हैं। उनकी देह की लोकोत्तर दिव्य द्युति-कान्ति और दिव्य सुगंधि इस स्थान में चारों ओर फैली हुई है।

शितिकंठ के समस्त मन-प्राण तत्क्षण पुकार उठे—यही तो है जिनके लिए मैं इतने दिनों तक आकुल-व्याकुल आंसू बहाता रहा, जिनके चरणों में आत्मसमर्पण कर अपने को धन्य बनाने में लगा रहा। महापुरुष प्रभु ने भी' जैसे वह कितने दिनों से परिचित हों, स्नेह-मधुर कंठ से पुकार कर कहा, 'शितिकंठ'। चिर अनुगत भक्त की भांति शितिकंठ ने भी दोनों हाथ जोड़कर उत्तर दिया, 'प्रभो'!

प्रभु का परिचय पाकर पंडित के आनन्द की कोई सीमा नहीं रही। घर आकर भी उनके विस्मय की कोई अवधि नहीं। पिता दीनानाथ पदरत्न महाशय बूढ़े हो चले थे, एकांत में अपने भजन-साधन में ही लगे रहते। आज सहसा जगद्बन्धु का नाम मात्र सुनते ही वृद्ध के समस्त संयम की बाँध टूट गई। पुलक भरे शरीर से, आँसू-भरे नेत्र से पुत्र से लिपटकर बोल उठे, 'परम कारुणिक जगद्बन्धु, इस घर में पधारेंगे, यह मुझे पहले से ज्ञात है।" रागानुगा भक्ति के सिद्ध साधक उनके गुरु नेहालदास बाबाजी बहुत दिन पहले उन्हें बता गये थे कि उनके घर में नाम-कीर्तन से गुंजित इस हरिसभा में वह महाप्रेमिक महापुरुष पदार्पण करेंगे और उन लोगो का परम सौभाग्योदय होगा। पीछे चलकर शितिकंठ प्रभु के अलौकिक दर्शन के प्रभाव के सम्बन्ध में कहा करते—'इसी एक दर्शन से सब कुछ सम्पन्न।"

जगद्बन्धु के पधारने के बाद से शितिकंठ की हरिसभा में कीर्तनानन्द और हरिकथा की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित हो उठी। इस स्थान को केन्द्र बनाकर ही प्रभु जगद्बन्धु ने नवद्वीप धाम के बहुत से भक्तों एवं वैष्णवों को प्रेम-साधना प्रदान की। इनमें साधन सामर्थ्य की दृष्टि से राइमाता का नाम अग्रगण्य था। यह महीयसी साधिका "राइ उन्मादिनी" की भावना से निरन्तर विभोर रहती। कीर्तन एवं कृष्णनाम के श्रवण से उनकी देह में सात्विक विकारों का जो उद्‌गम होता उसे देखकर सभी विस्मित हो जाते। इनकी एकांत निष्ठा सेवा और भजन निष्ठा असाधारण थी। प्रभु जगद्बन्धु नवद्वीप से कहीं दूर अंचल में रहते हुए भी उन्हें बीच-बीच में अपने दर्शन से कृतार्थ करते रहते।

नवद्वीप के श्रीवास अंगन घाट में एक दिन संध्या समय जगद्बन्धु

स्नान के लिए उतरे। हठात् एक अज्ञात कारण से ठिठक कर खड़े हो गये। साथ के भक्त नवद्वीप दास को पुकार कर व्याकुल कंठ से उन्होंने आदेश किया, "नवद्वीप, तुम शीघ्र बड़ाल घाट पर दौड़ जाओ। वहाँ एक परम भक्त वैष्णव गंगा में डूबकर आत्महत्या करने जा रहा है। उसका नाम बालकृष्ण है। उसे पुकार कर कहना, इस प्रकार आत्म-घात करने करने की मेरी मनाही है।"

नवद्वीप दास तुरत दौड़े गये और बड़ाल घाट पर जाकर चाँदनी के प्रकाश में दूर से देखा, एक व्यक्ति धीरे-धीरे गंगा के प्रवाह-गर्भ की ओर बढ़ता जा रहा है। जोर-जोर से उसने हाँक लगाई, "ओ बालकृष्ण, अरे भाई बालकृष्ण, लौट आओ, प्रभु ने तुम्हें आत्मघात करने की मनाही की है।"

प्राणत्याग के लिये कृतसंकल्प बालकृष्ण आश्चर्यित होकर पीछे की ओर मुड़ा। किनारे पर आकर नवद्वीप दास से पूछताछ शुरू की, "तुम कौन हो भाई? मेरा नाम तुमने कैसे जाना? आत्मघात का यह मेरा गुप्त संकल्प तुम्हें बतलाया किसने?" नवद्वीप दास ने विनयपूर्वक बताया कि मुझे ये सब बातें कुछ मालूम नहीं। हमारे प्रभु जगद्बन्धु सर्वज्ञ हैं, केवल उनके आदेश का पालन करने मैं यहाँ दौड़ आया।

बालकृष्ण उन्नत स्तर का साधक था। प्रेम-साधना के माध्यम से साधन-सत्ता के आनन्द एवं विषाद के तीव्र ज्वार-भाटे में गोता खेल रहे थे। सहसा उसी भाँटे के प्रत्याघात से वेदनाविकल होकर देह विसर्जन के लिए प्रस्तुत होकर गये थे। प्रभु जगद्बन्धु की निषेधाज्ञा से उनके प्राण बचे। बालकृष्ण प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी के शिष्य थे। इस घटना के पहले ही वह गोस्वामीजी के मुँह से हुगली के अन्नदादत्त के निकट जगद्बन्धु की महिमा बहुत कुछ सुन चुके।

वह आज से जगद्बन्धु के चरणों में अपने को अर्पित कर चुके। ब्रजगोपी भाव से भावित यह परम वैष्णव पीछे चलकर 'ब्रजबाला' नाम से परिचित हुए।

फरीदपुर को केन्द्र बनाकर जगद्बन्धु महानाम व्रत उद्यापन कर रहे थे। पूर्व बंगाल के अनेक स्थानों में धीरे-धीरे उनके नाम कीर्तन का मंगल-बीज अंकुरित पल्लवित हो रहा था। अपने सहचर-परिकर के साथ जिस दिन वह कीर्तन-मर्तन के लिये बाहर निकलते उस दिन दिशा-दिशा में आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ता। एक ओर चामर-व्यंजन की आदि की सुमनोहर रूप-सज्जा सजती तो दूसरी ओर मादल-करताल एवं झाँझ-झाल की मधुर ध्वनि गूँजती होती। यह एक अपूर्व उत्सव का वातावरण रहता।

ऐसी ही एक शुभ दिन में भक्त बालक राधिका गुप्त को प्रभु के दर्शन का लाभ हुआ। प्रभु ने भी उन्हें अपना लिया। राधिका यह यह नाम प्रभु जगद्बन्धु के मुँह से नहीं उच्चारित हो पाता था, इसीसे 'शारिका' कहकर ही इन्हें सम्बोधित करते। प्रभु के निकट रहकर आचार-निष्ठा, कीर्तन और नाम-जप के माध्यम से इस बालक के जीवन में रूपान्तर उपस्थित हो गया। इसका नाम उन्होंने रामदास रखा। यही पीछे चलकर वैष्णवाचार्य नाम प्रचार के अग्रदूत श्री रामदास बाबाजी के नाम से विख्यात हुए।

बहुत छोटी अवस्था में रामदास सांसारिक बन्धन को विच्छिन्न कर त्याग-वैराग्य के मार्ग पर चल खड़े हुए। प्रभु जगद्बन्धु के निर्देश के अनुसार ही उन्हें वृन्दावन रवाना होना पड़ा। राम दास की अवस्था उस समय केवल पन्द्रह साल की थी। इस बार प्रभु श्री वृन्दावन धाम जाकर तीन मास तक टिके थे। प्रिय रामदास के जीवन में धीरे-धीरे ब्रज के भजन-रस को वह डालते गये। राम-

दास के धोती-कपड़े उतरवा डाले और उसकी जगह कोपीन एवं बहिर्वस्त्र प्रभु ने प्रस्तुत करवाये। फिर उससे कहा, "अरे! रहोगे व्रज में, भक्त वैष्णव के वेश में न रहोगे तो यह कैसे चलेगा ?"

जगद्वन्धु एक दिन गोविन्दजी के दर्शन के लिये चले। कब कैसा भावावेश उन्हें आ जाय, इसका कोई ठीक नहीं रहता। प्रभु ने इसीसे रामदास को निर्देश दे रखा था, "शारिका, सदा सजग दृष्टि से देखते रहना। देखना, मेरे शरीर में जिससे प्रकृति-स्पर्श नहीं लगने पावे।" एक दिन भीड़ के बीच हठात किसी स्त्री की छाया जगद्वन्धु के शरीर पर पड़ी। रामदास जरा अन्य मनस्क हो गये थे, इसलिए सहसा ऐसा संघटन हो गया। इससे एक बड़ा अनर्थ उपस्थित हो गया! जगद्वन्धु अत्यन्त आर्तस्वर से चिल्ला उठे, 'जल गया रे, जल गया।' रामदास एक अपराधी की भाँति भीत-भाव से खड़े थे। बहुत देर के बाद व्रज की धूलि मुट्ठी-मुट्ठी जब उनपर बराबर पूरी तरह डाली गई तो उनकी ज्वाला कम हुई और वह कुछ शान्त हुए। वैराग्यवान पुरुष के लिये प्रकृति-स्पर्श कितना ग्लानिकर होता है, यही बात उन्होंने आज तरुण साधक रामदास के हृदय में खचित कर दी।

एक दिन प्रभु ने एक अपूर्व कीर्तन-पद की रचना की। रामदास को यह आदेश मिला कि तत्काल ही बनमाली बाबू के कुंज में जाकर श्रीविनोदविग्रह के आगे यह गान सुनकर आना है। आदेश का तुरत पालन किया गया।

लौटते समय बनमाली बाबू की स्त्री ने प्रभु के लिए हाँड़ी में भरकर प्रसाद दिया। ड्योढ़ी से आकर एक परिचारिका ने वह हाँड़ी लाकर बड़ी श्रद्धा से रामदास के हाथ में अर्पित की। प्रसाद लेकर वह कुंज को लौट आये। किन्तु प्रभु ने प्रसाद ले आने का जो विवरण सुना तो क्रुद्ध होकर बोले "ऐसा क्यों हुआ" ? इस

प्रकार से भी तो तुम्हें प्रकृति नारी का स्पर्श लग गया। शपथ लो अब ऐसी घटना फिर होने न पाये।" प्रसाद की हाँड़ी को सादर सिर झुकाकर जगद्बन्धु ने यमुना में बहा दिया। नारी सम्पर्क से नवीन साधकों को बचाने के लिये प्रभु इस प्रकार सतर्कता और नेम निष्ठा का पालन करते।

श्रीवृन्दावन में रहते समय प्रभु जगद्बन्धु अपने महानाम कीर्तन के लिए प्रधान संवाहकों का संधान करते रहते। यह मृदंग बजाने में या नाम कीर्तन में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखा सकेगा, प्रभु इसे एक बार किसी को देखते ही ताड़ लेते थे। फिर तो वैष्णवीय आचार निष्ठा और साधन-भजन की शिक्षा देकर प्रभु इसे धीरे-धीरे अपना लिया करते। इनमें अन्यतम भाग्यवान् व्यक्ति श्रीनवद्वीप दास व्रजवासी आगे चलकर अद्वितीय मृदंगवादक हुए। गड़ाणहाटी संगीत पद्धति स्वायत्त कर इन्होंने अपनी प्रतिभा का चामत्कारिक परिचय दिया। कलकत्ता के भक्त वैष्णव-समाज में नवद्वीपदास व्रजवासी का कीर्तन अपूर्व रूप से सफल हुआ। यह प्रवीण भक्त बराबर प्रभु जगद्बन्धु की कृपा की बात पुलक-भरे शरीर से व्यक्त करते रहते।

जगद्बन्धु बंगाल लौटने वाले हैं। रामदास को वृन्दावन में रह-कर कुछ और साधन-भजन करने का आदेश उन्होंने दिया। रामदास प्रभु के पादपद्म में जीवन समर्पण कर चुके थे, छाया की तरह उनका अनुसरण करते अघाते नहीं थे, सेवा करने का लोभ नहीं छोड़ सकते थे। इसीसे वह वृन्दावन रहने के लिए बिलकुल राजी नहीं हैं।

प्रभु उनको समझाने लगे, "तुम यहीं ठहर जाओ जी, वृन्दावन में वास करना बड़े भाग्य की बात है। तुम्हारा कल्याण होगा।" अन्त में रामदास को जगद्बन्धु की बात मान लेनी पड़ी। अब वह

वृन्दावन में ही रहेंगे। प्रभु ने हँसते हुए फिर कहा, 'छि: चन्द्रमा में कलंक लगा।" अर्थात् यह कहकर रामदास को उन्होंने यह बतलाया कि जहाँ बिना कुछ सोचे विचारे प्रभु-वाक्य को मान लेना कर्त्तव्य था वहाँ उसके लिए अपनी जिद्द या अनुरोध की बात शोभन नहीं हुई। यही उसके चन्द्रोज्ज्वल चरित्र का कलंक था। ब्रजधाम से विदा होते समय रामदास को यह निर्देश प्रभु करते गये, "नित्य लक्ष संख्या में नाम जपना और मधुकरी भिक्षा करना। मेरे हाथ से लिखे अक्षर के सिवा और कुछ नहीं पढ़ना। दूसरे की चिट्ठी तक आवे तो उसे यमुना-जल में प्रवाहित कर देना।"

इसी बीच प्रभु ने लीला विलास के कुछ पदों की रचना कर श्री-वृन्दावन में रामदास को भेजी थी। ये पद केवल भाव-भाषा के लालित्य से ही समृद्ध नहीं हैं, इसमें जगद्बन्धु के जीवन दर्शन के संकेत भी निहित हैं। नीचे के उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा—

ए कि नव रङ्ग हेर सखीगण,
श्याम अङ्गे राइ रेखे छे चरण,
मरि किवा शोभा हयेछे एखन,
हेम-लता ये न तमाले वेड़िल।

धीरे कथा कओ सकल सजनी,
येन ना जागेन कमलिनी धनी,
जागिले चरण घुचावे अमनि,
चल जाई निशि अधिक हइल।

सब सहचरी करिल गमन,
निज - निज कुंजे करिल शयन,
निःशब्द निविड़ निकुंज कानन,
छारे जगद्बन्धु कोटाल रहिल।

रामदास के जीवन में यह अपूर्व पदावली जैसे अमृत की धारा

प्रवाहित कर गई। रागानुगा भक्ति के मार्ग में वह धीरे-धीरे अग्रसर होते जा रहे थे।

इसके बाद जगद्‌बन्धु ने रामदास को कलकत्ता बुला लिया। तरुण भक्त की हृदय-वेदी पर उस समय युगलकिशोर की प्रेम-लीला चल रही थी। कुंज भंग के गान वाले समय रामदास रोते-रोते विकल हो जाते और मंच छोड़कर चले जाते। जगद्‌बन्धु उसकी ऐसी अव-देखकर कहते "रामी तो पागल हो गया है।"

एक दिन कीर्तन करते समय तीव्र भावावेश में अधीर होकर रामदास गीत की पोथी को प्रभु के आसन पर फेंककर रोने लगे। कुछ क्षण बाद जब भक्त प्रवर कुछ शान्त भाव में आये तो प्रभु ने उसे सम्बोधन करते हुए मधुर स्वर से कहा, "रामी पोथी जो तुमने इस प्रकार उठाकर फेंकी वह लगी किसे? नाम रूप से नामधारी क्या स्वयं इसमें निवास नहीं करते हैं?" रामदास लज्जित हो गये, सिर झुकाकर चुप बैठे रहे।

भावावेश में उन्मत्त भक्तों से कोई असंयम तो नहीं होता, कथा अथवा आचरण में कोई उछृंखलता तो नहीं आती—इस विषय पर जगद्‌बन्धु की दृष्टि सदा सजग और सावधान रहती; कोई भी त्रुटि छिपी नहीं रह पाती। रामदास एक दिन समादर-पूर्वक ही प्रभु को 'गौर-गरबिनी' कहकर संबोधन कर उठे। सुनकर वह तत्काल चुप लगा गये। बाद में उनके एक साथी भक्त को बुलाकर दृढ़ स्वर में कहा, "देखो, रामदास को मना कर दो कि मुझे कभी प्रकृति नारी समझकर नहीं पुकारे। मैं ही एक मात्र पुरुष हूँ, यह तुम मन में समझ रखो। पुरुष को प्रकृति कहकर सम्बोधन करने से उसका अपमान होता है।"

रामदास ने एक बार स्थायी रूप से वृन्दावन में वास करने का

संकल्प किया, प्रभु ने उन्हें मना कर दिया और कहा, वृन्दावन, वृन्दावन क्या कहते हो ? किसी चीज को केवल स्वयं खाओ तो उसे स्वार्थपरक कहा जाता है, पाँच लोग मिलकर जो खाओ तो यह प्रकृत मनुष्य कहलाता है । वर्तमान युग में हरिनाम से ही जगत का उपकार होगा । प्रत्येक प्राणी के द्वार-द्वार घूमकर नियत रूप से निताई गौरांग महाप्रभु के नाम प्रचार का व्रत पालन ही तुम्हारा प्रकृत कर्तव्य है ।" प्रभु के निर्देश को पाकर बाद में रामदास ने नवद्वीप के बड़े बाबाजी श्रीमत् राधारमण चरण दासजी का आश्रय ग्रहण किया था । किन्तु जगद्बन्धु द्वारा निर्दिष्ट हरिनाम प्रचार के चारण-व्रत का उन्होंने कभी परित्याग नहीं किया ।

जय निताई प्रभु जगद्बन्धु के एक विशिष्ट भक्त थे । "निताई की क्या महिमा है, निताई की महिमा क्या है" कहकर वह एक बार भावाविष्ट हो गये । प्रभु तत्क्षण बोल उठे, निताई की महिमा का क्या कहना, महिमा के साथ तो ऐश्वर्य विभूति की कथा भी आ जाती है । यह कहो कि, निताई की कितनी माधुरी है ।" जय निताई की धारणा थी कि निताई-तत्व को उन्होंने यथेष्ट रूप से उपलब्ध कर लिया है, प्रभु के इस संशोधन-वाक्य से उनकी आँख खुल गई, अभिमान दूर हो गया । तत्व की प्रकृत उपलब्धि और वाक्य का संयम दोनों की ओर उन्होंने उसकी दृष्टि का आकर्षण किया ।

एक बार एक भक्त के मन में व्रजरस-साधना और राधा-कृष्ण-लीला तत्व के सम्बन्ध में सन्देह उपस्थित हुआ । गोपी भाव के लीला तत्व के सम्बन्ध में जिज्ञासु होकर उन्होंने जगद्बन्धु से कुछ प्रश्न किये । प्रभु ने साधारण-सी कुछ बातों में ही उसके हृदय का बहुत-कुछ संशय मिटा दिया । उसके बाद उससे कहने लगे, "अरे वह तो एक अलौकिक भाव माधुर्य है ! तुम अभी इस तत्व को इस तरह समझ नहीं पाओगे; समय आने पर समझ सकोगे ।

गोपीभाव का एक आभास नहीं पाने से ही विद्यापति का ब्रह्मरंध्र फट गया था। तब फिर वह तत्त्व तुम्हें कहा जाय तो तुम उसे धारण कैसे कर सकते हो, ब्रह्मरंध्र फट पड़ेगा। नाम लेता चल, समय आने पर सब समझ सकोगे।

एक और बड़ा भक्त था। वह एक दिन बीच-बीच में प्रेमावेश में उच्च कंठ से बोल उठता, "हरि हे! प्राणवल्लभ!" जगद्बन्धु ने उसकी भावतन्मयता को दो ही एक बार में भाँप लिया। उसके बाद तीखे स्वर में फटकारते हुए बोल उठे; "प्रेमी की कथा, प्राण-वल्लभ की कथा तो प्राणों की रहस्य कथा है। प्राणों के बीच उसे संजोकर रखनी पड़ती है। यह सब बात चिल्लाकर नहीं कही जाती।" भक्त सुनकर बड़े लज्जित हो उठे। प्रभु की सदा-सतर्क दृष्टि इसी प्रकार आश्रितों को वेष्टित किये रहती।

जगद्बन्धु कलकत्ते में रामबगान के डोम-टोली में एक दिन बैठे थे। नित्य की भाँति चप्पटि ठाकुर टहल लगाकर लौटे। आज वह बड़े उत्तेजित दिखाई पड़े। हरिनाम सुनकर लोग उपहास करते, इससे उनको बहुत चोट आई थी। आवेश में आकर उन्होंने जगद्बन्धु के आगे झोले, करताल आदि उठाकर फेंक दिया और कहा, 'लीजिए, अपना झोला और करताल। मुझसे आपका यह नाम-प्रचार कार्य नहीं चलेगा। सियार-कुत्ते की तरह सब लोग कामिनी-कंचन के चाट में लगे हैं। हरिनाम में लोगों की कोई श्रद्धा भक्ति नहीं रही। आप इतने बड़े प्रभु ठहरे, पर आपने आज तक किया क्या? कोई आपको पहचानता तक नहीं।"

जगद्बन्धु चुपचाप बैठे सब कुछ सुनते रहे। कुछ देर के बाद प्रशान्त आत्मविश्वास से भरे स्वर में कहने लगे, "हाँ रे अतुल, समय, समय, समय। देखते नहीं, यह जो दुर्दमनीय अँग्रेजी

शासन है वह भी दिन–दिन किस प्रकार विशीर्ण होता जा रहा है। एक पेड़ जब बढ़ता है तब तुम समझ सकते हो वह कितना बढ़ गया है? फिर दस-बीस दिन के बाद वह कितना और बढ़ गया है, क्या यह भी समझ में आता है? मेरा धर्म एवं कर्म, इच्छा और उद्देश्य फिर तुम कितना समझ सकते हो? पागलपन मत करो। शान्त भाव से हरिनाम कहते चलो। इस प्रलय काल में नाम कीर्त्तन ही सत्य है। इस युग में हरिनाम ही सृष्टि रक्षा के लिए उपाय कहा गया है। कोई हरि-नाम लेता है या नहीं लेता है, इससे तुम्हारा क्या आता जाता है। तुम बिना कुछ विचार किये हरि-नाम बोलते निकल चलो। सभी भीतर-भीतर हरिनाम के भिखारी बने बैठे हैं - देखोगे, शीघ्र ही स्थान विशेष में एक महाशक्ति का प्रकाश होगा।

चप्पटि के अन्तर का दुःख और उत्ताप इस समय तक कुछ कुछ शांत हो चला था। व्यग्र होकर उसने जिज्ञासा की, "प्रभो, तब कहिए, कहाँ पर यह विशेष प्रकाश होगा?" जगद्बन्धु ने गम्भीर स्वर में कहा, "तुम्हारे इस कलकत्ते में ही।"

शिशिर कुमार घोष बहुधा जगद्बन्धु के चरण-दर्शन के लिए आया करते। प्रभु उनसे कहते, "ओरे! प्रलय काल है, फिर भी नाम का अभाव—केवल हरिनाम रटो, हरिनाम रटो, रटते हुए टहल लगाना ही शेष धर्म है।"

कभी प्रेमावेश में मत्त होकर, कभी अर्ध बाह्य अवस्था में जगद्बन्धु पापमय कलियुग के महाविनाश, महाप्रलय का संकेत बता जाते। उनके विभिन्न उपदेशों, लेखों एवं भजन–संगीतों में इस आसन्न सृष्टिध्वंस की भविष्यद्वाणी रहती। महानाम प्रचार के माध्यम से विनाश के गर्भ से एक नवीन सृष्टि उद्भूत होगी। कलियुग के अवसान में सत्ययुग की अमृतमय जीवन ज्योति उद्भासित हो उठेगी, यह भी अनेक बार अनेक प्रकार से कह गये हैं।

स्वरचित संगीत पद में वह गा गये हैं—

हरिनाम लओ भाई,
आर अन्य गति नाई,
हेर प्रलय एल प्राय।

(मतलब यह कि यदि सृष्टि की रक्षा चाहते हो तो हरिनाम प्रचार करो।)

सृष्टि रक्षा का मंत्र तो महानाम के अन्दर निहित है एवं यह महानाम अनिवार्य रूप से अवतरण लेगा—यह संकेत प्रभु बराबर देते रहे।

मानव प्रेमी के रूप में मानव के उद्धार के लिए उन्होंने सखेद कहा था—"मैं घर-घर यह साधना लेकर घूमने निकला हूँ, किन्तु कोई हरिनाम लेता नहीं। देखना, एक दिन ऐसा आयेगा कि, धनी-गरीब, राजा-प्रजा, साधु-असाधु सभी आँसुओं की बाढ़ में एकाएक दह-भस जायँगे। तब फिर हरिनाम की नैया का सहारा सभी को लेना ही पड़ेगा।

आसन्न महाप्रलय, सत्ययुग का आविर्भाव प्रकृति शक्ति के साथ-साथ भगवत्-शक्ति के अवतरण के सम्बन्ध में जगद्बन्धु बहुत कुछ कह गये हैं। ये उक्तियां बिलकुल नवीन, मौलिक और विस्मयजनक हैं। उन्होंने कहा है—

"युगावतार के अतिरिक्त भी भगवान् अवतीर्ण होते हैं। युगावतारी भगवान् और साक्षात् भगवान् में कुछ भिन्नता रहती है। युगावतार में सम्पूर्ण शक्तियाँ विकसित नहीं होतीं। वही श्रीभगवान् युगावतार में जो शक्ति लेकर आते हैं, उसकी अपेक्षा अधिक शक्ति लेकर वह महाउद्धार का कार्य सम्पन्न करते हैं। युगावतार के भगवान् और स्वयं भगवान् वास्तव में हैं तो एक ही। केवल शक्ति

के प्रकटीकरण में तारतम्य रहता है। जब भगवान स्वयं आते हैं तो युगावतार भगवान उसमें विलीन हो जाते हैं। और स्वयं भगवान के धराधाम में अवतीर्ण होना ? इसमें केवल शास्त्र प्रमाण से क्या समझा जा सकता है ? स्वयं प्रभु की इच्छा ठहरी, जब उनके आने का प्रयोजन रहता है। वह चले आते हैं। लक्षण से पहचान में आते हैं। जब वह शक्ति प्रकाश करेंगे और जतायेंगे तभी जगत् उसे जान पायेगा।

महानाम के अवतरण की बात प्रभु कह गये। किन्तु इस समय भी वह निराश नहीं हुए। दिशा-दिशा में इसकी प्रस्तुति के साधन में उन्होंने अपने को लगा दिया। प्रेम धर्म और नामकीर्तन की अवरुद्ध धारा को उन्होंने पुनरुज्जीवित करने की एक बार फिर चेष्टा की। उनके दिव्य देह दर्शन, स्पर्शन और उनकी कीर्त्तन-लीला के अलौकिक प्रभाव से अगणित भक्तों के रूपांतर उपस्थित हो गया।

दल के दल भक्त और मुमुक्षगण उनके आश्रय में आये अवश्य, किन्तु जगद्बन्धु ने किसी को भी दीक्षा नहीं प्रदान की। व्यावहारिक भाव से शिष्य बनाना वह पसन्द नहीं करते। इस विषय में पूछे जाने पर गंभीर स्वर में उत्तर देते, "मानव गुरु कानों में मंत्र फूँकता है, जगद्गुरु प्राणों में मंत्र ढालता है।" आनुष्ठानिक मंत्र आदि नहीं देकर भी यह शक्तिधर प्रेमिक पुरुष अपने चरणतल में आश्रय ग्रहण करने वाले बहुत से भक्तों की अध्यात्म सत्ता में प्राण-प्रतिष्ठा कर गये।

एक बार वृन्दावन धाम को रवाना हुए। हावड़ा स्टेशन पर पहुँच कर भक्तवर चप्पटि ठाकुर को टिकट कटा लेने का आदेश दिया। चप्पटि ठाकुर बड़ी विपत्ति में पड़े। वह अकिंचन वैष्णव ठहरे, उनके पास रुपये-पैसे कहाँ ? इसके सिवाय समय भी अधिक नहीं रह गया

था। नितांत खिन्न होकर उन्होंने प्रश्न किया, "इतनी रात में रुपये हठात् कहाँ से पायेंगे ?"

जगद्बन्धु ने संक्षेप में उत्तर दिया, "व्रज का राह-खर्च गौरभक्त ही जुटा देगा।" प्रभु ने इसके बाद इस पर और कुछ प्रकाश नहीं डाला, चुपचाप स्टेशन पर अपनी इच्छा से बैठे रहे।

चप्पटि ठाकुर चिंता में थे, कहीं कूल-किनारा नजर नहीं आ रहा था। इस समय कौन कहाँ से रुपये ला देगा, कौन है वह गौरभक्त ? किसी का खास नाम ठिकाना बताकर समस्या का समाधान कर देंगे, वह भी सम्भव नहीं। चप्पटि ठाकुर स्टेशन से निकले। परिचित दो-एक भक्त मिले, उनसे भी काम नहीं चला। लौटते समय बीडन स्क्वायर के सामने जाकर वह ठिठक कर खड़े हो गये। सामने देखते हैं, एक तिलक-कंठीधारी युवक अपनी दूकान बन्द करने जा रहा है।

चप्पटि ठाकुर तेजी से दूकानदार के सामने जाकर खड़े हो पूछ बैठे, "क्या आप गौर-भक्त हैं ? कृपाकर बतलायेंगे।" अपरिचित के मुँह से यह कैसा अद्भुत प्रश्न ? दूकान का मालिक चकित होकर बोला, 'क्या आज्ञा है ? इस अधम को गौर-भक्ति की प्राप्ति तो नहीं हो सकी है फिर भी मुझे लोग गौर-भक्त के रूप में ही जानते हैं।" चप्पटि ने तब सारी बातें खुलकर बताई, 'प्रभु जगद्बन्धु वृन्दावन जाने के लिए स्टेशन में बैठे हैं। टिकट खरीदने के लिए पैसे नहीं। उन्होंने मुझे इतना ही बताया कि कोई गौर-भक्त प्रयोजन के अनुसार राह-खर्च देगा। गाड़ी छूटने में अब अधिक विलम्ब नहीं अभी पचास रुपये आठ आने पैसे चाहिए।" किन्तु इतने पैसे दूकान की तहबील में हैं या नहीं, इसके बारे में दूकानदार संदेह प्रकट कर रहा था।

चप्पटि बोले, "महाशय, यदि आप ही प्रभु के बताये हुए व्यक्ति

हैं तो आपकी दूकान में इतनी रकम जरूर होनी चाहिए। आप शीघ्र गिनकर तो देखें।"

गिनती करने के बाद देखा गया तो आज की रोकड़ में ठीक इतने पैसे बचे थे। दूकानदार विस्मय में आ गया। प्रभु को लक्ष्य करके प्रणाम किया और भक्तिभाव से तुरत उनके हाथ में रख दिया। चपटि ठाकुर तुरत एक ही साँस में दौड़े स्टेशन पहुँचे। राह खर्च देने-वाले इस व्यवसायी का नाम मुकुंद घोष था। यह भक्त वैष्णव कीर्तन करने और मृदंग बजाने में बड़ा पारंगत था। आगे चलकर प्रभु जगद्‌बन्धु के प्रमुख परिकर के रूप में नाम प्रचार कार्य में यह सहायक सिद्ध हुआ।

फरीदपुर के बूनो-बाग्दी और कलकत्ता रामबागान के डोम लोग के रूपांतर करने में जगद्‌बन्धु की करुणा का अपूर्व परिचय हमलोग पा चुके हैं। कलकत्ता के रामबागान की अनेक पतिता नारियों का उद्धार करने में उनकी पतितपावनता कुछ कम प्रकट नहीं हुई। इन लोगों के बीच सुरतकुमारी का नाम उल्लेख योग्य है। यह धनवती पतिता नारी अपनी एक मात्र कन्या की मृत्यु के कारण संसार से विरक्त हो गई थी और फिर तीर्थ-तीर्थ की परिक्रमा करती हुई मुक्ति की खोज में जहाँ-तहाँ भटक रही थी।

सुरतकुमारी जगदबन्धु के दर्शन तब तक नहीं कर पाई थी। केवल उनकी लीला-कथा सुनकर ही उनके चरण में मन ही मन अपने को सौंप चुकी थी। प्रभु, नारी रूपा माया की छाँह के स्पर्श से दूर-दूर रहते, फिर भी करुणा से आर्द्र होकर इस पतिता नारी के घर एक क्षण के लिए गये और उसके मस्तक को अपने चरण का स्पर्श दिया। जगद्‌बन्धु की करुणाघन मूर्ति सुरतकुमारी के अन्तर में चिरकाल के लिए दीप्तमान हो उठी। प्रभु ने इस पतिता के उद्धार साधन के बाद उसे सुरमाता कहकर उसका नाम संस्कार किया। रूपांतर

प्राप्त करने वाली इस शरणाश्रिता भक्त नारी को उसके बाद फिर दर्शन नहीं दिये ।

सुरतकुमारी के पास जगद्बन्धु ने जो पत्र लिखा था, उससे उनके उपदिष्ट साधन तत्व का परिचय मिलता है । उन्होंने इसमें लिखा था —

श्रीसूर, तुम्हारी करुणा भरी पत्रिका बाँचने को मिली । मेरा साक्षात् मिलना वृषभानुनंदिनी ने वर्जित कर रखा है । भेंट नहीं हो सकेगी । त्रिकाल स्नान करना । नित्य लाख संख्या में नामजप करना । श्रीमद्भागवत का पाठ करना । प्रेमभक्तिचन्द्रिका कंठाग्र कर लेना । निद्रा और आलस्य का त्याग करना । मन में गौरचन्द्र का जप करना । स्वरूप दामोदर में आत्म-समर्पण करना । गौर-गदाधर का ध्यान रखना । मिलन आदि के स्मरण में आविष्ट होना ।
—बन्धु

इसके कुछ ही दिनों के बाद एक विचित्र कांड उपस्थित हुआ । स्वेच्छामय जगद्बन्धु घूमते-फिरते एक दिन हुगली जा पहुँचे । वह सदा अपने सारे शरीर को कपड़े से ढँककर चलते थे । उनको देखकर पुलिस को संदेह हुआ कि कोई छिपा हुआ आसामी भागा जा रहा है । गिरफ्तार करने के बाद पूरी छानबीन करने की अपेक्षा से उन्हें हिरासत में ले लिया ।

किन्तु यहीं गोलमाल मच गया । हिरासत में जाने पर जगद्बन्धु को कोई खास आपत्ति नहीं थी । पर वह किसी प्रकार थाना या किसी के घर पर रहने को प्रस्तुत नहीं हुए । हाँ, किसी गोशाला में रात्रिवास करने में उन्हें अवश्य कोई आपत्ति नहीं थी ।

शहर के एक भाग में हुगली के नाजिर की एक ईंटों की बनी गोशाला थी । अनेक तर्क-वितर्क के बाद बन्दी को रात के समय

वहीं रखकर ऊपर से ताला भर दिया गया। इस बीच पकड़ लिये जाने के वाद ही जगद्बन्धु ने एक व्यक्ति के द्वारा सुरमाता के पास टेलिग्राम भिजवा दिया। अस्तु, दूसरे दिन ताला खोलने पर देखा गया कि वन्दी उस घर से कहीं अन्तर्हित हो गया है। दरवाजे की कुंजी और ताले सभी ठीक से थे, फिर भी वह कैसे अदृश्य हो गये? इस रहस्यमय व्यक्ति की कहानी को लेकर उस दिन शहर कौतूहल-भरी चर्चा चलती रही। नाजिर की गोशाला से पकड़ा गया व्यक्ति निकल भागा है, इसकी विभीषिका उसे भी कम नहीं थी। अन्त में कहीं नौकरी पर भी कुछ पड़ न जाय, यह कौन वतलाये।

दूसरे दिन सुरमाता और अन्य अनेक भक्त भी हुगली पहुँचे। उनलोगों ने प्रभु के प्रकृत परिचय के सम्वन्ध में बहुत कुछ बातें बताई। नाजिर को समझाया कि वह एक शक्तिशाली महापुरुष हैं। अपनी इच्छा से जहाँ-तहाँ विचरण किया करते हैं। इनके निकल जाने से से नाजिर को कोई क्षति नहीं पहुँचेगी। घटना को किसी तरह दवा दिया गया। बाद में जव कभी हुगली की इस घटना की चर्चा होती तो जगद्वन्धु भक्तों से कह उठते, अरे। मेरा यह शरीर अप्राकृत है, यह स्थान-काल के अधीन नहीं है।

इस वीच में फरीदपुर के विभिन्न स्थानों में कीर्तन एवं नाम प्रचार के अनेक केन्द्र स्थापित हुए। प्रभु इस समय तक भक्तों के अत्यन्त आग्रह-वश विभिन्न अंचलों में भ्रमण करने निकलते। अब उन्होंने फरीदपुर में स्थायी रूप से अपने आश्रम वास करने की सूचना दी।

यह घटना वड़ी विचित्र है। जगद्वन्धु भक्त-दल के साथ भ्रमण के लिए बाहर निकले थे। फरीदपुर शहर के समीप ही एक जंगल-भरे स्थान में आकर वह रुक खड़े हुए। एक निर्दिष्ट स्थान में

पैर रखकर प्रभु बोले, इसी स्थान में 'श्री अंगन' प्रतिष्ठित होगा। जमीन के मालिक रामसुन्दर मोदी को बुलाया गया। उन्होंने उससे कहा, "मैं इस स्थान में 'श्री अंगन' की स्थापना करूँगा। यह भूमि तुम मुझे दो।" प्रभु के चरण में सिर टेक कर रामसुन्दर ने इस प्रस्ताव को सानन्द स्वीकार किया।

प्रभु जगद्बन्धु के दर्शन की आशा से हजारों की संख्या में भक्त-गण जुटने लगे। उनका श्री अंगन धीरे-धीरे अध्यात्म शक्ति के उत्स-रूप में उद्भासित हो उठा। दल बाँध कर छात्रगण इस समय प्रभु के सान्निध्य-लाभ की आशा में जमा होते। उनका दिव्य लावण्य-मंडित रूप, अपूर्व अमृतमय स्वर और अंग की अपार्थिव सुगंधि इन तरुणों के मन-प्राण में एक अज्ञात आकर्षण की सृष्टि करते। वे सब प्रभु जगद्बंधु के महाजीवन के सामीप्य से अध्यात्म-जीवनामृत का आस्वाद ग्रहण करने की शिक्षा प्राप्त करते।

ये सब बाल भक्त जगद्बन्धु को एक विराट् महापुरुष जानकर केवल दूर से ही श्रद्धाभक्ति करते, ऐसी बात नहीं। प्रभु को वे लोग 'बन्धु' कहकर पुकारते तो कभी 'हरि बोल' का ही संबोधन करते। तरुण जीवन की जो सब नाना प्रकार की जटिल समस्याएँ रहतीं, निष्कपट भाव से इस बन्धु के आगे खोलकर रख देने में उन्हें कभी कोई हिचक नहीं होती। इन तरुण बंधुओं के कल्याण के लिए जगद्बन्धु अत्यन्त ही व्याकुल रहा करते। इन लोगों को पास बुलाकर, बड़ी आत्मीयता के साथ मार्ग-निदर्शन किया करते। कभी तो अनुनय के साथ उनसे कहते, श्रद्धा से हो, खेल से हो, जिस प्रकार बने नाम लिया करो। हरिनाम की शक्ति से असाध्य साधन होता है। तुम जान लो यह घोर कलिकाल है। इस युग में हरिनाम कीर्तन को छोड़कर सृष्टि-रक्षा का और कोई उपाय नहीं। अब देखोगे मनुष्य तो मनुष्य, राह के ईंट-पत्थर भी हरिनाम धुन से मस्त हो रहेंगे। हरिनाम के प्रेम में सरावोर हो जायँगे।

ढाका शहर में प्रभु जगद्बन्धु दो बार पधारे। इस समय गाँव-गाँव में राधाकृष्ण की युगल-मूर्त्ति की सेवा जारी थी, और भक्त वैष्णवों की नई-नई

शाखाओं के भजन-कीर्तन से नगर सर्वथा मुखरित रहते थे। ढाका की गौरव संवर्धना करते हुए प्रभु इसे हरिनाम की 'कैपिटल' अर्थात् राजधानी कहा करते इस नगरी में भी उनकी अनेक अलौकिक लीलाएँ अनुष्ठित हुईं।

डाक्टर उषारंजन मजुमदार ब्रह्म-समाजी थे। यह मिटफोर्ड अस्पताल के प्रमुख डाक्टरों में थे। प्रभु के वैष्णवीय आचार-विचार के सम्बन्ध में अनेक आक्षेप और निंदा-कुत्सा करना उनकी आदत बन गई थी। प्रभु उस समय राम साहा के नव निर्मित मन्दिर में वास करते थे। एक दिन देखा गया प्रभु नंगे वदन बैठे हैं, कोई भयंकर पीड़ा जैसी मालूम हो रही थी। भक्त सुधनु बाबू को व्याकुल स्वर से कहा, अरे! शीघ्र किसी अच्छे डाक्टर को बुला दे।

सुधनु बाबू दौड़े गये अपने अध्यापक डा० उषारंजन को बुलाकर ले आये। डाक्टर ने आकर देखा, रोगी एकबारगी उलंग होकर बैठा है। जांच करने पर उनके विस्मय का कोई ठिकाना न था, उन्होंने सुधनु बाबू को पुकार कर कहा, "तुमने मुझे किसको देखने के लिए बुलाया। अरे, इसके तो हृदय की धड़कन और नाड़ी का कहीं कुछ पता नहीं चलता। और देख रहा हूँ, बातें तो स्वस्थ मनुष्य जैसा कर रहा है।

जगद्बन्धु उस समय व्याधिग्रस्त के समान असहाय भाव से डाक्टर को कह रहे थे, "शीघ्र मुझे औषधि देकर ठीक कर दीजिए, मेरे शरीर में छत्तीस कोटि की व्याधियाँ हो गई हैं।" भक्त सुधनु के इशारे पर डाक्टर ने जल्दी एक पौष्टिक औषधि का व्यवस्था पत्र लिख दिया और हाँफते बाहर आये। डाक्टर की वैज्ञानिक वुद्धि को एक बड़ा धक्का लगा। समझ में आ गया कि इस दृश्यमान जीवन परिधि के बाहर भी एक लोकोत्तर क्षेत्र की सत्ता है, और प्रभु जैसे महापुरुष लोगों की ही इस क्षेत्र में गतिविधि है। डाक्टर उषारंजन क्रमशः प्रभु के प्रमुख भक्तों में परिगणित हुए। चिह्नांकित शिष्यों को आत्मसात् करने के उद्देश्य से ही प्रभु की यह लीला थी।

नाम कीर्तन और कृष्णकथा के अलावे प्रायः और सब समय जगद्बन्धु घर

के भीतर एकान्त आत्मभावना में रहा करते। एक बार एक बालक भक्त उनके दर्शन के लिए आया। पर अपनी आशा पूरी न होते देख वह अत्यन्त खिन्न होकर बोल उठा, "बन्धु, तुम इस तरह घर में बन्द न रहकर एक बार बाहर तो निकलो। तुमको देखकर सभी को आनन्द जो मिलेगा।" जगद्-बन्धु ने घर के भीतर से ही उत्तर दिया, "अरे! मैं किसके निकट बाहर निकलूँगा। मेरी चाहना किसको है? कोई भी मेरे लिए कष्ट स्वीकार कर हरिनाम रटना नहीं चाहता।" और कभी-कभी तरुण भक्तों को सुना-सुनाकर भविष्य में आने वाले दिनों का आभास देते हुए कहा करते, "समय आने पर ऐसे-ऐसे लोग भी निकलेंगे जिन्हें देखकर तुम अवाक् रह जाओगे। उनलोगों का हरिनाम की शक्ति में अटल विश्वास रहेगा। वे सब भुवन-मंगल हरिनाम के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर देंगे, दिन-रात हरिनाम में मस्त रहेंगे। और तुम लोग टुकुड़-टुकुड़ उनके मुँह जोहते रहोगे। तुम और उनमें भेद इतना ही रहेगा, तुम रहोगे, समुद्र के इस पार और वे होंगे उसके उस पार।"

रास पूर्णिमा, दोल, झूलन और रथ यात्रा—एक-एक पर्व जब उपस्थित होता तो अपने पारिषदों के साथ प्रभु श्री अंगन में नाम कीर्तन की रसधार प्रवाहित कर देते। रथ-उत्सव जब आता तो अपने को जैसे उसमें खो देते। रथ-यात्रा के दिन दल के दल कीर्तनिया लोग गाते-बजाते नाम धुन की रट लगाते थे और भक्त-गण प्रभु के बनाये पद का गान करते प्रस्थित होते—

नवघन श्याम
सुचिभंग बाँका ठाम;
नव नटवर रूप
जिनि कोटि काम;
चारु चाँवर चिकुरे चूड़ा
अधरे वेणु रसाले

श्याम कीर्तन ध्वनि के साथ-साथ प्रभु कीर्तन-मंडलियों में घूमते

निकलते, अलौकिक प्रेमरस की धारा चारो ओर उत्ताल तरंगों में प्रवाहित होती रहती। श्री वृन्दावन और नवद्वीप में अनेक बार ना-जाकर प्रभु जगद्‌बन्धु रथयात्रा के आनन्द का उत्स प्रवाहित कर आये थे। किन्तु यह विस्मय की बात थी कि खास पुरीधाम में एक बार भी प्रभु इस उत्सव में नहीं सम्मिलित हुए। उनके एक अतरंग भक्त ने किसी प्रसंग में जब एक बार यह सवाल उठाया तो प्रभु बोले, "अरे वह तो महाधाम है। वहाँ जाने पर क्या यह कलेवर शेष रह जायगा ? वहाँ जाने पर तो यह शरीर गलकर पानी-पानी होकर बह जायगा।"

जगद्‌बन्धु की अध्यात्म-सभा में इस वार महाभाव के समग्र लक्षण स्फुरित होने लगे। धीरे-धीरे वह अतीन्द्रिय लोक के गम्भीर स्वर में निमज्जित होने लगे। इस बार महापुरुष के लीलामय जीवन में मौन अध्याय का आरम्भ हुआ। १३०९ साल से इसकी कुछ सूचना मिलने लगी थी। इस समय उन्होंने कहा था—"तुम लोग शीघ्र ही अब मेरी वाणी नहीं पा सकोगे। इस बार मैंने बंधन-गाँठ खोल दी है। इसकी डोर अब मेरी मुट्ठी में है। जब डोरी खींचूँगा तब प्रत्येक को मेरे निकट आने के लिए विवश होना पड़ेगा। मैं क्रमिक रूप से गत तीस साल तक घर-घर इतना रोता-फिरा, किन्तु किसी ने मेरी कथा सुनी नहीं, हरिनाम की रट लगाई नहीं। तुमलोगों ने मेरी कोई बात कहाँ रखी। देखोगे, समय पर ऐसा दिन भी आयेगा कि पृथ्वी के लोग अश्रु-स्नान करने को बाध्य बनेंगे।"

मौनी होने के कुछ पहले से ही जगद्‌बन्धु का बाल स्वभाव जैसे अधिक उमड़-उमड़ आया हो। एकांत में घर के भीतर कभी एक मृदंग लेकर बजाने लगते और बालक भक्तगण हरिनाम कीर्तन करते हुए दिशाओं को गुंजाते, घर-आँगन में नाच उठते। हरिनाम की लूट का यह दृश्य अपूर्व होता। विशेषत: आँगन में बालकों की जुटान होती तो इनके आनन्द में जैसे बाढ़ आ जाती। उनलोगों के संगीत नृत्य चलते होते और इधर घर के भीतर बैठे सरल शिशु की हंसी हंसते, इच्छा होती मृदंग बजाते, कभी करताल बजाते और कभी तालियां देते रहते।

आँगन में खड़े-खड़े नाम गान करते करते भक्त बालक-गण कभी देहाती बोली में कह देते—"परभू, ओ परभू एखना लूट दो ना।" जगद्बन्धु पहले बत्तासे की हंडी खाली कर देते, उसके बाद घर मे और भी जो कुछ चीजें होती कीर्त्तन की पोथी मृदग, करताल सब बालकों में बाँट देते। कभी तो यह भी देखा गया कि इस लूट दान के नशे मतवाले उतावले अपने शरीर के भी सारे कपड़े उतार कर बाहर फेंककर लुटा देते। उसके बाद किसी भक्त को कागज का पुर्जा भेजते, 'कपड़े नहीं रहे, एक टुकड़ा कपड़ा भेज देना।'

प्रभु अब मानो पंचवर्षीय बालक हो गये थे। अन्तर व्रजरस की पूर्णता पाकर धीरे-धीरे जैसे बाहर का कपाट उन्होंने बंद कर दिया हो। अन्तरंग भक्तों को करुण कंठ से पुकार कर कहते "तुम मेरी बात रखो, हरिनाम लो। मैं उसे ही सुनता-सुनता समस्त धरती की धूलि में और अखण्ड आकाश में समा जाऊँगा। मेरी शपथ-सौगन्ध है, तुम सभी हरि नाम लिया करो। हरिनाम का मंगल हो, तुमलोगों का मंगल हो, यह होने पर ही मेरा उद्देश्य और मेरी भवधाम की लीला शेष होगी। तुम लोग हरिनाम लेकर मुझे अपने में मिला लो। मैं हरिनाम का हूँ, इसके सिवा किसी का नहीं। तुम मनुष्य नहीं रहो, हरिनाम नहीं कहो तो मैं अब घर से निकलने का नहीं। घर में ही रहकर फिर पत्थर बन जाऊँगा।"

प्रभु एक-एक समय बोल उठते, 'अरे, मैं तो झाड़दार ठहरा। कलियुग के झाड़ झंखाड़ और मैले को झाड़ने-बुहारने के लिए ही मेरा आना हुआ।" और कभी उन्हें यह कहते सुना जाता, "इस समय मेरी देह में अनेक दिव्य-लक्षण प्रगट हो रहे हैं। और मैं बाहर नहीं रह पाता। घर में रहकर ही रोग-व्याधि के द्वारा जब इनका लोप कर-दूँगा तभी तुम्हारे बीच बाहर निकलूँगा।" सत्रह साल तक के लिए जगद्बन्धु ने अपना एकान्त वास ग्रहण किया।

आसन्न अंतर्मुखीन अवस्था के वर्णन के प्रसंग जगद्बन्धु ने अपने अनेक बाल-भक्तों से कहा था, 'देखो, ऐसा समय आनेवाला है जब जड़-जैसा बन जाऊँगा। कोई ज्ञान नहीं रहेगा, पाँच वर्ष के बालक के समान हो

जाऊँगा ।" और असहाय शिशु के भाव से भावित होकर बालक बन्धुओं से प्रभु अपनी विनती सुनाते "उस समय तो तुम्हीं लोग मेरी देख-रेख करोगे। देखना दुष्ट लोग मुझे दिक न करने पाएँ।"

७। १३०९ साल से प्रभु ने मौन भाव से एकांत वास करना शुरू किया। आँगन के एक भाग में उनकी एकांत काल-कोठरी थी। प्रकाश या हवा प्रवेश कर सके ऐसी कुछ खिड़कियाँ या जंगले उसमें नहीं थे। चारों ओर से पूरा परदा था और घनी खूटियों के घेरे थे। भीतर बराबर अन्धकार छाया रहता। निर्दिष्ट सेवक जब उनके भोजन की सामग्री वहाँ पहुँचाने जाता तो दिया जला जाता। जगद्बन्धु झट से उसे बुता देते और भावतन्मय होकर फिर बैठ जाते।

प्रभु अपने भक्तलोगों से जैसा कह गये थे, उसी प्रकार क्रमशः बालकवत् और फिर जड़वत् होते जाते थे। अपनी इच्छा से स्नान भोजन तक नहीं करते। और यदि कोई सेवक भक्त जोर देकर यह सब करा देता तो फिर कुछ आपत्ति भी नहीं करते। एक निःस्पृह और व्यक्तित्व-शून्य उनकी अवस्था हो रही थी।

८ बारह वर्ष के बाद १३२० साल में जगद्बन्धु एकांत कोठरी छोड़कर बीच में कभी-कभी बाहरी आँगन में पदार्पण करते। /उस समय दूर-दूर से आकर उनके दर्शन के लिए लोगो की भीड़ प्रतिदिन उमड़ पड़ती। आनन्दमय, कनककांति एवं दीर्घायत पुरुष बालक के समान निर्विकार भाव से नंगे बैठे रहते। अंग की कांति और सुगन्धि घर-आंगन में फैल जाती। अगणित व्यक्ति केवल एक बार नयनों से उन्हें निहार विह्वल हो उठते। इस्लाम धर्म माननेवाले लोग भी उनके दर्शन के लिए आते। उन्हें यदि पूछा जाता कि आप लोग इनके दर्शन के लिए कैसे आते हैं तो वे सहज भाव से यही उत्तर देते कि यह तो हिन्दुओं के देव-मंदिर में आना नहीं हुआ। इनका नाम जगद्बन्धु ठहरा। हमलोगों के भी तो बंधु ठहरे। हमलोग जगत् के बन्धु को जो देखने आते है। १३२७ साल के वैसाख में प्रभु फिर अपनी काल-कोठरी में गुप्त वास करने बैठे।

पहले तो चप्पटि ठाकुर और उनकी सहधर्मिणी ने उनकी सेवा का भार ग्रहण किया। इसके बाद भक्त प्रवर को उनकी सेवा का अवसर मिला। इस भक्त साधक को श्री वृन्दावन धाम में प्रभु जगद्‌बन्धु का अपार्थिव दर्शन तो मिल चुका था, किन्तु पार्थिव स्थूल देह को देखने का तब मौका नहीं मिला था। वृन्दावन से जब वह फरीदपुर पहुँचे तब जगद्‌बन्धु की मौनावस्था और एकांत वास के नवें वर्ष की पूर्ति हो चुकी थी। उसी समय से वह उनकी सेवा में आ जुटे। प्रभु के अध्यात्म जीवन की ईश्वर-निर्दिष्ट भूमिका के सम्बन्ध में महेन्द्र जी का अगाध विश्वास था। उन्हीं के उद्योग से संगठित महानाम कीर्तन सम्प्रदाय बहुत दिनों तक प्रभु जगद्‌बन्धु के आदर्श का प्रचार करता हुआ चलता था।

प्रभु की सेवा की बात लेकर एक दिन महेन्द्र जी का मन व्यग्र हो उठा था। इस बात की बड़ी अफसोस थी कि मेरे दस हाथ नहीं हुए, नहीं तो अकेले ही उनकी सेवा में समर्थ रहता। किन्तु इसमें भी जो सूक्ष्म अहंबोध जड़ित हो रहा था, वह भी प्रभु जगद्‌बन्धु की दृष्टि से ओझल नहीं रहने पाया। इसके बाद जब महेन्द्र जी प्रभु की कोठरी के निकट पहुँचे तो हाय-हाय कह कर चिल्ला उठे। उन्होंने देखा, प्रभु जैसे उनके सामने एक दिव्य रूप में खड़े हैं। और कह रहे हैं, "मूर्ख, उन सभी लोगों के हाथों को अपना ही हाथ तो मान सकते थे! वे सेवा करते हैं तो मैं ही सेवा करता हूँ इतनी बात तो समझ में आनी चाहिए थी?" प्रभु की बात से महेन्द्र जी के ज्ञान-नेत्र खुल गये। इसके बाद से वह दूसरे भक्तों को भी सेवा का अवसर प्रदान करने में सर्वदा उन्मुख देखे गये।

१३२८ साल का पहला आश्विन। प्रभु जगद्‌बन्धु उस दिन अमृतमय नित्य लीला में प्रविष्ट हुए। अगणित भक्तों की क्रंदन ध्वनि से श्री अंगन का आकाश-वातास आकुल-व्याकुल हो उठा।

नित्य-अनित्य के तत्व और ब्रजरस-साधना की व्याख्या के प्रसंग में जगद्‌-बन्धु का कहना था, "जान रखना, ब्रज के ग्वाल-बाल, ब्रज की सखियाँ अर्थात् ब्रज में जो कुछ संभूत हैं उनके अतिरिक्त जो भी है वे सब अनित्य हैं।

प्रलय काल में सभी लय हो जायेंगे। देवता भी नित्य नहीं हैं। उन सब को भी और वस्तुओं के समान में विलीन होना पड़ेगा। अतएव व्रज संपर्की जो जो नित्य वस्तु हैं उन्हीं में स्नेह, ममता आसक्ति, आशा, भरोसा सब निर्भर रखने होंगे।" यही थी प्रभु जगद्बन्धु की परम और चरम कथा। उनकी अध्यात्म साधना के बीच इसी रहस्योक्ति की अभिव्यक्ति होती।

प्राणियों के मंगल और मुक्ति की कामना प्रभु के समग्र जीवन में हम ओतप्रोत पाते हैं। मानव-जाति के निकट उनकी वाणी परम आश्वासन की वार्ता वहन करती हुई उपस्थित होती। वह कह गये हैं,—व्रज-लीला में अष्ट सखी और गौरांग-लीला में साढ़े तीन व्यक्ति मात्र रस-माधुर्य का आस्वादन कर पाये हैं। इससे समग्र प्राणियों के लिए कुछ विशेष बात नहीं हो पाई। इस बार समय आने पर अणु-परमाणुओं तक को स्वरूप रस का आस्वादन करा सका, तभी मेरा नाम जगद्बन्धु सार्थक हो सकेगा।

मानवात्मा की मुक्ति के लिए जगद्बन्धु रो-रोकर श्री अंगन की मृत्तिका को अश्रु-सिक्त कर गये हैं। कह गये हैं, "तारक मंत्र हरिनाम ही महा उद्धारक मंत्र है। यह गुप्त नहीं, सर्वदा सबके लिए प्रकाश्य है। तुमलोग देश-देश में दिशा-दिशा में हरिनाम का प्रचार करो। हरिनाम से ही सृष्टि की रक्षा होगी। तुम्हारे बन्धु की यही भिक्षा है। निष्ठा और भक्ति सर्वत्र छा दो। मुझे मुक्ति दो।" जगद्बन्धु का अध्यात्म-जीवन इस भुवन-मंगल महानाम की ही एक अवतरणिका है।

मुद्रक—श्री भगवती प्रेस, मुजफ्फरपुर